प्रकाशक
कृष्णगोपाल साहनी
५७, एस्प्लनेड रोड, नई दिल्ली

मूल्य : पांच रुपया

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस, नई दिल्ली

निवेदन :

'समीक्षा की समीक्षा' आलोचना के प्रमुख ग्रन्थों [illegible] है। हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचकों पर भी श्री प्रभाकर माचवे ने विचार प्रकट किये हैं। श्री माचवे द्वारा लिखी हुई 'व्यक्ति और वाङ्मय' का पाठकों ने स्वागत किया है। आशा है कि 'समीक्षा की समीक्षा' पाठकों की दृष्टि में उपयोगी समझी जाएगी।

—प्रकाशक

दार्शनिक सिद्धान्तों और अंगरेज़ी दार्शनिक शब्दावली में हम अद्वैतियों, भेदाभेदियों और विशिष्टाद्वैतियों को क्रमशः एकास्मिस्ट्स (विवर्तवादी), पैनैन्थीस्ट्स (सर्वात्मविकासवादी) और एक्स्टर्नल लार्ड थियरिस्ट्स (बाह्य विभुवादी) कह सकते हैं।"

और पृष्ठ १६४ पर निरंजन के सम्बन्ध में वे कहते हैं—"निरंजन को काल-पुरुष कहना पहलेपहल गीता के अनुकूल जान पड़ेगा। कृष्ण अपने आपको 'कालोऽस्मि' कहते हैं। परन्तु उनका अपने आपको 'काल' कहने का अभिप्राय निरतिशय परब्रह्म पद से नीचे गिराना नहीं है। क्योंकि जहाँ उन्होंने अपने आपको 'काल' कहा है, वहीं क्षर और अक्षर दोनों से परे भी बतलाया है। कृष्ण, काल और अक्षरातीत दोनों एक साथ हैं।"

उनकी आलोचना का दूसरा गुण यह है कि वह वैज्ञानिक संपूर्णता (थौरोनेस) को अपनाते हैं। किसी भी चीज़ को लिखते समय उसकी सम्भव सब मूल प्रतियों का पूरा आलोडन करते थे। उदाहरणार्थ, 'गोरखबानी' ग्रन्थ की भूमिका ही ले लीजिये। जो हस्तलिखित दस प्रतियाँ मिलीं और उनके आधार पर जो छोटी-मोटी चालीस कृतियाँ उन्हें मिलीं, उनकी पूरी प्रामाणिकता की जाँच उन्होंने की। इस भूमिका में पृष्ठ १६ पर वे लिखते हैं—"इस ग्रन्थ के संपादन का कार्य मैंने बहुत पहले आरम्भ कर लिया था। कुछ प्रतियों का पता मुझे बहुत पीछे लगा। उदाहरणतः (च) और (छ) प्रतियों का पता तब लगा जब समस्त ग्रन्थ का सम्पादन हो चुका था। उनके पाठ का मिलान करने मे भी पता चला कि उनमें पाठ ऐसे नहीं हैं जो इन प्रतियों में मे किसी में न आये हों। उदाहरण के लिए इस भाग के परिशिष्ट में आरम्भ की १६ शबदियों के पाठांतर दे दिये गये हैं, जिससे यह बात पुष्ट होती है।"

डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के हिन्दी-प्रेम के उदाहरण के रूप

कबीरदास के सन्देश को समझने के लिए यह ठीक-ठीक जानना आवश्यक है कि तर्क और विश्वास किन अंशों में परस्परविरोधी हैं और कोई ऐसा स्थान है या नहीं जहाँ दोनों मिल सकते हों।

एक पश्चिमी पण्डित ने संसार के तत्त्ववाद का इतिहास लिखा है। भूमिका में उन्होंने बताया है कि पुस्तक में भारतीय दर्शनों की चर्चा उन्होंने एकदम छोड़ दी है क्योंकि जिस चीज़ को पश्चिम में 'फ़िलासफी' (ज्ञानानुसन्धान) कहते हैं उसका भारतवर्ष में विकास हुआ ही नहीं ! फिलासफी का मूलमन्त्र सन्देह है और धर्म-विज्ञान (थियालाजी) का केन्द्रीय सत्य 'विश्वास' है । भारतीय दर्शनों ने कभी भी धर्मविज्ञान को छोड़ा नहीं। पश्चिमी पण्डित के इस तर्क में विचारणीय बातें हैं। यह सत्य है कि भारतवर्ष के दर्शनों का मूल प्रतिपाद्य धर्म ही है परन्तु यह धर्म वह वस्तु नहीं है जिसे पश्चिम में थियालाजी कहते हैं। दर्शन शब्द का अर्थ ही देखना है । इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' कुछ हिन्दू महात्माओं के देखे हुए ('साक्षात्कृत') सत्यों का प्रतिपादन करते हैं । इसलिए भारतवर्ष में जिस वस्तु को दर्शन कहते हैं उसका केन्द्रबिन्दु 'सन्देह' नहीं है बल्कि योग द्वारा समाहित चित का अनुभूत ('दृष्टि') सत्य है। इस सत्य के आलोक में 'द्रष्टा' जगत् के और आत्मा के मूल स्वरूप की विवेचना करता है और दुःख से आत्यन्तिक निवृत्ति का मार्ग खोजता है। धर्मविज्ञान आप्तवाक्यों, प्रचलित परम्पराओं और रूढ़ विचारों से व्याप्त विश्वास का तर्क से समर्थन करता है। वह धर्म का तत्ववाद है। 'दर्शन' वस्तुतः दार्शनिक 'धर्म' का प्रतिपादन करते हैं। फिलासफी ग्रीक भाषा का शब्द है। उसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ज्ञान के प्रति प्रेम है। पश्चिम के तत्त्ववाद ने ज्ञान के प्रति प्रेम का जैसा परिचय दिया है वैसा, जानकार लोगों का कहना है कि ज्ञेय के प्रति प्रेम का नहीं दिया।

मनुष्य एकदम विचारशून्य होकर कभी नहीं रहता। वह कभी

भूमिका

'चिंतामणि', 'साहित्यालोचन', 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त', 'सिद्धान्त और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', 'साहित्य दर्शन' आदि ग्रंथ हिन्दी के एम. ए. के पाठ्यग्रंथ हैं। और हिन्दी के विद्यार्थियों को समीक्षा के सिद्धान्तों की बारीकियों, मत-मतांतरों के विवादों को समझने में कठिनाई जान पड़ती है। इस दृष्टि से विद्यार्थियों और साहित्य के अध्येताओं की सुविधा के लिए सन् ४८ में ही मैंने बहुत से लेख इस सम्बन्ध में लिखे थे। सन् १९३८ में अमलनेर के 'फिलासाफिकल रिसर्च इंस्टिट्यूट' में मैंने 'सौन्दर्य शास्त्र' में अनुसन्धान के लिए कुछ मास बिताये थे, और अनेक नोट्स भी लिए थे—जो समय-समय पर कला सम्बन्धी मेरे लेखों में प्रयुक्त हुए—उनका भी इन लेखों में उपयोग किया गया था। 'कला-समीक्षा की कुछ समस्याएं' (प्रकाशन : आधुनिक हिन्दी साहित्य भाग २) तथा 'मार्क्सवाद और सौन्दर्य शास्त्र' (प्रकाशन : सम्मेलन निबंधावली, सिद्धान्त और समीक्षा) उन निबंधों में से प्रधान हैं। इन सब निबंधों को पुनर्ग्रथित करने में श्री इंद्रनारायण गुर्टू की प्रेरणा बहुत प्रधान रही है।

समीक्षा शास्त्र पर मैंने हिन्दी के अतिरिक्त संस्कृत, अंगरेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी, बंगला, मराठी, गुजराती और उर्दू ग्रंथों से भी बहुत कुछ पढ़ा है। अपने १५-२० वर्षों के साहित्यिक जीवन में सैंकड़ों पुस्तकों की आलोचनाएं भी मैंने समय-समय पर अनेकानेक पत्र-पत्रिकाओं के लिए कीं। सन् ४० से ४८ तक आल इंडिया रेडियो से दर्जनों पुस्तकों पर समालोचनाएं लखनऊ तथा दिल्ली केन्द्रों से भाषण रूप में प्रसारित कीं। साधना, संजीवनी (मराठी), साहित्य-संदेश, कामना आदि पत्रों में "साहित्य-प्रवाह' नाम से नियमित स्तंभ भी 'विद्यार्थी' छद्म नाम से कई

महीनों लिखा। तथा 'हंस', 'वीणा', 'पारिजात', 'आरती', 'विशाल भारत', 'साहित्य', 'सम्मेलन पत्रिका', 'राष्ट्र भारती' आदि पचासों पत्रिकाओं में मैंने साहित्यविषयक प्रश्नों पर लिखा है। वे सब लेख बिखरे पड़े हैं—संगृहीत नहीं हैं। अतः मेरे दृष्टिकोण को समझने में पाठकों को कठिनाई हो सकती है। संक्षेप में, मैं निरे रसवाद (यानी जीवन से कटे हुए विशुद्ध कला के लिए कला वाले अलंकरणवाद) का जितना विरोधी हूँ उतना ही संकीर्ण राजनैतिक-प्रचारवादी प्रगतिवाद का। साहित्य या कला की नापजोख यों कटे-कटाये पैमानों से नहीं की जा सकती। इस बात को और स्पष्ट करने वाले अपने दो पत्र मैं इस भूमिका में उद्धृत करना आवश्यक समझता हूँ। पहला पत्र डा० सत्येन्द्र के नाम 'आलोचना रचनात्मक हो!' शीर्षक से जुलाई ५१ के 'साहित्य संदेश' में छपा था। वह यों है—

"एक सभा में हिन्दी के एक स्वनामधन्य प्रगतिवादी आलोचक महोदय बोले—'मेरा काम आलोचना करना है। मेरा काम रचनात्मक साहित्य रचना तो नहीं है।'

यह वाक्य बहुत अर्थपूर्ण है। प्रश्न यह है कि यदि आलोचक का काम रचनात्मक साहित्य से अलग है तो वह क्या है? क्या वह निरी चीर-फाड़ है? ऐसे साहित्य-डाक्टरों की कमी नहीं है जो यह मान कर चलते हैं कि साहित्य और साहित्यिक इस समय किसी घोर गतिरोध, प्रतिक्रिया आदि-आदि नामों से विभूषित रोग से ग्रस्त हैं, और उन्हें डोज़ पर डोज़ दवा पिलाना उनका ही काम है। परन्तु यह स्वयं साहित्य-वैद्य या नीम-हकीम कभी अपने भी बारे में सोचते हैं क्या?

माना कि यह युग ह्रासोन्मुख (डिकेडेंट) है। और पूंजीवादी विकृत, अश्लील आदि-आदि विशेषणों से विभूषित समाज-व्यवस्था है, तो यह आलोचक महोदय जो अपने को सुप्रीम जज मानते हैं, क्या इन सब स्थिति-गतियों से परे किसी ऐसे लोक में बसते हैं जो इससे परे है?

यदि ऐसी बात नहीं है तो आलोचक भी उन सभी मान्यताओं के उतने ही शिकार हैं जितने कि लेखक।

वस्तुतः साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक साहित्य और आलोचनात्मक साहित्य में इस प्रकार द्वैत निर्माण करना या मानकर चलना खतरे से खाली नहीं है। नीचे मैं वर्तमान हिन्दी आलोचना-पद्धतियों के स्तरों की चर्चा करना चाहता हूँ। व्यक्तियों के उल्लेख में जान-बूझ कर टाल रहा हूँ। समझदार पाठक उन्हें संकेत से समझ लेंगे।

आज हिन्दी में यह दशा है कि एक ओर तो यह नारा है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गई, अतः उसके अभावों की सर्वाङ्गीण पूर्ति हो। उसमें उत्तमोत्तम, उपयोगी और सुन्दर साहित्य सिरजा जावे। इस विषय में संस्थाएं, शासन, साहित्यिक दलों की ओर से और व्यक्तिगत रूप से भी बहुत कुछ कार्य हो रहा है। वह अपने-अपने ढंग पर शुभ है। प्रकाशकों की शिकायत है कि उनकी कितावें कोर्स हुए बिना' बिकती नहीं। दूसरी ओर साधारण पाठक की शिकायत यह है कि नयी हिन्दी कविता उसकी समझ में नहीं आती। उसे कहीं पर स्टेज पर खेलना हो तो उसके लायक नाटक नहीं मिलते। लड़कियों-स्त्रियों को सिवा सस्ती चवन्नीवाली 'सेक्सी' कहानियों की पत्रिकाओं के कोई बढ़िया उपन्यास-कथाएं नहीं मिलतीं। वे अपनी तृषा शरत और प्रेमचन्द से ही पूरी कर लेती हैं। और आलोचना का तो पूछिये ही नहीं। उसके स्तर बंध गये हैं :—

१—स्कूल-कालेज की छात्रोपयोगी कुञ्जीवादी आलोचना। अमुक-अमुक लेखक : 'एक-अध्ययन', 'मीमांसा' या ऐसे ही नामों से कोई लेखक चन्दबरदाई से प्रेमचन्द तक हिन्दी में नहीं बचा है। इस स्तर की आलोचना का जहां यह लाभ है कि विद्यार्थी कठिन मूल न पढ़कर, सस्ती टीकाओं से परीक्षा पास कर लेता है, वहाँ एक बड़ी हानि यह है कि आलोचना के स्तर को इस प्रकार की सस्ती किताबों ने पनियल बना दिया है। यानी विचार के स्तर से आलोचना निरे गद्य-अन्वय और भाष्य

के स्तर पर उतर आई। विद्यार्थियों की स्वतन्त्र चिंतन शक्ति को प्रोत्साहन देने के बदले, उसने उन्हें 'रेडीमेड' बैसाखियों का सहारा लेने की आदत डालकर, उनकी खोज और जिज्ञासा की वृत्ति को समाप्त कर दिया। यह आलोचना-पद्धति निरी पूरक है, रचनात्मक नहीं।

२—दूसरी आलोचना पद्धति है—विश्लेषणवादी ढंग से दिमाग में पहिले से कुछ चौखटे बना कर, उन तहखानों में या दड़बों में लेखकों की कला को 'सार्ट' कर देना। यह 'लेबलों' से चलने वाली आलोचना है। जैसे अमुक-अमुक लेखक रसवादी हैं, गांधीवादी हैं, छायावादी हैं, रहस्यवादी हैं, प्रगतिवादी हैं, त्रात्स्कीवादी हैं, आदि-आदि। इस आलोचना-पद्धति का यह गुण है कि जिन दिमागों में तर्क-शक्ति नहीं होती, जो सूक्ष्म विश्लेषण नहीं कर सकते, उन्हें बड़ा सहारा मिल जाता है, और वे सहज ही उस कलाकृति की 'जाति' (स्पीशीज) को चीह्नने लगते हैं। परन्तु सबसे बड़ी कमी इस पद्धति में यह है कि जहाँ कोई नई प्रतिभा, एक नया साहित्यिक प्रयोग, एक नया विद्युत्प्राय विचार-कण आया कि ये कटे-कटाये नाप वहाँ अधूरे पड़ जाते हैं, और ये आलोचक बौखला कर या तो नया 'वाद' खोजने लगते हैं या कहने लगते हैं कि अमुक-अमुक लेखक अब तक छायावादी था, बाद में प्रगतिवादी बना, परन्तु क्या कहें अब वह अरविन्दवादी हो गया! जैसे उसके इस प्रकार के रूप परिवर्तन में कोई विकास-रेखा या अन्विति है ही नहीं! यह सब 'वाद' क्या वह लेखक ऐसे बदलता जाता है जैसे कोई अपना कपड़ा या कोट बदलता है? और इस प्रकार की पूर्वाग्रहपूर्ण पूर्वग्रहदूषित आलोचना नवीन मौलिकता का मूल्याङ्कन करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हुई है। वह बौखलाकर ध्वंसवाद की शरण लेती है।

३—तीसरी आलोचना पद्धति तटस्थ रस-ग्रहण के नाम पर गुण-दोष-विवेचन का निष्काम उद्धरणवादी यत्न है। पहिले तो इतनी तटस्थता, जितनी आलोचक अपने तईं मान कर चलता है, उसमें होती

नहीं। दूसरे, गुण और दोष के विवेचन का अर्थ है कि एक मूल्यांकन के पहिले कुछ निर्दिष्ट मूल्य होने ही चाहियें। आज के युग में आकर साहित्य के क्षेत्र में साहित्य-शास्त्र के अपने मूल्य जैसे नाकाफी हो गये हैं। और इतिहास, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राणीविज्ञान, मनोविज्ञान आदि-आदि बाह्य-मूल्य महत्त्वपूर्ण हो गये हैं। इस सम्बन्ध में, मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं कहूँ, हिन्दी आलोचकों का वैज्ञानिक अध्ययन और दृष्टिकोण अभी, कुछ अपवाद छोड़कर, परिपक्व नहीं है। फिर बौद्धिकता का यह सरञ्जाम, उनमें व्याप्त रसग्राहकता के लिए पोषक सिद्ध होने की अपेक्षा दारक भी सिद्ध हो सकता है। परिणामतः एक उथली, गड्ड-मड्ड, थोड़े से आधुनिक वैज्ञानिक शब्द प्रयुक्त करने वाली दिशाहीन ही समीक्षा दिखाई देने लगती है। 'दृष्टिकोण' नाम से हिन्दी में तीन महानुभावों की पुस्तकें पढ़ जाने से क्या मत-निश्चय होता है?

तो हिन्दी आलोचना का वर्तमान स्तर, मेरे मत में, असंतोषप्रद है। परन्तु यह कहना तो काफी नहीं हुआ। यह पुनः एक अ-रचनात्मक दलील ही हुई। तो इस स्थिति के सुधार का क्या उपाय है?

मैं समझता हूँ, सबसे पहिला दायित्व हमारे साहित्य के शिक्षकों-अध्यापकों पर है। यह मैं नहीं आशा करता कि हर अध्यापक नवीन से नवीन दार्शनिक-मनोवैज्ञानिक-समाजशास्त्री सिद्धान्तों की जानकारी रख ही लेगा। परन्तु उच्च स्तर पर हिन्दी और अन्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं में जो एक अन्ध प्रान्ताभिमान या भाषाभिमान से प्रेरित हो हम डाक्टरेट की डिग्रियाँ अन्धे की रेवड़ियों की तरह बाँटने लगे हैं, उन पर तो कोई नियन्त्रण (नैतिक-नियन्त्रण) हो सकता है। कई पी-एच० डी० प्राप्तों के प्रकाशित-अप्रकाशित थीसिस मेरे पढ़ने में आये हैं। मेरा प्रामाणिक मत है कि वे एम० ए० के निबन्ध के प्रश्नपत्र के उत्तर, और कुछ तो उससे भी कम स्तर के कार्य होते हैं। केवल कुछ फुटनोटों द्वारा खासी मिहनत उनमें दरसाने का झूठा अभ्यास होता है। परन्तु जिसे ज्ञान के क्षेत्र में मौलिक चिंतन, अन्वेषण, दान कहते हैं उसका उनमें

अभाव पाया जाता है। आखिर अपनी सर्वोच्च उपाधि को हम यदि इतना सस्ता बना देंगे तो स्वाभाविक है कि मिडिल, मैट्रिक, इण्टर की श्रेणी का क्या हश्र होगा ? कई बी० ए० हिन्दी पास (सम्मेलन के विशारद, रत्न भी) शुद्ध हिन्दी लिखने से अनभिज्ञ मिले हैं। इसका क्या कारण है ? क्या हिन्दी के चोटी के भाषाशास्त्री और गण्यमान आचार्य मिलकर वर्तनी (हिज्जे), शुद्ध लेखन आदि के नियम निश्चित नहीं कर सकते ? महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद् की शुद्ध लेखन पद्धति प्रायः सभी मराठी पढ़ाये जाने वाले विश्वविद्यालयों में स्वीकृत है। जो उस पद्धति से नहीं लिखता उसे कम गुण (मार्क) मिलते हैं।

शुद्ध लेखन के बाद दूसरी चीज़ है हमारे प्राचीन ग्रन्थकारों के मूल शुद्ध पाठों के प्रति आदर। आप चार प्रान्तों की हिन्दी टेक्स्ट-बुकें उठा लीजिये। मीरा, कबीर, तुलसी, सूर के पदों के रूपों में आपको विभिन्नता जान पड़ेगी। संसार की किसी भी सुसंस्कृत भाषा में ऐसा नहीं होता। उस पर विचार होता है। पाठ निश्चित किये जाते हैं। उनमें प्रामाणिक पाठों को ही माना जाता है। विद्यार्थी गलत पाठ याद कर लेते ।

फिर यह है कि आधुनिक साहित्य का जहाँ तक प्रश्न है गलत मूल्यांकन इस हद तक है कि जो सस्ता, बिना मूल्य लेखन सहज प्राप्त हो जाय वह कोर्स-बुकों वाले संग्रहों (क्या पद्य और क्या गद्य) में डाल दिया जाता है। साहित्यिक गुणों पर यह कसौटी नहीं होती कि अमुक कहानी या पद्य लिया जाय या नहीं; कुछ तो नाम का आतंक यहाँ काम करता है, कुछ प्रान्तीयता और कई बार ऐसे बाह्य विचार भी कि अमुक की रचना ले लेने से यह पुस्तक जल्दी कोर्स-बुक हो जायगी। एक नाटक-संग्रह में एक व्यक्ति ने आजीवन एक नाटक लिखा है तो वह भी शामिल है, और कहीं-कहीं तो मार-पीटकर किसी को नाटककार बना दिया गया है।

इस सारी धाँधली का कहीं कोई निष्पक्ष नियंत्रण, इस पर कोई रोकथाम, बुजुर्ग साहित्यिकों से कोई नैतिक डाँट-डपट साहित्य में क्या कहीं

नहीं रह गई है ? महावीरप्रसाद द्विवेदी जी भाषा के सम्बन्ध में जो सावधानी अपने सम्पादन में बरतते थे, या प्रेमचन्द ने जितना प्रोत्साहन (मुझ जैसे) नये लेखक को दिया या बनारसीदास जी ने जिस तरह कुछ विवाद उठा कर उन पर मुक्त चर्चाएँ करायीं (यथा 'साहित्य और राजनीति' पर) वह सब सम्पादकीय आदर्श आजकल हिन्दी में क्या लुप्त हो गये ?

मैं आये दिन हिन्दी के तरुण नये लेखकों, युवकों, विद्यार्थियों, जाने-माने आलोचकों, अध्यापकों से मिलता हूँ और मुझे स्थिति बहुत भयावह जान पड़ती है। क्योंकि अध्ययन, साधना, परिश्रम और उदार दृष्टि का मुझे बहुत अभाव चारों ओर जान पड़ता है। संकीर्णता बढ़ती जा रही है, यहाँ तक कि 'प्रगति' के पोषकों में भी 'अ-गति' उत्पन्न हो गई है। रचना क्षीण होती जा रही है, गुणदोष विवेचन 'दोषक दृष्टि' का प्राधान्य है। और यों हिन्दी समीक्षा-क्षेत्र काफी हलके-उथले सतह के विवादों में पड़ गया है। मूल वस्तु है साहित्य की सरिता का प्रवाह; वह जैसे शुष्क शब्द-जञ्जाल की सिकता में सूख रहा है। मैं साहित्य का एक अदना प्रेमी हूँ, पन्द्रह-बीस साल से कुछ कागज रंग रहा हूँ। परन्तु मेरा मन इस समय हिन्दी आलोचना की स्थिति पर जितना खिन्न है, उतना पहिले कभी नहीं था—क्योंकि मार्ग कहीं दिखाई नहीं देता। सही, स्वस्थ मूल्याङ्कन का अभाव है। साहित्यिकों के जैसे मठ बन गये हैं; अपनी-अपनी महंती पुजवाने में रथी-महारथी व्यस्त हैं। कुछ उन्हें मारने-काटने-गिराने में शक्ति का अपव्यय कर रहे हैं। तरुण साहित्य-सेवी के हृदय पर कोई अच्छी तस्वीर नहीं खिंच पाती।

कोई यह कहेगा कि यह तो घोर सांस्कृतिक सङ्कट (क्राइसिस) का काल है। जो जीवन की अन्य दिशाओं में प्रतिफलित हो रहा है, साहित्य उससे अछूता नहीं है। अनेक वर्ष पूर्व आगरे से निकलने वाले 'साधना' मासिक में मैंने 'साहित्य-प्रवाह' नाम से

एक नियमित स्तम्भ 'विद्यार्थी' उपनाम से लिखा था। तब मेरे मन में इतनी खिन्नता और निराशा नहीं थी। 'लिखूँ तो किस लिए?' लेख में मैंने बहुत सी सख्त-सुस्त बातें उस वक्त जोश में कहीं थीं—पर फिर भी जैसे साधना पर विश्वास अटूट था, कोई आशा थी। अब कुछ 'संशयात्मा' सी स्थिति में पड़ा हूँ। और गत दो-ढाई वर्षों में अपने मानसिक स्वास्थ्य को सन्तुलित रखने में अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ; सृजन के क्षण जैसे किसी उत्तप्त लू मे झुलस गये हैं। मतवादों के घूर्णायित वात्याचक्र चारों ओर हैं; परन्तु प्रतिभा के अंकुर का सौहार्द-पूर्ण सिंचन जैसे शेष हो गया है। हल्ला-गुल्ला साहित्य-क्षेत्र में बहुत है: भीड़-भड़क्का भी है; पर सब मिलाकर परिणाम बहुत थोड़ा निकल पा रहा है। 'मच क्राइ, लिटिल वूल!'

ऐसा क्यों है, इस पर और भी आलोचक विचार करें तो अच्छा हो। मेरे मत से आलोचक अपने कर्तव्य से चूक गये हैं। आलोचना अधिक विधायक और रचनात्मक हो तभी कुछ आशा है।"

दूसरा पत्र बिहार के एक साहित्यिक विद्यार्थी श्री सिद्धेश्वरप्रसाद के पत्र के उत्तर में है। वह यों है:—

"सिद्धेश्वर जी के पत्र में मूलतः तीन प्रश्न उठाये गये हैं।

१—आलोचक का काम गयी शती की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक कठिन हो गया है। चूंकि ज्ञान-विज्ञान के क्षितिज और भी बढ़ते जा रहे हैं। मनुष्य की बुद्धि, जिसकी आलोचना प्रतिफलन है—देश-काल-परिस्थिति के यथार्थ से जैसे चकित और दिग्भ्रमित है। अतः

२—साहित्य और आलोचना में जो गत्यवरोध सा जान पड़ता है, उसका कारण यह है कि मनुष्य का जीवन भी आज ठप्प-सा है। आज का मनुष्य निराश और अपने आप से असन्तुष्ट है। अतः

३—आज के साहित्य में काया का, टेकनीक का (शायद 'प्रयोग' का भी) स्थान बढ़ गया है। परिणाम निरा 'वर्ण-चमत्कार' है, (यह

शब्द निराला के एक गीत से लिया है), अतः 'विस्तार को विस्तार दिया चाहता हूँ मैं ?' (यह पंक्ति श्री निराला जी की ही है।)

इससे आगे चलकर सिद्धेश्वर जी अपने पत्र में अद्वैत और द्वैत की मौलिक समस्या को छूते हैं और चेतना के विभिन्न स्तरों के यथार्थ की ओर मेरा ध्यान खींचते हैं। चेतना के विभिन्न स्तरों के एकीकरण का एक मार्ग तो अरविन्द घोष ने अपने दर्शन में सुझाया ही है, जिस में उत्तरोत्तर अतिमानस की ओर बढ़ा जा सकता है। दूसरा छोर जीवन की भौतिक और जड़ स्थितियों को सुधारने का है, जिस पर मार्क्सीय चिन्ता-प्रभावित विचारकों का विशेष आग्रह है। परन्तु सिद्धेश्वर जी दोनों मार्गों के खतरों से शायद नावाकिफ हैं। पहले मार्ग में ऐकान्तिक व्यक्तिवाद हमारे प्राचीन योगियों की भाँति मनुष्य को केवल 'असंभूतिमुपासते' (ईशावास्योपनिषद् का शब्द) के अन्धतम गर्त में धकेल देगा। (चाहे अरविन्दवादी उसे अन्धतम न मानकर प्रकाशपुञ्ज मान बैठें।) दूसरी ओर मार्क्सीय चिंता के फूहड़ समाजशास्त्र की एकस्वरता और एक ही डंडे से सब को हाँकने की प्रवृत्ति के उदाहरण साहित्य में संयुक्त मोर्चा और आतङ्कीवाद पर रामविलास-शिवदानसिंह-विवाद पर अमृतराय की पुस्तक और हाल की 'नई चेतना' में चन्द्रवलीसिंह के लेख पर्याप्त हैं। राहुल और रांगेय राघव के उसी 'नई चेतना' में के लेख मेरी बात की पुष्टि करेंगे।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का कण्ठावरोध साम्यवाद में होगा, ऐसा कई सांस्कृतिक नेताओं और चिन्तकों का एक ओर नारा है, तो दूसरी ओर कोरा अध्यात्मवादी आदर्शवाद हमें अधिकाधिक असामाजिक बना देता है और व्यक्ति-स्वातंत्र्य के नाम पर हम अबाध भोग-स्वातन्त्र्य की सुप्त लालसाओं और एषणाओं की ही स्वप्न-परिपूर्ति तो नहीं करते, यह बात भी कही जाती है।

दर्शन और मनोविज्ञान के क्षेत्र में नये-नये विचार सामने आ रहे हैं।

नव्य मानवतावाद, तार्किक विधायकवाद, अस्तित्ववाद और मनोविज्ञान में गेस्टाल्ट जैसे स्कूल—यह कुछ थोड़े से नाम हैं। मैं यह नहीं कहता कि आलोचक को इन सबसे परिचित हो लेना अच्छा आलोचक बनने की पहली शर्त है, परन्तु यदि मम्मट, रुद्रट, जगन्नाथ, अभिनवगुप्त का बारीक ज्ञान उसके लिए जरूरी है तो विश्वपीड़ा ('वेल्टान्शूङ्ग' जिसे जर्मन भाषा में कहते हैं) की धाराओं से अपरिचित रहना अथवा बहुत बचकाना ज्ञान उसके विषय में रखना बेहद नाकाफी है। मुझे ऐसे आलोचक हिन्दी में मालूम हैं जिन्हें मनोविज्ञान का ज्ञान फ्रायड के पाकेट-बुक सीरीज के 'लेक्चर्स आन साइकोएनेलिसिस' पढ़कर मिला है और मार्क्स का ज्ञान कोई सस्ती सी समाजवाद के सिद्धान्तों पर पुस्तक पढ़ कर। यह मैं समझ सकता हूँ कि आलोचक होने से एक आदमी कोई 'एनसाइक्लोपीडिया' नहीं होता; उसे सब नये-से-नये 'वादों', विचारधाराओं या ज्ञान-विज्ञान की सब बातों का पता होना ही चाहिए यह बात नहीं; बल्कि साहित्य को प्रभावित करने वाले 'दर्शन' और 'राजनीति' अपने आप में विशेषीकृत विज्ञान (स्पेशलाइज्ड साइन्स) हो गये हैं, तब साहित्य क्यों न हो? और 'साहित्य' निरी भावुकता नहीं है। 'वाह वाह! क्या अच्छी प्रेम की कविता कही है!' 'क्या खूब, शब्दों का कैसा चमत्कार है!'—आदि बातें सामन्त युग में हुआ करती थीं; आजकल इस प्रकार के रस ग्रहण को हम अधिक से अधिक बचपना कह सकते हैं। मेरा मानना है कि साहित्य सिरजनेवाला और उसका 'भावक' और विश्लेषक (आलोचक) यह सब निरे बच्चे नहीं हैं। वे परिपक्व शरीर और मन के मानव हैं। अतः उनमें निरन्तर वर्धिष्णु जिज्ञासा है। साहित्य-कर्म को वे जीवन से असंपृक्त केवल नक्काशी करना या 'नेल-पालिश' करना नहीं समझते। साहित्य या कला केवल 'विश्रान्तिर्यस्य संभोगे' नहीं है। अतः यदि साहित्य-सृजन और उसका मूल्याङ्कन सचेतन मानव की सचेतन, समूचे व्यक्तित्व से उद्भूत प्रक्रिया है तो साहित्यिक या आलोचक का काम निरा जीवन के यथार्थ का (सामाजिक यथार्थ

का भी) अन्धानुगान करना नहीं, निरा केमरे के लेन्स की भाँति प्रतिबिम्बित करना ही नहीं—बल्कि व्यक्ति और समाज के सम्बन्धों पर नया प्रकाश डालना, उसके स्वप्न और भविष्यत् का भी संकेत देना, अन्दाज बाँधना—और इस तरह से अपरोक्ष रूप से समाज का दिशा-दर्शन कराना भी है। लेखक समाज का दास ही नहीं है; उसका स्वामी भी है। यानी वह उसमें से एक होकर भी उससे ऊपर है, आगे है। तभी उसका लेखकत्व सार्थक है। अन्यथा वह निरा समाज का मनोरंजन करने वाला विट-चेट या उसे रिझाने वाला या उसके उपयोग पर जीने वाला व्यावसायिक-व्यापारी या ऐसा ही अन्य साधारण मनुष्य है।

यह लेखक की अपनी विशेषता-विचित्रता है। यही उसका शाप और वरदान है। अतः आलोचक का कार्य और भी जिम्मेदारी से भरा, कठिन और स्थायी महत्व का हो जाता है। आज से सौ वर्ष बाद जब आज की हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और ग्रन्थादि लोग पढ़ेंगे तब वे कहेंगे कि भारत में हिन्दी भाषा के आलोचकों ने, जब हिन्दी राष्ट्रभाषा हो गयी थी—अपने कर्तव्य का पालन नहीं किया, आलोचना कर्म में निहित निर्ममता और निर्मोहीपन को नहीं निभाया। उन्होंने गलत घोड़ों को आगे किया। वे अगर दम फूलकर राह में लँगड़ाने लगे तो उन घोड़ों का दोष क्या? उन्हें उच्चैःश्रवा और चेतक की कोटि में किसने धकेला?

आज तो कुछ 'परस्परं भावयन्तः' का बाजार गर्म सा है। उदाहरण के लिए एक कहानी सुनिए। मान लीजिए कि 'अ' लेखक है। 'ब' आलोचक है। 'स' प्रकाशक है या टेक्स्ट बुक कमेटियों से सम्बन्धित व्यक्ति है। अब तीनों ही एक घटिया वृत्ति के, हलके मत के 'ड' जैसे 'टाउट' (जो लेखक को कुछ पैसे देकर और प्रकाशक से रिश्वत दिलाकर पुस्तक कोर्स कराने में सफल हो जाता है) या नीम-साहित्यिक के दास हैं; या कहीं-कहीं आलोचक स्वयं यह 'टाउट' है। सब मिलकर सङ्गठित रूप से एक किसी लेखक या पुस्तक की स्तुति वे सब इस स्वर में शुरू कर

देते हैं—जैसे सियारों में होता है, एक के स्वर में अन्य स्वर पकड़ लेते हैं। या सब सङ्गठित रूप से किसी लेखक या कृति की उपेक्षा, अनुल्लेख या विरोध पर कमर कस लेते हैं। हिन्दी में दोनों प्रवृत्तियों के उदाहरण मिलते हैं। जब तक निन्दा-स्तुति के इस सामूहिक प्रयोग की बाढ़ में आलोचक के स्वेच्छया शामिल होने की स्थिति से उबार नहीं है तब तक हिन्दी आलोचना में 'शून्यवाद' ही होगा।

पत्र लम्बा हो चला है। इसलिए और बातें लिखने से बचूँगा। हिन्दी आलोचना-क्षेत्र में विचार-मन्थन पर्याप्त मात्रा में चल रहा है, और मैं उसके भविष्य के विषय में निराश नहीं हूँ। आज का जीवन खंडित है, व्यक्ति असंतुष्ट और द्विधा-व्यक्तित्व का बन गया है, समाज जर्जर है। इस सबका प्रतिफलन साहित्य में भी अवश्य हो रहा है, होगा ही। परन्तु क्या हिन्दी आलोचक यह सब जानता है? या जान-बूझ कर उसकी ओर उपेक्षा करके अपनी रस की सविकल्प समाधि वाली स्वप्निल निराली दुनिया में अफीमचियों की तरह मात्र निद्रित रहना चाहता है? और 'रस' का नशा न हो तो फूहड़ समाजशास्त्रीयता की दूसरी पीनक है ही। मेरा दिन-ब-दिन विश्वास बढ़ता जा रहा है कि हिन्दी आलोचना का सब से बड़ा नुकसान इस प्रकार के कठमुल्ला आलोचक ही कर रहे हैं। मैं अपने दिमाग की खिड़कियाँ खुली रखना चाहता हूँ। अतः सिद्धेश्वर जी की समस्या, जो कि युग की समस्या है, मेरी भी समस्या है। उससे सहज निस्तार नहीं है कि यह या वह 'वाद' सुझा कर मैं छुट्टी कर लूँ।"

आशा है, ये दो पत्र मेरे दृष्टिकोण को समझने में सहायक होंगे।

चूँकि मेरी मातृभाषा मराठी है और उसमें भी मैं लिखता रहा हूँ—साहित्यालोचन सम्बन्धी सन् १९४२ में छपा मेरा एक निबन्ध 'टीका' नागपुर विश्वविद्यालय के एम० ए० पाठ्यक्रम में रखा गया था—एक बात मैं और कह दूँ। हिन्दी के आलोचकों को अपनी भाषा से बाहर भी ज़रा झाँक कर देखना चाहिये। अंग्रेज़ी और संस्कृत (तथा क्वचित् बंगला) से

हिंदी ने पर्याप्त मात्रा में लिया है, ज़रा मराठी की आलोचना की दशा का ऐतिहासिक क्रम भी इस प्रसंग में जान लें तो बुरा न होगा।

वैसे तो डाक्टर माधव गोपाल देशमुख ने अपने रिसर्च-ग्रन्थ 'मराठी चे साहित्य-शास्त्र' में ज्ञानेश्वर से पण्डित कवियों तक प्राचीन श्रेष्ठ कवियों के ग्रंथों में यत्र-तत्र सूत्र-रूपों में ग्रथित 'सारस्वत' अथवा 'साहित्य कर्म' के विषय में विचारों को परिश्रमपूर्वक एकत्रित किया है, और मध्ययुग में अलङ्कार-पिङ्गलादि विषयों पर, अथवा काव्य-प्रतिभा और शब्द-शक्ति पर कुछ स्फुट निबन्ध-पुस्तकादि भी मिल जावेंगे, परन्तु वे अधिकतर संस्कृत की रूढ़ परम्परा वाले सिद्धान्तों—ध्वनि, रस, वक्रोक्ति आदि को लेकर ही हैं।

अंग्रेज़ों के जम जाने के बाद, विशेषतः अंग्रेज़ी ग्रन्थों के अनुवाद और प्रतिच्छाया के युग से आलोचना अथवा समीक्षा के आधुनिक अर्थ में ग्रंथ और ग्रन्थकार मिलना आरम्भ हो जाते हैं। विष्णुशास्त्री चिपलूण-कर के समस्त ग्रन्थों का एक बृहत्-संग्रह 'विष्णुपदी' श्री ना० बनहट्टी ने सम्पादित किया है। वैसे कृष्णशास्त्री चिपलूणकर के भी कुछ स्फुट निबन्ध साहित्यविषयक प्राप्य हैं। और इन्हीं से वस्तुतः आलोचनात्मक निबन्धों की शुरुआत होती है। इनके निबन्धों में बहुत जोश के साथ अपने तर्कों की स्थापना की गई है और खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति का प्रश्रय लिया गया है। 'विविध ज्ञान-विस्तार' नामक साहित्यिक-विचारात्मक निबन्ध-मासिक में 'निबन्धमाला' की इसी परम्परा को बढ़ाया गया। और आरम्भ से ही मराठी आलोचना इतिहास-प्राच्यविद्या-समाज-विज्ञान और दर्शन की छाया में पलती रही।

'केसरी' और 'सुधारक' पत्रों के काल में ज्ञान-विज्ञान चर्चा ने अधिक जन-सुलभ रूप यानी पत्रकार-कला से गठबन्धन किया। विश्लेषण से अधिक प्रवृत्ति लोक-शिक्षण की ओर बढ़ी। लोकमान्य तिलक राजनीति

के विषयों के लेखक थे, परन्तु साहित्य पर भी यत्र-तत्र उन्होंने लिखा है। 'केसरी' का प्रथम अङ्क मङ्गलवार ४ जनवरी १८८१ को प्रकाशित हुआ। उसी वर्ष के ३१वें, ३२वें अङ्कों में तिलक ने 'परभाषेंतील शब्दांची योजना' नामक लेख लिखा और बाद में 'देशभाषीय ग्रन्थसंग्रहाची आवश्यकता'। इसमें उद्धरण देखिये :—

"ड्रायडन ने एक स्थान पर कहा है—If too many foreign words are poured in upon us, it looks as if they were designed not to assist the natives but to conquer them. यदि पर-भाषा से वाजिब से अधिक शब्द लिए तो भारत में अंग्रेजों ने जैसे किया है वही होगा, यह स्पष्ट है। परन्तु इस प्रतिबन्ध की कुछ मर्यादाएं अवश्य रखनी चाहियें। जहाँ मूल भाषा में शब्द ही नहीं हैं वहाँ पर-भाषा के शब्द लेने आवश्यक हैं। यथा—प्रूफ, पाइका, कम्पोजीटर आदि।"

सितम्बर १८९८ साल के 'विविध ज्ञान विस्तार' से एक नमूना उस समय की मराठी भाषा और साहित्य के ग्रंथों के सम्बन्ध में सरकारी रिपोर्टों पर एक आलोचना से लीजिए—"भाषाज्ञान के अन्तर्गत ग्रंथसंख्या काफी है, परन्तु अधिकांश किताबें शास्त्रोपयोगी मात्र हैं। ध्यान में रखने लायक सिर्फ दस-बारह ग्रंथ हैं। 'अलङ्कारादर्श', 'अलङ्कारदर्पण', 'रसप्रबोध', 'अलङ्कारमीमांसा' चार ग्रंथ अलङ्कारों पर हैं। कै० आगरकर की 'वाक्य-मीमांसा' गये पन्द्रह वर्षों में बहुत महत्वपूर्ण पुस्तक है। उसी प्रकार से 'शुद्ध मराठी कोश' और 'संख्यावाचक दुर्बोध शब्दों का कोश' भी उल्लेखनीय हैं।"

इस प्रकार से उस समय की आलोचना में गणित का भी प्रयोग अधिक होता था। विनायक शिवराम सरे के 'वीरतनय' नाटक की समीक्षा में प्रति अङ्क और प्रवेश में कितने पद्य हैं और उनमें से कितने बेकार हैं इसकी बाकायदा तालिका दी गयी है। जानसन, एडिसन, पोप आदि उस काल के प्रमुख स्फूर्ति-दाता थे।

पत्रकारों की आलोचना पद्धति में सबसे उत्तम उदाहरण शिवा .राम महादेव परांजपे के 'काल' के निबन्धों में मिलता है। संस्कृत के ाढ़ ज्ञान के साथ व्यंग का ऐसा तीखा प्रयोग अन्यत्र कम दिखाई ा। इस प्रकार से बीसवीं सदी के आरम्भिक चरण में नरसिंह चिन्तामणि .लकर, डाक्टर श्रीधर वेङ्कटेश केतकर, वामन मल्हार जोशी आदि मराठी ाद्य की प्रमुख शलाकाओं का उदय और विकास होने लगा था। स्वर्गीय केलकर की साहित्यिक आलोचनाएँ, विशेषतः उनके भाषण बहुत महत्व-पूर्ण हैं। साहित्यानन्द के लिए 'सविकल्प समाधि' शब्द का प्रयोग उन्होंने ही किया था। लोकजीवन से काव्य-साहित्य प्रेरणा ग्रहण करता है, यह सिद्धांत प्रतिपादित किया और जीवनी-साहित्य के महत्व को भी विशेषता प्रदान की। स्व० डाक्टर केतकर समाजविज्ञान के चिकित्सक विद्वान् थे। उनके 'ज्ञानकोश' में जहाँ-जहाँ विभिन्न भाषाओं के साहित्यों पर चर्चा है वहाँ उनकी मौलिक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि सुस्पष्ट होती है। स्व० वामन मल्हार जोशी ने इस विषय को दार्शनिकता की इयत्ता प्रदान की। 'विचार-सौन्दर्य' नामक निबन्ध में उन्होंने नैतिक मूल्यों के साथ सौन्दर्य-मूल्यों की तुलना की है। उनके मत से साहित्यानन्द निरपेक्ष नहीं हो सकता। वह लोक-कल्याण का प्रधान हेतु अपने अन्दर समाहित किये हुए रहता है। अन्यथा वह श्रेष्ठ साहित्य ही नहीं है।

इसके पश्चात् आलोचना अधिक व्यापक वस्तु होने लगी। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी। और महाराष्ट्र की विश्लेषणप्रधान बुद्धिवादी दृष्टि भी अधिक पैनी होने लगी। साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाष में, विद्वानों की विभिन्न गोष्ठियों में 'काव्य-शास्त्र-विनोद' की यह ध और प्रवाहित होने लगी। इस समय मेरी स्मृति पर जिन ग्रन्थों की ि छाप स्पष्ट है उनमें से विषयों की दृष्टि से कुछ ग्रन्थों के नाम रहा हूं।

काव्य और सिद्धान्त-चर्चा के क्षेत्र में काव्य-चर्चा, आधुनिक

प्रकाश, कविपंचक, छन्दोरचना, तांबे यांचे निबन्ध, 'फुलांची ओंजल' की भूमिका, ज्ञानेश्वरांचे तत्त्वज्ञान, महानुभावांची आचारमीमांसा, मोरोपन्त और नवकाव्य की मीमांसा विषयक आधुनिकवाद के कई लेख 'कला आणि नीति', 'नीति आणि कलोपासना' जैसे सिद्धांत ग्रन्थों के साथ ही प्रो० फडके और आचार्य जावडेकर की 'पुरोगामी साहित्य' पर मीमांसा, साहित्यिक समाजवादी दृष्टिकोण से लालजी मेंडसे इतिहास 'साहित्य आणि समाज-जीवन' और उसे 'प्रतिभा' में पु० य० देशपांडे की उत्तरार्थ लेखमाला बहुत महत्वपूर्ण थी। साहित्य-शास्त्र की चर्चा मराठी में बहुत बार ज्ञान-विज्ञान के अन्य क्षेत्रों, यथा इतिहास-दर्शन-राजनीति—समाज-विज्ञान—मनोविज्ञान आदि सांस्कृतिक विषयों की खोज में परिणत हो जाती है। यहाँ तक कि मर्ढेकर की सौन्दर्य-शास्त्र विषयक चर्चा पर 'चैतन्य' के आक्षेप और उत्तरों का अन्त 'क्वान्तुम' आदि आधुनिक भौतिक शास्त्र के और आधुनिक तर्कशास्त्र के कई सिद्धान्तों तक पहुंच गया। जोग का 'सौन्दर्य शोध और आनन्द बोध', मर्ढेकर की 'वाङ्मयीन महात्मता', श्री० के० क्षीरसागर, वा० ल० कुलकर्णी, वालिंबे के ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

नाटक की समीक्षा के क्षेत्र में वि० पां० पांडेकर का मराठी नाटकों का तीन खण्डों में इतिहास, विग्राहरण-मीमांसा, गडकरी : व्यक्ति आणि वाङ्मय, खाडिलकर, कोल्हटकर, देवलपर कई वृहद् लेखमालाएं, नवनाट्य और लोकनाट्य पर चर्चाएँ, नाट्यकांचा संसार, मखमालीचा पडदा आदि रंगभूमि के अनुभव के विषय में संस्मरणात्मक पुस्तकें, वरेरकर आदि की आत्मकथाएँ पढ़ें। और 'अर्वाचीन मराठी साहित्य' जैसे खानोलकर सम्पादित ग्रन्थ मे समकालीनों के समकालीनों पर आलोचनात्मक प्रवन्ध भी बहुत मार्मिक हैं।

उपन्यास-कथा के क्षेत्र में आलोचना ने बहुत कार्य किया है। कई किताबों की भूमिकाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण रही हैं। विभावरी शिरूरकर की पुस्तक

की डा० केतकर द्वारा लिखित भूमिका से 'क्राउत्जर सोनाटा' (तोल्स्तोय) के अनुवाद की श्री० के० क्षीरसागर द्वारा लिखित भूमिका तक। फड़के के 'प्रतिभासाधन', 'साहित्य आणि संसार', 'वाङ्मय-विलास', माडखोलकर के निबन्ध तथा भाषणसंग्रह, खांडेकर के भाषण और भूमिकाएँ, कुसुमावती देशपांडे का मराठी उपन्यास पर विस्तृत भाषण, 'आवडत्या गोष्टी' की भूमिका, वामन मल्हार जोशी पर वा० ल० कुलकर्णी का प्रबन्ध, 'स्वभावलेखन' पर सहस्रबुद्धे का प्रबन्ध आदि कई स्मरण आ रहे हैं।

मैं जानता हूँ कि उपर्युक्त लेखों के नामादि पूर्ण नहीं हैं। परन्तु केवल कुछ मोटी-मोटी रेखाओं द्वारा मराठी के आलोचना-साहित्य के विपु भांडार की ओर मैंने इङ्गित मात्र किया है। मराठी की साहित्यिक आलो चना के प्रमुख गुण इस कार से हैं :—

१—वह व्यक्ति-निरपेक्ष होती है। यानी लेखक की अपेक्षा उ कृतित्व का विवेचन अधिक होता है।

२—वह पूर्वग्रहदूषित 'वाद-विवादों' से अब ऊपर उठती जा रही यानी वैज्ञानिक सैद्धान्तिक साँचों में साहित्य को बांधने की अपेक्षा समझने, उसकी जीवन की गत्यात्मक धारायें सापेक्षता का सम्बन्ध स करने में अधिक ध्यान देती हैं।

३—वह साहित्य को निरा शब्द-विलास न मानकर, ज्ञान-वि विभिन्न क्षेत्रों, संस्कृति के समूचे ऊर्ध्व-विकास से संबद्ध समझ अतः उसमें परिश्रमपूर्वक संशोधन पर विशेष जोर दिया जाता है।

४—वह सम्पूर्णता की ओर अधिक ध्यान देती है। यान सफाई, गेट-अप, रैपर्स से लगा कर अन्दर के मज़मून के साथ मौलिक होने के साथ ही साथ अन्य साहित्यों की दृष्टि में ह रखेगी, इस ओर ध्यान देती है।

५—साथ ही 'एक अध्ययन' जैसी शालेय पुस्तकों की भी कमी नहीं है। परन्तु उनमें भी अब स्तर को ऊँचा उठाने की ओर सतत उद्योग हो रहा है। जनरुचि के संस्करण का भी भार उसने अपने ऊपर लिया है।

अंत में मैं उन सब लेखकों का आभारी हूँ जिनकी रचनाओं से मैंने उद्धरण लिये हैं। कहीं-कहीं उद्धरण लम्बे भी हो गये हैं। वहां मैंने मूल लेखकों की अनुमति विशेष रूप से ले ली है।

आशा है कि यह पुस्तक आलोचना-शास्त्र के अध्येताओं के लिए कुछ उपयोगी साबित होगी। मेरे मतों से प्रत्येक पाठक का मतैक्य होगा ही, ऐसा मैं नहीं मानता। परन्तु 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार पुस्तक पढ़कर यदि कोई मुझ से पत्र-व्यवहार करना चाहें तो उनकी सुविधा के लिए नीचे अपना पता भी दे रहा हूँ। जिन्हें कोई त्रुटियां नज़र आवें वे अवश्य उनका उल्लेख करें; मुझे सूचित करें। हिन्दी के कई अन्य समीक्षाकारों की भांति मैं कोमल-प्राण, भावुक और ज़रा सी आलोचना से जन्म भर के लिए बुरा मान लेने वाला प्राणी नहीं हूं। मैं विचारों के मुक्त विनिमय में विश्वास करता हूं, और जानता हूं कि जो मैंने लिखा है वह सीखने की राह में सिर्फ एक मुक़ाम है, मंज़िल है। अपने लिखे को 'हर्फ़े-आखिर' मानने की मेरी जुरअत नहीं। बुद्ध ने 'सर्व्वं क्षणिकम्' कहकर और लेनिन ने 'नथिंग इज़ फाइनल' कहकर बहुत वर्षों से यह संकेत दे दिया था।

उन सब मित्रों का पुनः आभारी हूं जिनसे बहस करके मैंने यह सब ज्ञान पाया। पुस्तकों से सिर्फ राह सूझती है; राह चलाने वाले और सहयात्री तो अनेकों होते हैं।

बी-२३०, विनयनगर,
नई दिल्ली-३
फरवरी, १९५३,

—प्रभाकर माचवे

समीक्षा-क्रम

पृष्ठ

चिंतामणि : १ :

रामचन्द्र शुक्ल

हिन्दी आलोचना साहित्य के मेरुमणि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इस ग्रन्थ का परिचय इस प्रकार है। प्रथम भाग में १७ निबन्ध हैं, जिनमें से दस भावात्मक या मनोवैज्ञानिक निबन्ध हैं : भाव या मनोविकार का सामान्य परिचय और उत्साह, श्रद्धा, करुणा, लज्जा, भय, क्रोध आदि विषयों पर। अन्तिम ७ निबन्धों में कविता की परिभाषा, काव्य में लोकमंगल की साधना, साधारणीकरण, रसात्मक बोध आदि सिद्धान्तों पर चार, तुलसी और मानस पर दो, और एक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पर निबन्ध हैं। इन निबन्धों का रचनाकाल १९१९ ईस्वी है। निवेदन में लेखक ने कहा है : "इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है।" अर्थात् इस भाग की आलोचना में निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल, शुक्लजी की काव्योद्देश्य की व्याख्या और तुलसी तथा भारतेन्दु पर उनके मन्तव्य के विषय में स्वतन्त्र रूप से लिखना होगा।

'चिंतामणि' भाग २ में 'काव्य में रहस्यवाद' नामक शुक्लजी के पूर्व प्रकाशित पुस्तक (मूल प्रकाशन काल १९२९) और इन्दौर

हिन्दी साहित्य सम्मेलन में साहित्य परिषद् के अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण, जिसे विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शीर्षक दिया है और जिसका प्रकाशन-काल सन १६३५ है, और 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' नामक एक पुराना निबन्ध—एक साथ छाप दिये गये हैं। वस्तुतः होना यह चाहिये था कि रामचन्द्र शुक्ल के सारे समीक्षा-साहित्य को, यानी सूर के भ्रमरगीत-सार की भूमिका, गोस्वामी तुलसीदास पुस्तक, जायसी के पद्मावत की भूमिका और बुद्ध-चरित की भूमिका को भी एकत्र करके छापना चाहिये था। 'रस सिद्धान्त' को भी उसमें मिला लें तो चार-पाँच खंडों में रामचन्द्र शुक्ल की समूची समीक्षा-विषयक सैद्धान्तिक रचना एकत्र हो जाती है, जिसका कि बृहत् प्रक्षेपित और प्रतिलक्षित रूप हिन्दी साहित्य का इतिहास है। इस भाग की समीक्षा में तीनों प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से लिखना होगा, जिसमें से कि कई अन्य शाखा-समस्याएँ फूटती जाती हैं। सम्पादक ने 'दो बोल' में लेखों की मूलप्रकाशन-तिथियाँ दी होतीं तो अच्छा होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से हमें प्रस्तुत निबन्ध में 'चिंतामणि' की आलोचना करते समय निम्न बातों पर ध्यान देना होगा :

१. निबन्धकार रामचन्द्र शुक्ल : उनके निबन्धों की कोटि और शैली।
२. शुक्लजी के मत से काव्योद्देश्य और उसकी मीमांसा।
३. तुलसी तथा भारतेन्दु पर शुक्लजी के मन्तव्य।
४. काव्य और प्रकृति के सम्बन्ध में शुक्लजी के विचार और उनकी विवेचना।
५. काव्य में रहस्यवाद पर शुक्लजी के विचार और उनकी विवेचना।
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद पर विचार और उनकी विवेचना।
७. रामचन्द्र शुक्ल की आलोचक के नाते नवीन उद्भावना : गुण और दोष।

: १ :

निबन्ध की परिभाषा करते समय विदेशी साहित्यकारों ने उसे 'मन की उन्मुक्त गोलाबारी' से लगाकर 'घरेलू बातचीत' तक कहा है। आरंभ में निबंध सूक्तिसंग्रह मात्र होता था; उसमें नैतिक उपदेश का आग्रह भी भरपूर था, जैसे बेकन या मौंतेन के निबन्धों से स्पष्ट है। परंतु धर्मोपदेशक या प्रवचनकार के व्यासपीठ से अंगरेज़ी निबन्धकार बहुत जल्दी उतरकर वह चरित्रांकन या दृश्यांकन जैसे रेखाचित्र को निबंध कहने लगा। धीरे-धीरे इसमें साहित्यिक संदर्भ का सौन्दर्य भी संगठित होने लगा और एडीसन, स्टीवेन्सन और हेज़लिट के काल तक निबन्ध का रूप-विन्यास ही और हो गया। बाद में वह अधिक व्यक्तिनिष्ठ बनकर, लैंब और गोल्डस्मिथ की परंपरा मे, हलका-फुलका, छोटी कहानी, डायरी, या पत्रांशों की तरह सहज, संभाषणमय लघु-निबंध बन गया। परंतु रामचंद्र शुक्ल के मनोवैज्ञानिक निबंध अंगरेज़ी के आरंभिक निबंधों की तरह सूत्रमय, व्याख्यामय और निष्कर्षमय ही अधिक हैं। उनके भावात्मक निबंधों में से ऐसे सैकड़ों उदाहरण निकालकर दिये जा सकते हैं, जो स्वतंत्र सूक्तियों की भाँति प्रयुक्त हो सकें। फिर भी वे किसी मनोविज्ञानवेत्ता की सूक्ष्म-विश्लेषण-शक्ति को लेकर चलने वाले भाव-मींमांसा के निबन्ध नहीं हैं। क्योंकि उनमें ताटस्थ्य की जो मात्रा एक वैज्ञानिक के लिए अपेक्षित है, वह नहीं है। वे निबन्ध भावुकता को लिए हुए भी हैं। अतः, वे साहित्य की कोटि में अधिक आते हैं, दर्शन या विज्ञान की कम।

पहले निबन्ध की शुक्लजी वाली व्याख्या लें और उनमें ये निबन्ध कहाँ तक बैठते हैं, यह देखें। इस दृष्टि से हमें निराशा ही हाथ लगेगी। हमारे मित्र ठाकुरप्रसादसिंह ने अपनी पुस्तक 'हिंदी निबन्ध और निबन्धकार' में पृ. २९ पर इस बात का विस्तृत विवेचन किया है। पुस्तक के प्रणयन में मेरा भी कुछ योग रहा है। अतः

विचारों को यहाँ उद्धृत करता हूँ :

"एक स्थान पर शुक्लजी कहते हैं कि 'भाषा का स्वरूप स्थिर ाने पर जब साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है, तभी ायों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती ' आगे बढ़कर और स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा कि 'इन लेखकों शैलियों में व्यक्तिगत विभिन्नता स्पष्ट लक्षित हुई। भारतेन्दु में ी हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश ो शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की दूसरी।' यहाँ स्पष्ट ही वे ्न प्रवृत्तियों का नामकरण न करके केवल उल्लेख मात्र करके रह जाते हैं। इस प्रकार के विवेचन को सैद्धान्तिक विवेचन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

"द्वितीय-उत्थान में उन्होंने निबन्धों की व्याख्या का हलका प्रयत्न किया है। जिस साहित्य-शैली को भारतेन्दु-युग की आलोचना में वे बिना 'कुलशील' बताये ही सम्मिलित कर आये थे, उसके लिए द्विवेदी-युग में वे कहते हैं, 'यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक सम्भव है।' आगे वे निबंधों का विभाजन भी करते दीख पड़ते हैं, 'निबंध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विभागों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं। लक्ष्य-भेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे विचारात्मक निबन्धों में व्यास और समास की रीति, भावात्मक निबन्धों में धारा, तरंग और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के अन्दर वह प्रलाप-शैली भी आयेगी, जिसका बंगला की देखादेखी कुछ दिनों से हिन्दी में भी चलन बढ़ रहा है।'

"इस विवेचन से स्पष्ट है कि मात्र बाह्य शैली-भेद पर ही आलोचना आधारित है। ऊपर के विवेचनों को यदि ध्यान में रखा जा

तो निबन्धों की इन विभिन्न शैलियों का कारण समझने में देर नहीं लगेगी। इसलिए इस विभाजन को मान लेने में कोई अव्यवस्था नहीं आती। विचारात्मक निबन्धों की विषय की प्रधानता का विरोध बराबर किया जाता रहा है। इसे स्वीकार कर लेने पर हमें दर्शन, विज्ञान, आलोचना आदि सबको अपनी सीमा में ले लेना पड़ेगा। हम नयी तरह से फिर पहले कहे तर्कों पर विचार न करके यही मान लें कि ऐसे निबन्धों की बहुलता देखकर यदि इन्हें निबन्ध माना जायगा तो आने वाले वर्षों में जो कुछ भी वर्णनात्मक, व्याख्यात्मक या विवादात्मक लिखा जायगा, उसे हमें बाध्य होकर निबन्ध मान ही लेना होगा। यहाँ हम जिस विशेष शैली की विवेचना कर रहे हैं उसकी रक्षा न हो सकेगी और निबन्ध कहे जाने वाले चार सौ वर्षों तक की वस्तुओं को भी हमें बिना परेशान हुए स्वीकार करना होगा। पं० रामचन्द्र शुक्ल जब विशाल और गंभीर निबन्धों की आवश्यकता विश्व-विद्यालयों के लिए बताते हैं और उनके अभाव से चिन्तित होते हैं, तब उनका मतलब जिन निबन्धों से है, वे ये नहीं होंगे। 'चिन्तामणि' के लेखक के लिए तब चिन्ता का विषय उपस्थित हुए बिना न रहेगा। इस पर भी यदि हमें इन्हें निबन्ध मानना ही है, तो हम इन्हें 'विशुद्ध निबन्धों' की श्रेणी से थोड़ा अलग ही रखेंगे। विचारात्मक और वर्णनात्मक निबन्धों की एक ही कोटि है। अन्तर केवल भाषा का होता है। इसलिए केवल भावात्मक शैली ही बची। भावात्मक निबन्धों को हम आत्म-पक्ष के पास मान लेते हैं, तब कहने को बहुत कुछ नहीं बचता। बंगाल की प्रलाप-शैली या तरंग-धारा या विक्षेप-शैली का कोई शैलीगत विवेचन इसके अतिरिक्त नहीं हो सकता कि यह अन्तर के उद्गारों के ध्वनि-प्रवाहों पर निर्भर करती है। रीड को मन की लहरों का शब्द और वाक्य की लहरों को प्रभावित करने वाली बात यहाँ कही जा सकती है। हिन्दी में यह शैली छायावादयुग की कविता के साथ कुछ दूर तक चली, किन्तु

साहित्य की प्रौढ़-अभिव्यक्ति के गुरु-स्वन में इसके प्रमुख लेखकों की ध्वनि उतनी स्पष्ट न हुई। बंगाल के रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि के अनुवाद से प्रभावित होकर जो गद्यगीतों की परम्परा हिन्दी में चली, उसने कुछ अच्छे रत्न हमें दिये। श्री रायकृष्णदास, वियोगी-हरि आदि ने इस दिशा में अच्छा लिखा। पर अधिकांश गद्य-प्रलाप पत्रों के पन्नों में ही खो गये। श्री निराला ने अपने निबन्ध-संग्रह 'प्रबन्ध-प्रतिमा' में जिस 'गदाधर गद्यकाव्य' की हँसी उड़ाई है, वह इन्हीं प्रलाप-शैली के नवजात-शिशुओं का परिचय है।

"इसी भावात्मक शैली ने प्रौढ़ता प्राप्त की और पूर्णसिंह के निबन्धों का स्वरूप सम्मुख आया। ये निबन्ध यद्यपि प्रधान रूप से भावात्मक ही हैं, पर लाक्षणिक शैली और विचारों की तार्किकता का जो विशेषत्व वहाँ आ जुटा है, वह इस प्रकार के निबन्धों की सफलता के प्रति आश्वस्त करता है। श्री रघुवीरसिंह की इतिहास-कल्पना भी इसी रास्ते पर रखा हुआ अगला कदम है।

"अब हम उनकी आलोचना के दूसरे पहलू पर आते हैं। यहाँ वे पाश्चात्य-लक्षणों की विवेचना करते हुए निबन्ध में निबन्धकार की व्यक्तिगत विशेषता की बात करते हैं। साथ ही मानते हैं कि 'बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय।' आगे अपनी शंका उपस्थित करते हैं: 'व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला ही न रखी जाय पर जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाय।' यदि अनसधे या तृतीय श्रेणी के लेखकों की शिकायत में ये शब्द प्रयुक्त किये गये हैं तो भविष्य में शैली की विवेचना करते समय हम शुक्लजी का समर्थन करने चल रहे हैं, किन्तु यदि उनका आरोप शैली पर है, तब हमें कुछ विवाद नहीं कहना है, क्योंकि ऊपर वाला 'गद्य-विधान' यहाँ भी अपना प्रभाव दिखा रहा है। इस प्रकार के निबन्धों के अन्तस् में एक सूक्ष्म-धारा ही तो होती है। उसके टूट जाने या तोड़ दिये

जाने की यदि शिकायत है तो उसे सभी स्वीकार करेंगे पर यदि किसी अन्य बाह्य उपादानों की विशेष आवश्यकता से मतलब है, तो उसकी आवश्यकता यहाँ नहीं समझी जाती। अन्तस् की धारा इतनी शक्तिशालिनी होती है कि निबन्ध का क्रम बिगड़ नहीं पाता। यहाँ मैं शुक्लजी की 'पत्तों के भीतर नसों' वाली उपमा से ही अपना काम चलाऊँगा, क्योंकि अगली पंक्तियों में हम वही बात कहने जा रहे हैं, जो हमारी अभिलषित है। वे कहते हैं : 'तत्वचिंतक या दार्शनिक केवल अपने व्यापक सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए उपयोगी कुछ सम्बन्ध-सूत्रों को पकड़ कर किसी ओर सीधा चलता है और बीच के ब्योरों में कहीं नहीं फँसता। पर निबंध-लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र-शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसका अर्थसम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। × × × इसी का नाम है एक ही बात को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखना। व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'

"ऊपर से देखने में नवीन लगते हुए भी विचार वे ही हैं, जो पहले प्रकट किये गये थे। अभिव्यंजना प्रणाली मात्र का अन्तर मानने के अतिरिक्त वे और सब प्रकार से इसे गद्य-विधान ही कहना चाहते हैं। यदि प्रारम्भ में ही निबन्ध को अपने 'गद्य-विधान' का एक प्रयोग मानकर वे चले होते तो अभिव्यंजना-विशेषत्व की बात और भी स्पष्ट हो जाती। ऐसी स्थिति में यह और इसके पश्चात् की सम्पूर्ण विवेचना 'गद्य विधान' सूत्र के भाष्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हो भी नहीं सकती, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही विरोध की स्थिति थी। 'चिन्तामणि' की भूमिका में जो मन के साथ बुद्धि भी निकलती रही है, वह भी इसी तर्क की स्थापना के कारण। हिन्दी के अन्य आलोचक इसीलिए तो शुक्लजी को विशुद्ध निबन्धकार की कोटि में रखते हिचकते हैं।"

शुक्ल जी के ये निबन्ध १९१९ में लिखे हुए हैं। १९३५ में इंदौर में दिये भाषण में—यानी १६ वर्ष बाद तक उनकी शिकायत हिंदी निबन्धकला के विषय में बराबर ज्यों-की-त्यों बनी है। वे 'चिंतामणि' भाग दो पृष्ठ २५९ पर लिखते हैं: 'ऐसे प्रकृत निबन्ध, जिनमें विचार-प्रवाह के बीच लेखक के व्यक्तिगत वाग्वैचित्र्य तथा उसके हृदय के भावों की अच्छी झलक हो, हिंदी में अभी कम देखने में आ रहे हैं। आशा है इस अंग की पूर्ति की ओर भी हमारे सहयोगी साहित्य-सेवियों का ध्यान जायगा।' आज १७ वर्ष और बीत गये हैं, पर हिंदी निबन्ध की विपन्नता ज्यों-की-त्यों बनी है। वह क्यों है, यह भिन्न विषय है और 'मूल्यांकन' ग्रंथमाला में हमारे ग्रंथ 'हिंदी निबन्ध' में उसकी कारण-मीमांसा देखें।

शुक्लजी के ये निबन्ध आज विशेष अच्छे नहीं लगते, इसका कारण न केवल हमारा निबन्ध के संबंध में दृष्टिकोण बदल गया है, अपितु शुक्लजी का नैतिक प्रश्नों से अधिक उलझना है।

नीति और कला का क्या संबंध हो, यह सौंदर्य-शास्त्र का एक पुराना वाद है। 'विश्रान्तिर्यस्य संयोगे सा कला न कला मता' महाभारतकार ने कहा था। और शेक्सपीयर के जीवन, कला और चरित्रों पर आलोचक हडसन ने अपने ग्रन्थ में पृष्ठ १२६ पर कहा है—'Indeed the beauty that sacrifices or postpones truth to pleasure is not good.' टाल्स्टाय या महात्मा गाँधी जैसे विचारक कला में मांगल्योपासना, नीति के आदर्शों का दासीत्व चाहते हैं। यथा गाँधी जी ने नवम्बर १३, १९२४ के 'यंग इण्डिया' में लिखा था—'The outward has no meaning except in so far as it helps the inward. All true art is thus the expression of the soul' डाक्टर रॅशडॅल ने अपने नीतिविषयक ग्रंथ 'थ्यूरी आफ़ गुड एंड ईविल' में पृ० १७८ पर लिखा है कि 'जिन लोगों में नैतिक विचारों की अपेक्षा सौन्दर्य विषयक विचार अधिक बलवान्

होते हैं, वे अपने कला-क्षेत्र का नीति-क्षेत्र से कोई संबंध नहीं मानते। परन्तु ऐसे लोगों की नीति की कल्पना बहुत संकुचित या सीमित होती है।'

प्रोफेसर गुलाबराय ने शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक निबन्धों की विशेषताएं बताते हुए प्रधान गुण बताया है: "वे मनोवैज्ञानिक होते हुए भी अपने लक्ष्य में आचार-सम्बन्धी हैं। इनमें उस लोकमंगल और लोकसंग्रह की भावना निहित है जिसके कारण आचार्य शुक्लजी ने गोस्वामी तुलसीदास को अपना आदर्श कवि माना।"

कटी-कटाई रूढ़ नैतिकता के आग्रह की छाप शुक्लजी के सारे निबन्धों को प्रवचनात्मक बना देती है। इसी कारण से वे तुलसी की भाँति अच्छाई-बुराई के द्वैत के फेर में सर्वत्र पड़े दिखाई देते हैं।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी 'हिंदी साहित्य--बीसवीं सदी' पुस्तक में रामचन्द्र शुक्ल पर तीन प्रदीर्घ निबंध—प्रायः ३२ पृष्ठ—लिखकर उनके अन्त में जो बात कही है, वह बहुत सही है: "अन्त में हम फिर कहेंगे कि शुक्लजी की सारी विचारणा द्विवेदी-युग की व्यक्तिगत, भावात्मक और आदर्शोन्मुख नीतिमत्ता पर स्थित है। समाजशास्त्र, संस्कृति और मनोविज्ञान की मीमांसा उन्होंने नहीं की है। प्रवृत्ति-विषयक उनकी धारणा भारतीय धार्मिक धारणा की अपेक्षा पाश्चात्य अधिक है। उनका काव्य-विवेचन भी प्रबन्ध-कथानक और जीवन-सौन्दर्य के व्यक्त रूपों का आग्रह करने के कारण सर्वांगीण और तटस्थ नहीं कहा जा सकता। नवीन युग की सामाजिक और सांस्कृतिक जटिलताओं का विवेचन और उनसे होकर बहने वाली काव्यधारा का आकलन हम शुक्लजी में नहीं पाते। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि शुक्लजी जिस युग के प्रतिनिधि हैं, हम उसको पार कर चुके हैं। वे हमारी साहित्य-समीक्षा के बालारुण हैं। किन्तु दिन अब चढ़ चुका है और नये प्रकाश और नई ऊष्मा का अनुभव हिन्दी साहित्यसमीक्षा कर चुकी है।" (पृष्ठ ८७)

और फिर नीति भी क्या है ? लेनिन ने कहा है—'We do not believe ine ternal morality......To us morality derived from a power outside of human society does not exist—is merely a deception'। नीति तो सापेक्ष वस्तु है। क्या कोई शाश्वत नीत्यादर्श हैं ?

और मान लीजिए, कोई ऐसे काल्पनिक अनुमित आदर्श हों भी, तो साहित्य की मीमांसाएँ, रसात्मबोध में साहित्य के बाहर के प्रांत के, यानी आचार-शास्त्र या नीतिशास्त्र के मानदण्ड लाने का क्या अर्थ है ? क्या 'सुन्दरम्' जो है, वह शिवम् नहीं है ? उसे बार-बार लोकमंगल का ध्यान दिलाने की आवश्यकता ?

सामाजिक नैतिकता का आग्रह अंततः बौद्धिकता का आग्रह है, तार्किकता का आग्रह है। साहित्य का सहृदय द्वारा भावन तर्क-क्रिया नहीं है, न ही तर्क द्वारा समझायी ही जा सकती है। क्रोचे ने कहा कि 'The moment of art precedes the moment of logic'। क्योंकि तर्क काटता है। वह निषेध से चलता है। साहित्य के क्षेत्र में निषेध किसका ? लेसिंग के 'लाओकून' निबन्ध से सुन्दर के साथ कुरूप का, समग्र सत्य का आग्रह साहित्यालोचना में चला। अतः शुक्लजी का 'करुणा' पर निबन्ध बहुत हलका और रूढ़िबद्ध लगता है। शुक्लजी आज होते और ल्यूकस का अधुनातम ग्रंथ 'Literature and Psychology' पढ़ते, तो उन्हें शायद अपने करुणा-विषयक मत बदलने पड़ते। ल्यूकस के अनुसार ट्रैजेडी का मूल है आत्मिक शक्ति का अविकास और मानवी-मन की बचपन में ही दमित अर्द्ध-पूर्त प्रगति। अपूर्णता और पूर्णता का संघर्ष वहाँ है। उसीके शब्दों में—'Such tragedies as I have just related arise ultimately from a failure to grow up, to grow out of the past, to surmount the dependence of childish years and some times the shocks suffered in these

years' । अतः इब्सेन की 'गुड़िया का घर' में ट्रैजेडी का रहस्य है नोरा की बालिशता—'Ibsen knew that well enough when he drew his child wife in the 'Doll's House', the whole theme of his play is the agony and tragedy of a woman growing up too late' । ट्रैजेडी को शैले ने आँसुओं की घाटी और कीट्स ने आत्मा के निर्माण की घाटी माना है। शुक्लजी के निबंध 'करुणा' में कहीं भी करुणा से आनन्द की मीमांसा नहीं, कहीं भी वह भव्यता या गहराई नहीं है। 'करुणा' को वे नैतिक मूल्य दया, क्षमा, मैत्री की कोटि में रखकर सहानुभूति तक ही अपना विचार सीमित रखते हैं। वह भी 'सिंपथी' तक ही; 'एंपथी' भी उनका विषय नहीं है। इसी प्रकार और निबन्ध हैं। उत्साह में अमर्ष का विचार नहीं है, घृणा में बीभत्स-रस की सत्ता का विचार नहीं है। 'घृणा' का सभ्य व्यक्त-रूप उपेक्षा क्यों हो जाता है, इसकी विवेचना तो है, परन्तु प्रेम और घृणा परस्पर कैसे साथ चलते हैं, (एम्बिवलेंस) या घृणा कैसे विपरीत प्रेम का ही दूसरा नाम है—यह सब उसमें कहीं भी चर्चित नहीं है। वही हाल 'ईर्ष्या' निबन्ध का भी है। तात्पर्य, ये अत्यन्त साधारण कोटि के निबन्ध हैं।

प्रो० मोहनलाल ने अपने लेख में शुक्लजी की शैली की विशेषता बतलाते हुए निम्न गुणों को सोदाहरण प्रधान बताया है : (१) समास शैली, (२) विचारों की सम्बद्ध योजना (३) अभिव्यक्ति की स्वच्छता तथा स्पष्टता।

कुल मिलाकर ये भावात्मक या मनोवैज्ञानिक निबन्ध शुक्लजी व्यक्तित्व और दृष्टिकोण का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करते। 'शुक्लः की मनोभूमिका' लेख में जैनेन्द्रजी ने अन्तिम निष्कर्षों में जो ज़ोर दिया है, वह बहुत सही है :

"शुक्लजी ने व्यक्ति और समाज को अन्योन्याश्रय में न बल्कि व्यक्ति को समाज के निमित्त उन्होंने समझा। परिणामतः, सम

नीति की कीमत काफी से अधिक और व्यक्तिगत साधना की कीमत काफी से कम उन्होंने आँकी।"

: २ :

आलोचक रवीन्द्रनाथ ने एक स्थल पर विधाता की एक कहानी दी है। एक बार ब्रह्मा ने जगत्-निर्माण के साथ ही सोचा—क्यों नहीं अपनी रचना के गुण-दोष बताने वाला कोई आलोचक मैं निर्मित करूँ? सो उसने एक आलोचक भी बनाया। ब्रह्मा एक-एक चीज बनाते जाता और आलोचक उसमें दोष ढूँढ़ते जाता। जैसे हाथी ऊपर क्यों नहीं देख सकता? ऊँट सदा ऊपर क्यों देखता है? गधे में चंचलता क्यों नहीं है? बंदर इतना चंचल ही क्यों है? अन्त में ब्रह्मा ने बड़ी कुशलता से मनुष्य बनाया—पर उसमें भी आलोचक ने दोष सूँघा—'इस मनुष्य नामक प्राणी की छाती में एक खिड़की होनी चाहिये थी, ताकि इसके विचार सब लोग जान जाते!' आज के हमारे अधिकांश आलोचक इस प्रकार के दोषाविष्कारक मात्र हैं। आलोचक से हमारी अपेक्षा नकारात्मकता नहीं, अपितु कुछ सहज स्वीकारात्मक उपलब्धि भी है। शुक्लजी की काव्य-परिभाषा और रस-विषयक अभिमत में यह विधायक पक्ष स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ वे रूढ़ि से अलग न होते हुए भी रूढ़ि से अलग हैं।

कविता की परिभाषा और काव्योद्देश्य के विषय में 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' (जो निबंध 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' में पहले छपा था) में उन्होंने चर्चा की है। और पश्चिम के नवीन प्रयोगों का विरोध किया, जो कि इंदौर वाले भाषण में और स्पष्ट हुआ। एक ओर तो वे कहते हैं, "काव्य-क्षेत्र में किसी 'वाद' का प्रचार धीरे-धीरे........ सामान्य धर्मात्मक सत्ता से है।" (चिन्तामणि, पृष्ठ २३७–३८)। दूसरी ओर काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था के अन्त में सत्त्वगुण को साध्य भी मानते हैं। काव्य का आदर्श 'शिवेतरक्षतये' अवश्य हो, यही उनका विश्राम। और यह शिवत्व भी ऐहिक, लौकिक शिवत्व है।

यानी महाकवि को रूढ़ लोक-नीति नियमों से विद्रोह करने की शुक्ल-जी के अनुशासन में कहीं छूट नहीं है। यदि मानवी कल्पना को परंपरा ही पीटनी है, और 'लोक-लीक' कोल्हू के बैल की तरह ही चलना है, तो उसका क्या महत्त्व। 'रसात्मक-बोध के विविध रूप, निबंध में पृष्ठ २६४ पर 'कल्पना' पर विवेचन पढ़ने पर यही लगता है कि शुक्लजी के माप-दंड 'अच्छे' साहित्य के मापदंड हैं, 'महान्' साहित्य के नहीं। 'Good Literature is not always great literature'. वाली इलियटोक्ति से शुक्लजी अनभिज्ञ थे।

हमारी ज्ञानक्रिया का सबसे महत्व का कार्य यह है कि वह विशिष्ट मनोरचनाएं (मेंटल कन्स्ट्रक्शन्स) बनाती हैं। वस्तुओं के सामान्य गुण, यथा आकार आदि से बढ़ कर देश, काल, संख्या, द्रव्य, आत्मा, सत्य, कार्यकारण आदि सब कल्पनाएँ मनोरचना के रूप में बनाता है। हमारे साहित्य, कला, विज्ञान आदि संस्कृति के मूल्यों की प्रगति इन्हीं मनोरचनाओं से होती है। मनोरचनाओं के सिद्धान्तानुसार जर्मन दार्शनिक वेहिंजर ने अपने ग्रंथ Philosophie der Als ob ('मान लो' का दर्शन) में सत्य की परिभाषा सबसे उपयोगी आभास (Truth is the most adequate illusion) कहा है। प्रो० लेअर्ड ने वेहिंजर को 'सुपर प्रैग्मैटिक' कहा है। वह स्वयं को 'तर्कशुद्ध स्वीकारवादी' मानता है। परन्तु कल्पना की या अनुमिति की यह महत्ता भी बेर्गसां ने आगे चलकर अपने अबुद्धिवाद में अस्वीकार कर दी है।

यह दार्शनिक विपर्यांतर इसलिए कि हमारे समीक्षक सत्य, कल्पना, वास्तव आदि शब्दों का इधर बड़ा ही ढीला-ढाला प्रयोग करते हैं। मनोविज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में नवनवीन अन्वेषण हो रहे हैं, उनसे शुक्लोत्तर हिंदी आलोचक बेखबर हैं, यह देखकर आश्चर्य होता है।

इसी कारण से 'काव्य में रहस्यवाद' में (पृ० ७७, चिंतामणि भाग २ पृ० २१३) जब शुक्लजी कहते हैं, "भावों के लिए आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री

से कल्पना उनकी योजना करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भावप्रसार होता है," तब आधुनिक मनोविज्ञान-सम्मत यह बात नहीं जान पड़ती। वैसे ही 'चिंतामणि' में पृ० २०९ और ३४४ पर शुक्लजी के ये अभिमत आधुनिक मनोविज्ञान के प्रकाश में बहुत चिन्त्य जान पड़ते हैं, यद्यपि शिवनाथ ने इन्हें उनकी उपज्ञात प्रतिभा का मौलिक उद्भावन माना है। वे मत हैं—"रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पृथक् कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है, बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात रूप है। और यदि भाव-व्यञ्जना में भाव अनुचित है, ऐसे के प्रति है, जैसे के प्रति न होना चाहिये, तो 'साधारणीकरण' न होगा अर्थात् श्रोता या पाठक का हृदय उस भाव में लीन न होगा।" परन्तु ये चर्चाएं बहुत विस्तार चाहती हैं।

: ३ :

शुक्लजी की अध्यापक होने के नाते सबसे सफल आलोचना, परिभाषा या सिद्धान्त के क्षेत्र में उतनी नहीं जितनी उनके निरूपित रूप में होती है। इस दृष्टि से तुलसीदास और भारतेंदु पर उनके निबंध बहुत उपयोगी हैं। 'तुलसी का भक्ति-मार्ग' और 'मानस की धर्म-भूमि' में वे तुलसी को कोरा उपदेशक नहीं परन्तु अपने आराध्य राम के शक्तिशील और सौन्दर्य का उद्गाता महाकवि मानते हैं। इन निबंधों के साथ-साथ शुक्लजी के साहित्य के अध्येताओं को उनकी पुस्तक 'गोस्वामी तुलसी-दास' पढ़नी चाहिये। तुलसी की भावुकता के प्रसंग में उन्होंने कहा है: "धर्म के उस स्वरूप को देख सब मोहित हो गये—क्या नागरिक, क्या ग्रामीण और क्या जंगली। यदि भारतीय शिष्टता और सभ्यता का चित्र देखना हो तो इस राज-समाज में देखिये। कैसी परिष्कृत भाषा में, कैसी वचन-पटुता के साथ प्रस्ताव उपस्थित होते हैं, किस गंभीरता और शिष्टता के साथ बात का उत्तर दिया जाता है, छोटे-बड़े की मर्यादा का किस सरलता के साथ पालन होता है! सब की इच्छा है कि राम

अयोध्या को लौटें; पर उनके स्थान पर भरत वन को जाँय, यह इच्छा भरत को छोड़ शायद ही और किसी के मन में हो। अपनी प्रबल इच्छाओं को लिए लोग सभा में बैठते हैं; पर वहाँ बैठते ही धर्म के स्थिर और गंभीर स्वरूप के सामने उनकी व्यक्तिगत इच्छाओं का कहीं पता नहीं रह जाता। राजा के सत्य-पालन से जो गौरव राजा और प्रजा दोनों को प्राप्त होता दिखाई दे रहा है, उसे खण्डित देखना वे नहीं चाहते। जनक, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि धर्मतत्त्व के पारदर्शी जो कुछ निश्चय कर दें, उसे वे कलेजे पर पत्थर रखकर मानने को तैयार हो जाते हैं।

"इस प्रसंग में परिवार और समाज की ऊँची-नीची श्रेणियों के बीच कितने संबन्धों का उत्कर्ष दिखाई पड़ता है, देखिए :

"१. राजा और प्रजा का सम्बन्ध लीजिए। अयोध्या की सारी प्रजा अपना सब काम-धंधा छोड़, भरत के पीछे राम के प्रेम में उन्हीं के समान मग्न चली जा रही है और चित्रकूट में राम के दर्शन से आह्लादित होकर चाहती है कि चौदह वर्ष यहीं काट दे।

"२. भरत का अपने बड़े भाई के प्रति जो अलौकिकस्नेह और भक्ति-भाव यहाँ से वहाँ तक झलकता है, वह तो सबका आधार ही है।

"३. ऋषि या आचार्य के सम्मुख प्रगल्भता प्रकट होने के भय से भरत और राम अपना मत तक प्रकट करते सकुचाते हैं।

"४. राम सब माताओं से जिस प्रकार प्रेम-भाव से मिले वह उनकी शिष्टता का ही सूचक नहीं है, उनके अंतःकरण की कोमलता और शुद्धता भी प्रकट करता है।

"५. विवाहिता कन्या को पति की अनुगामिनी देख जनक जी जो हर्ष प्रकट करते हैं—

पुत्री पवित्र किए कुल दोऊ।
सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

वह धर्म-भाव पर मुग्ध होकर ही।

"६. भरत और राम दोनों जनक को पिता के स्थान पर कह कर सब भार उन्हीं पर छोड़ते हैं।

"७. सीताजी अपने पिता के डेरे पर जाकर माता के पास बैठी हैं। इतने में रात हो जाती है और वे असमंजस में पड़ती हैं—

कहत न सीय सकुचि मन माहीं।
इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥

पति तपस्वी के भेष में भूशय्या पर रात काटे और पत्नी उनसे अलग राजसी ठाट-बाट के बीच रहे, यही असमंजस की बात है।

"८. जब से कौशल्या आदि आई हैं, तबसे सीता बराबर उनकी सेवा में लगी रहती हैं।

"९. ब्राह्मण-वर्ग के प्रति राज-वर्ग के आदर और सन्मान का जैसा मनोहर स्वरूप दिखाई पड़ता है, वैसा ही ब्राह्मणवर्ग में राज्य और लोक के हित-साधन की तत्परता झलक रही है।

"१०. केवट के दूर से ऋषि को प्रणाम करने और ऋषि के उसे आलिंगन करने में उभय पक्ष का व्यवहार-सौष्ठव प्रकाशित हो रहा है।

"११. वन्य कोल-किरातों के प्रति सबका कैसा मृदुल और सुशील व्यवहार है।

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता! जो केवल दांपत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह ही का अच्छा चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं, जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता

या पाठक के सन्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष करा सकें। हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वाङ्गपूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामीजी में ही है, जिसके प्रभाव से रामचरितमानस उत्तरीय भारत की सारी जनता के गले का हार हो रहा है। वात्सल्य-भाव का अनुभव करके पाठक तुरन्त बालक राम-लक्ष्मण के प्रभाव का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं, जिसके भीतर आत्मावलंबन का विकास होता है। फिर आचार्य विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम-पवित्र दाम्पत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरान्त अयोध्या-त्याग के करुण दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। तदनन्तर पथिक-वेशधारी राम-जानकी के साथ-साथ चलकर पाठक ग्रामीण स्त्री-पुरुषों के उस विशुद्ध सात्विक प्रेम का अनुभव करते हैं, जिसे हम दाम्पत्य, वात्सल्य आदि कोई विशेषण नहीं दे सकते, पर जो मनुष्यमात्र में स्वाभाविक है।

शिवदानसिंह चौहान की भांति प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी अपने 'नया हिन्दी साहित्य' में हिन्दी आलोचना अध्याय में रामचन्द्र शुक्ल के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पण की है। शुक्ल जी की बड़ी विशेषता यह थी कि ज्ञान के नाम पर व्यर्थ के कुहुक-कुहसि भरे छायावाद-प्रतीकवाद भरे नकली रहस्यवाद के विरोधी थे। वे साहित्य का कार्य लौकिक समझते थे। उन्हों ने 'काव्य में रहस्यवाद' में स्पष्ट कहा है (चिन्ता-मणि पृ० ६४) कि—"भारतीय काव्यदृष्टि के निरूपण में हम दिखा चुके हैं कि भारतवर्ष में कविता इस गोचर अभिव्यक्ति को लेकर ही बराबर चलती रही है और यही अभिव्यक्ति उसकी प्रकृत भूमि है। मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के भीतर ही उसका संचार होता है। "चेतना के कोने के बाहर' न वह झांकने जाती है, न जा ही सकती है।" परिणाम यह है कि वर्डस्वर्थ के 'ओड' में शुक्ल जी सच्चा रहस्यवाद (?) पाते हैं।

परन्तु शुक्ल जी फारसी कविता के मूल्यांकन में अन्याय कर गये हैं। 'काव्य में रहस्यवाद' में दो स्थानों पर उन्होंने फारस की शायरी

पर आलोचना-प्रहार या दोषाविष्करण किया है। चिंतामणि (२) में पृष्ठ १११ पर कहते हैं—'वेदना की विवृति की चाल फारसी और उर्दू की शायरी में अधिक है।' और पृ० १२६ पर "फारस की सूफी शायरी में बाह्य जगत् की सुन्दर वस्तुओं का प्रतीक 'बुत' (देवमूर्ति) रहा। बुत-परस्ती के इल्जाम के डर से भक्त कवि लोग अपने प्रेम को सीधे बुतों (प्रकृति की सुन्दर वस्तुओं) के प्रति न बताकर 'बुंतों के परदे में छिपे हुए खुदा' के प्रति बताया करते थे। फारस में बाह्य प्रकृति के सौन्दर्य-प्रसार की ओर दृष्टि बहुत कम रही।" यह बात सत्य नहीं है। उदाहरण के तौर पर मैं मसनवियों का ज़िक्र करना चाहता हूँ, जिन में विवरण-पूर्वक प्रकृति-वर्णन है और उसकी मारफत परम-सत्य का आशापूर्ण अस्तित्व स्वीकार किया गया है। ईसा की बारहवीं सदी में हुए सूफी कवि सनाई की एक कविता के अंश मैं नमूने के तौर पर अर्थ सहित देना चाहता हूँ :

अया अज़ चंबरे इसलाम दायम करदा सर बेरूँ।
ज़े सुन्नत करदा दिल ख़ारी ज़े बिदअत करदा सर मशहूँ॥
हवा हमयारा शैताने शुदा बर नफ़से तो सुलताँ।
तनन रा ज़ेह्न पैराया दिलत रा कुफ़्र पैरा मूँ॥
अगर दर एतक़ादे मन बशक्की ता बनज़्म आरम।
अता रग्मे तो दर तौहीद फ़स्ले गोशदार अकनूँ॥
तुरा पुरसीद ख़ाहम मन ज़े सिज़रें बैज़ए मुर्ग़।
चे गुस्तस्त अन्दरीं माना तुरा तलक़ीने अफ़लातूँ॥
नुबैंदी ज़र्दे मी बीनम दो आब अन्दर यके ख़ाना।
यकाँ यक ख़ाना चन्दीं गूना मुर्ग़ आयद हमीं बेरूँ॥
न गोई अज़ चे मानी गश्त' पर्रे ज़ागचूँ क़तराँ।
चे सब्ज़ें चे दुमे ताऊस रंगीं शुद चु बू क़लमूँ॥
हुमायों चुन्द रा आख़िर चे इल्लत बूद दर ख़िलक़त:
चेरा शुद दर जहाँ ई गुमो आँ शुद ई चुनीं मैमूँ।

र गोई कज़ के मी गरदद चकाक इलहाने मूसीक़ार।
न गोई कज़ चे मी मानद तदर्व अनवाए असफातूँ ॥
तफ़क्कुर कुन यके दर खिलक़ते शाहीनो मुरग़ावी।
चे गोई कज़ चे मानी रास्त ईं ज़ीं सख्त अज़ आँसूँ ॥
यके चूँ रायते सीमीं हमेशा दर हवा नाज़ाँ।
यके रा ज़ौरक़े ज़र्री रवाँ हमवारा दर जैहूँ ॥
गुरेज़ाँ ईं के चूँ गरदद वज़ाँ अज़ चंगे ऊ ऐमन।
शितावाँ आँ के चूँ रेज़द ज़े हिर्सो शहवा अज़ वै खूँ ॥
अजबतर ज़ीं हमा आनस्त कीं परिन्दा मुर्ग़ां रा।
मुरत्तब मसकने बादस्त दीगर साँनो दीगर गूँ ॥
यके रा वेशए साज़ी यके रा वादिए आँमू।
यके रा क़ुल्लए क़ाफ़ो यके रा साहिले जैहूँ ॥
यंके खुद रा वतमए आँ वगरदूँ बुर्दा चूँ क़ारूँ।
यके खुद रा ज़े बीमे आँ व आव अफ़गन्दा चूँ जुन्नूँ ॥
नगीरद बाद रा चंगाँ नशोयद आव रा रंगीं।
यके खूनीन इलमासस्त व दीगर ज़ौरक़े जैतूँ ॥
नगोई ता चेरा करदन्द फ़ेलो चंगे आँ ज़ाहन।
नगोई ता चेरा दादन्द रंगे ईं वराँ अकसूँ ॥
वगर हमचूँ मने आजिज़ दरीं मानी कि पुरसीदम।
चे गोई दर सबाते तो सराये हब्वे अफ़तीमूँ ॥
न माली हर निहाले रा चो मालस्त हस्त जावो गिल।
ज़े बहरे तफ़के खुरशीदस्त चूँ लुत्फ़े हवा मक़रूँ ॥
चेरा बर यक ज़मीं चंदीं नबाते मुख़तलिफ़ बीनम।
ज़े गुल वज़ नरगिसो वज़ यासमीनो अज़ समन मौज़ूँ।
हमेदूँ मेखुरानद आब लेकेशाँ हमी रोयद
बरंगे रंगे सिवरो सुंबुलो बारंगे मा ज़रयूँ
अगर इल्लत तवाए शुद वजूदे जुमला पस चूँ शुद

यके मुसमिक यके मीलो यके आरद यके ताहूँ ॥
अज अंगूरुतो खशखाशस्त अस्ले उनसुरे हरदो ।
चेरा दानिश बरद बादा चेरा खाब आवरद अफ़यूँ ॥
हमाना ई कि मन गुफ़तम तबाए कर्द न तवानद ।
न अफ़लातूनो न अंबर व ज़रको हीलओ अफ़सूँ ॥

हे मनुष्य ! तूने सच्चे धर्म का त्याग कर दिया है। उसके पवित्र नियमों को छोड़ कर इन्द्रियों का दासत्व स्वीकार कर लिया है।

तेरे सिर पर सदैव शैतान सवार रहता है और धर्म्म-विरुद्ध आचरण करने तथा अपनी इच्छाओं को पूरा करने में तुझे अतीव आनन्द आता है।

यदि तुझे मेरे विश्वास के प्रति कोई सन्देह है तो मैं तेरे सम्मुख कविता की कुछ पंक्तियां कहता हूं। यह उसके प्रति विश्वास प्रकट करती हैं। इन्हें ध्यान से सुनना।

मैं तुझ से चिड़िया के अण्डे का राज़ पूछता हूँ। बता, अफ़लातून ने इस विषय में क्या कहा है?

मैं देखता हूं कि एक अण्डे के अन्दर सफेद और पीले, दो तरह के पानी हैं, और इसी अंडे से सैंकड़ों प्रकार के पक्षी उत्पन्न होते हैं।

अब यह बता कि कौवे के पर काले क्यों हुए और मोर की पूँछ रंग-बिरंगी क्यों हुई? उसमें इतने रंगों का समावेश होने का क्या कारण है?

उल्लू और हुमा के जन्म में क्या खराबी है, जिसके कारण उल्लू को लोग बुरा मानते हैं और हुमा का देखना शुभ शकुन समझा जाता है।

पपीहा को ऐसे मधुर स्वर में सुन्दर राग अलापना कौन सिखाता है, और चकोर को इतने सुन्दर वस्त्र पहनने को कौन देता है?

फूलों और सुगंधियों की तरफ ध्यान से देख कर बताओ कि इन में इतना अन्तर किस प्रकार हुआ? किसने उनकी रचना में इतना भेद डाल दिया?

जिसके कारण एक रुपहले झण्डे के समान वायु में फहराती रहती है और दूसरी एक सुनहली नाव के समान पानी में तैरा करती है।

मुर्ग़ाबी शाहों के पन्जे से अपने प्राण बचाने के लिए छिपती फिरती है, और शाहें उनका रक्त बहा कर और उनको खाकर अपनी क्षुधा शान्ति करने के उद्योग में लगी रहती हैं।

इससे भी अधिक आश्चर्य की एक दूसरी बात है। यह दोनों पक्षी वायु में रहने वाले हैं। परन्तु इस पर भी भिन्न-भिन्न हवाओं में रहते हैं।

किसी को जंगल की हवा भली मालूम होती है और किसी को जलाशयों के किनारे की वायु लाभदायक है। कोई-कोई क़ाफ पर्वत की चोटियों पर रहना पसन्द करती हैं और कोई नदियों के किनारे।

एक पक्षी दूसरे का शिकार करने के लिए आकाश में चक्कर लगाया करता है और दूसरा उसके भय से नदी में जाकर छिप रहता है।

शिकारी पक्षी का कठोर पन्जा वायु को थामने में असमर्थ है। और जल-पक्षियों का रंग नदी के पानी से नहीं धुलता।

बताओ किस कारण शिकारी पक्षी का दिल इतना कठोर है और पन्जा इतना दृढ़ तथा जल के पक्षी का रंग इतना सुन्दर ?

अच्छा, यदि इस विषय में तुम भी मेरे ही समान अनजान हो और इन समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ हो तो अपने साँसारिक रहन-सहन को देखो, और समझो।

जब सूर्य तपता है, और हवा गरम होती है, तो तुम वृक्ष की छाया की शरण क्यों लेते हो ? यह इसलिये कि तुम मिट्टी तथा पानी के संयोग से उत्पन्न हुए हो और इसीलिये चित्त को प्रसन्न करने वाली हवा की भी आवश्यकता है।

फिर यह बताओ कि पृथ्वी पर नाना रंग की वस्तुएं क्यों उत्पन्न

प्रकार बताया गया है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे।

—काव्यप्रकाश : मम्मट

काव्य के निर्माण होने में हेतु—कारण—इस प्रकार कथित हुआ है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

—काव्यप्रकाश : मम्मट

शक्ति (प्रतिभा), निपुणता (अध्ययन) और अभ्यास—ये तीनों मिल कर काव्य रचना के आधार हैं।

लेकिन प्रश्न यह नहीं है कि काव्य से लाभ क्या हैं अथवा किन उपकरणों की सहायता या सहयोग से कवि काव्य-रचना में सफल होता है। प्रश्न तो यह है कि कविता लिखने की इच्छा उसे होती ही क्यों है?

फलतः हम इन धारणाओं को पाते हैं। प्रथम—कविता का मूल दुःख है। दुःख से ही काव्य-कला का जन्म इसलिए हो सकता है कि दुःख मानव की गम्भीरतम संवेदनाओं में से है और तत्काल आत्माभिव्यक्ति की याचना करता है कि मनुष्य दुःख बाँट कर भोगना चाहता है। इसी हमदर्दी, सहानुभूति की प्यास के कारण कवि (एक अत्यन्त संवेदनशील और परदुःखकातर कोमल हृदय वाले व्यक्ति) को कविता करने (संगीत के स्वरों में अर्थपूर्ण शब्दों के सहारे दुःख की अभिव्यञ्जना करने) की इच्छा होती है। यही काव्य-रचना की प्रेरणा है।

इन पंक्तियों को देखिए—

वियोगी होगा पहला कवि
आह से निकला होगा गान।

निकल कर आहों से चुपचाप
वही होगी कविता अनजान ॥ —पन्त

और सचमुच जिन्हें हम आदिकवि के रूप में जानते हैं उनकी (वाल्मीकि की) प्रथम पंक्तियाँ दुःख की अत्यन्त तीव्र अनुभूति की ही प्रतिक्रिया थीं—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

द्वितीय धारणा—काव्य की मूल प्रेरणा है निरुद्देश्य आनन्द की प्रवृत्ति । विश्व के सौन्दर्य (आलंबन) की जो आनन्दमयी प्रतिक्रिया (भाव-रस) कवि के हृदय में होती है उसे वह अपने ही मन के अन्दर रखने में असमर्थ हो जाता है । कवि स्वभावतः, अनिवार्यतः, उससे दूसरों को भी अभिषिक्त करना चाहता है । वह जो स्वप्न देखता है, दूसरों को भी दिखाना चाहता है । इसी में काव्य-रचना की मूल प्रेरणा है ।

प्राचीन भारतीय आचार्य काव्य-रचना को एक कृत्रिम चेतन व्यापार के रूप में मानते हैं जिसकी प्रेरणा उसकी उपयोगिता है । काव्य-रचना सोद्देश्य है । पाश्चात्य विद्वान् काव्य-रचना को मानव की किसी न किसी नैसर्गिक प्रवृत्ति का प्रतिफलन मानते हैं जो उपयोगिता-निरपेक्ष है । वस्तुतः दोनों अत्यान्तिक सीमाओं पर हैं । यदि हम इन विचारों के सन्तुलित अध्ययन के आधार पर काव्य-प्रेरणा के मूल की खोज करें तो निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं—

(क) कविता की मूल-प्रेरणा मानव की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियों में ही निहित है, लेकिन इनमें से सभी प्रवृत्तियाँ उद्देश्य-निरपेक्ष नहीं हैं ।

(ख) ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) बाह्य विश्व (विभाव) से अन्तःकरण के प्रभावित (भावोद्रेक) होने की प्रवृत्ति ।

(२) अन्तरात्मा पर पड़े प्रभावों की अभिव्यञ्जना की प्रवृत्ति। इसी में आत्म-प्रसार का तत्त्व निहित है। अभिव्यञ्जना सोद्देश्य एवं पाठक सापेक्ष है।

(३) अभुक्त-काम की मानसिक तृप्ति के प्रयास की प्रवृत्ति।

(४) अपूर्णता से पूर्णता की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति।

रसानुभूति के स्वरूप और रस के प्रयोजन का अपने आप में बहुत कम अर्थ रह जाता है। जब सद्गुण, सामाजिक आशय, साधारणीकरण आदि शब्दों का हम व्यवहार करते हैं तब हम किसी संस्कृति के अनुबन्ध का, यानी देश-काल-परिस्थितिगत मानवी अनुभूति का भी अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख करते हैं। 'रसो वै सः' वाले वेदवचनों का तो आज युग नहीं रहा, क्योंकि 'सः' की परिभाषा ही बदल गयी है और व्यक्ति-व्यक्ति के अनुसार या वर्ग-वर्ग के अनुसार वह भिन्न हो गई है। 'पंचदशी' आदि वेदान्त ग्रन्थों में कहा गया है कि सारा माधुर्य परमेश्वर-प्रणीत है। और मम्मट का 'ब्रह्मानन्दसहोदर' भी इसी अद्वैत-मत से लिया गया है। महान् साहित्यकार या कलाकार स्थल-काल-व्यक्ति-वैचित्र्य के मोम को छोड़कर भाव-मधु मात्र ग्रहण करते हैं और उसे प्रेषणीय बनाते हैं। नरसिंह चिंतामण केलकर ने कलाकार के एक ही समय पर अपने, निजी और साथ ही दूसरे के, परात्म अनुभव को एक साथ ग्रहण करने की विशेष मनोदशा को 'सविकल्प समाधि' कहा है। संस्कृत-साहित्य-शास्त्रियों की काव्य की ओर देखने की छः दृष्टियों में 'रस' सर्वप्रथम, भरत के प्रसिद्ध सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' पर आधारित है। इस पर आगे वेदान्ती, मीमांसक, नैयायिक और वैयाकरण लोगों ने चार तरह की टीकाएँ लिखी हैं और रस-संप्रदाय की चार शाखाएँ बनीं। भामह के अलंकार संप्रदाय, वामन के रीति-संप्रदाय, आनंदवर्धनाचार्य के ध्वनिसंप्रदाय, कुन्तक के वक्रोक्तिसंप्रदाय और क्षेमेन्द्र के औचित्यसंप्रदाय से अधिक 'रस-संप्रदाय' को बाद में माना जाने लगा। और सामंती दासता का नाग-

पाश ज्यों-ज्यों कसा जाने लगा त्यों-त्यों रस और ध्वनि संप्रदाय परस्पर निगडित होने लगे। रससंख्या पर भी विवाद मचा। किसी ने 'शान्त' और किसी ने 'प्रेयान्', 'वत्सल', 'उदात्त' रस भी रस-संख्या में गिने। और जब 'स्वभावोक्ति' को एक 'काव्यालंकार' मात्र मानने की वृत्ति बढ़ी और मम्मट ने 'निरलंकृती पुनः क्वापि' तक कह दिया तब प्राकृतिक वर्णनों से प्राप्त आनन्द को एक नया रस मानने की प्रवृत्ति बढ़ी। 'वीभत्स' को रस न मानने का भी सुझाव है। कुछ लोग इन रसों में क्रम लगाने की ओर झुके। और भवभूति के 'रसेषु करुणो रसः' के अनुसार शेली के 'स्काइलार्क' की प्रसिद्ध पंक्तियों की उद्धरणी होने लगी। यह औद्योगिक क्रान्ति के बाद यंत्र-युग में प्रारम्भिक रोमैंटिकों के स्वप्न-भंग की अवस्था की द्योतक पंक्तियाँ हैं। महादेवी में भी 'पीडा में तुझको ढूँढा, तुझमें ढूँढूँगी पीडा' इसी अर्थ में है।—

We look before and after
And pine for what is not
Our sincerest laughter
With some pain is frought
Our sweetest songs are those
that tell of saddest thought.

'वेदने ! तू भी भली बनी ?' यह नयी वेदना वैयक्तिक प्रेम-भंग की निजी वेदना मात्र नहीं थी। रवीन्द्रनाथ की 'आमार माझारे रो...केउ विरहिणी' की अनुभूति और पंत की 'वियोगी होगा पहिला कवि' इसी घटना के परिणाम हैं। बंगाल के भक्त 'रूपगोस्वामी' अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' में भक्ति को सर्वश्रेष्ठ रस मानते हैं। और कुछ लोगों की प्रवृत्ति तो अब 'अद्भुत' को यानी काव्य के चमत्कारित्व को ही प्रधान मानने की ओर है। मराठी के रसशास्त्रविदों में चिपलूणकर ने 'उदात्त', महादेव मल्हार जोशी ने 'विनोद', आत्माराम रावजी देशपांडे ने

'प्रक्षोभ' और आचार्य जावडेकर ने 'क्रान्ति' नाम के नये रस जोड़ने के सुझाव इस शती के आरम्भ से अब तक दिये हैं।

सच बात यह है कि अब 'रस' शब्द को इतना अधिक घसीटा गया है कि,—इतना अधिक माँजा गया है कि उसका मुलम्मा उड़ गया है। डाक्टर माधव गोपाल देशमुख ने विदर्भ साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से १९५० में कहा था कि रस शब्द प्रस्तरीभूत हो गया है। पुराने नये काव्य-मीमांसक रस का ही चर्वण कर रहे हैं क्योंकि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' यह गृहीत-तत्त्व ही भ्रामक है। इस कल्पना के आक्रमण से हृद्य काव्य भी 'अकाव्य' हो जाता है। इस नये काव्य को अपनी चौखट में बैठाने के लिए हम रसों की नौ की संख्या में वृद्धि करते हैं या तैत्तिरीय उपनिषद् के 'ब्रह्मानंदसहोदर' का संश्रय लेते हैं। प्रजातांत्रिक युग में जनसाधारण की आकांक्षाएँ व्यक्त करने वाले, क्षणिक 'रसाभास' कहे जाने वाले अनुभाव भी कल्पकता से वर्णित होते हैं, उन्हें यह 'अलौकिक चमत्कार' वाला ब्रह्मानंद समझ में नहीं आता। डाक्टर माधवराव पटवर्धन ने इसलिए 'रसव्यवस्था का वैयर्थ्य' नाम से निबन्ध लिखा था। वस्तुतः 'रस' शब्द की अपेक्षा 'भावगंध' शब्द प्रयुक्त करना चाहिए। सब कलाओं का मूल, 'कविस्तु सामाजिकतुल्य एव', 'भाव' ही है। भरत ने भी कहा था 'न भावहीनोऽस्ति रसः न भावो रसवर्जितः'। पाश्चात्य काव्यमीमांसा में 'फीलिंग', 'इमोशन' अथवा 'एक्स्प्रेशन' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और सौन्दर्यशास्त्र में भी ललित कलाओं का मूलतत्व सौंदर्यसंवेदनक्षमता (एस्थेटिक सेन्सेबिलिटी) और सौंदर्यभाव (एस्थेटिक इमोशन) निश्चित किया है। 'भाव' ही कलामूलगामी है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ऐसी पंचविध प्रतिमाएँ (इमेजेज़) काव्य के सूक्ष्म उपकरण हैं। 'इंद्रियेभ्यः परं' मन को ही सब कलाओं का अनुभव होता है। परन्तु यह मन ज्ञानेंद्रिय से प्राप्त अनुभव का निर्देश प्राप्त करता रहता है। सोवियत कलामीमांसक बुखारिन इसीलिए कहा था कि 'पोएटिक थॉट इज़ थॉट इन टर्म्स ऑफ़ इमेजे

(काव्यनिष्ठ विचार प्रतिमाओं की संज्ञा से किया विचार है)। भावप्रतीति का अर्थ है इन्हीं प्रतिमाओं के सहारे पुष्पित कलाकार की भाव-सृष्टि का गंध या परिमल हृदयसंवाद द्वारा कलासंवादक के मन पर संक्रमित होना।

'सुधांशु' जी ने भी अपनी रस-विषयक चर्चा अंततः व्यक्ताव्यक्त भाव, भावसंकेत, भावविश्लेषण से समाप्त की है और यह कहा है कि 'रस पर नवीन ढंग से विवेचन करने की बड़ी आवश्यकता है।' (पृ० ८४)

३. प्रतीक और उपमान

उक्त विषय पर 'सुधांशु' जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। 'हासिल' 'बतर' (सन्याली), भयंकर शब्दों का उदाहरण देकर उसमें से उद्भूत भावोत्पादक और विचारोत्पादक संकेतों का पृष्ठ ११६ पर विवेचन है। शब्द काव्य का प्रधान माध्यम है। उसके व्यंग्यार्थ या ध्वनि-संकेत पर बहुत-कुछ निर्भर है। इस सम्बन्ध में मैं कुछ और विवेचन देना चाहता हूँ।

२६ सितम्बर १६४६ को महाराष्ट्र-साहित्य-परिषद् के व्याख्यानसत्र का अन्तिम भाषण मराठी के नव-कवि और सौन्दर्यशास्त्रज्ञ बा० सी० मर्ढेकर ने दिया था। उन्होंने अपने भाषण में शब्दशक्ति की इस विलक्षणता पर बहुत अच्छा विवेचन किया है। वे कहते हैं—समर्थ रामदास ने कवियों को 'शब्दों का ईश्वर' कहा है। और 'केवल शब्द-ज्ञान है, परन्तु आत्मा का मन कभी नहीं दिखाई देता' यह शिकायत बालकवि ने शब्दों के द्वारा ही की है। शब्द साहित्य के परमाणु या 'एटम' हैं। इन शब्दों का उपयोग आदरपूर्वक और सावधानी से करना चाहिए। शब्दों का स्वरूप बहुत सूक्ष्म और कोमल होता है। उतनी ही सूक्ष्मता और कोमलता से उनका प्रयोग करना चाहिए। आजकल के समाचारपत्र-युग में, संज्ञाशक्ति के प्रवाह में शब्द बेचारे गोलमटोल शालिग्राम जैसे पत्थर हो जाते हैं। जैसे 'ट्री' या 'पेड़' साधारण ग

पत्थर जैसे शब्द हैं। इससे उलटे 'एक्सिक्विज़िट' या 'भयंकर' जैसे शब्द हैं, जिनकी कई प्रकार की अर्थछटाएँ होती हैं। उदाहरण के लिए ऐसे विशेषणों में 'अॅलोन' शब्द लें। कोलरिज ने कहा है—

Alone, *alone*, all all *alone*,
Alone on a wide wide sea,
And never a saint took pity on
My soul in agony. (*Ancient Mariner*)

इस के साथ ब्राउनिंग का एक अपरिचित उदाहरण 'सार्डेलो' से देखिये—

Amid his wild wood sights he lived *alone*.

आधुनिक कवियों में हाउसमन् ने भी उसी शब्द का प्रयोग किया है और टी० एस० ईलियट ने भी, परन्तु कितना अन्तर इन चारों के प्रयोगों में है!—

The weaping pleiads wester,
And I lie down *alone*. और
When you are *alone* in the middle of the night
And you wake in a sweat and a hell of a fright
When you are *alone* in the middle of the bed
And you wake like someone hit you on the head.

इन उदाहरणों के बाद मराठी से कई उदाहरण देकर मर्ढेकर ने कहा है कि काव्योचित अनुभूति-प्रसार व्यक्त करने वाले शब्द हैं—

(१) प्राथमिक गुणों के नामों को छोड़ अन्य सब विशेषण और विशेषणवाचक शब्दसमुच्चय।

(२) काल-स्थलदर्शक क्रियाविशेषण को छोड़ अन्य सब क्रियाविशेषण।

(३) केवल अस्तित्त्वदर्शक विधेयक क्रियाएँ छोड़कर अन्य सब क्रियाएँ।

में एक सुपाठ्य निबन्ध लिखा है। उसमें लिखा है कि सच्ची अनुभूति की अव्यक्तता के कारण रहस्यवादी सन्तों ने अपनी अनुभूति प्रायः प्रतीक, अध्यवसित रूपक, रूपक आदि के सहारे व्यक्त की है। कोश-ग्रंथों के अनुसार 'प्रतीक' अवयव वा अंग (अमर) और प्रतिरूप (मेदिनी) के अर्थों में आया मिलता है। साहित्य में व्यवहृत प्रतीक अदृश्य के दृश्य चित्रण होते हैं। शिवनाथ के अनुसार प्रतीक चार प्रकार से प्रयुक्त होता है—

(१) सर्वदेश और सर्वकाल में प्रचलित श्रेणी।
(२) एक देश की सभी कालों में प्रचलित श्रेणी।
(३) एक देश के एक काल में प्रचलित श्रेणी।
(४) एक देश के एक व्यक्ति के जीवन में प्रचलित श्रेणी।

चतुर्थ श्रेणी का उदाहरण मैं छाया को लेता हूँ, जिसे श्री सुमित्रा-नन्दन पन्त ने सर्वत्र माया का प्रतीक माना है। शिवनाथ के अनुसार सुधांशु जी की स्थापना के विपरीत प्रतीक का सम्बन्ध परम्परा से है। यों प्रतीक को अन्यापदेश (एलेगरी) मानकर धर्म, दर्शन, भक्ति के क्षेत्र में निराकार की साकारोपासना को प्रतीक माना है। वे लिखते हैं—"श्रौत ग्रन्थों में प्रतीकोपासना का उल्लेख भी मिलता है। इनमें मन ब्रह्म, आदित्य ब्रह्म, नाम ब्रह्म आदि का वर्णन है। मन, आदित्य, नाम आदि ॐ, तत् सत् आदि के प्रतीक हैं।...तन्त्र-सम्प्रदाय के अन्तर्गत जो त्रिकोण, चतुष्कोण, षट्कोण तथा ऐसे ही अन्य प्रकार के मन्त्र निर्धारित किए गये हैं वे भी एक प्रकार के प्रतीक ही हैं।" १८८० के बाद फ्रांसीसी साहित्य में मलार्मे, पाल वालेरी आदि कवियों का जो 'प्रतीकवादी' आन्दोलन चला, उसका प्रभाव इंग्लैंड और बेल्जियम के साहित्य पर भी पड़ा, इस बात का उल्लेख उन्होंने किया है। परन्तु यह आंदोलन प्रकृतिवाद की प्रतिक्रिया में था, इतना ही कहा है। पुराने और नये प्रतीक-विधान में क्या मौलिक अन्तर आ गया है, यह आपने स्पष्ट नहीं किया है।

प्रतीकवाद और प्रभाववाद यथार्थवाद की प्रतिक्रिया में प्रयुक्त हुए। मैकार्थर ने अपने 'सिंबालिज़्म' ग्रंथ में इस की विशद व्याख्या की है। काडवेल के शब्दों में 'जीवन की तीव्रता के कारण, दिन-ब-दिन समष्टिरूप में मनुष्य के लिए जो शब्द और तदंगभूत मूल्य कम-कम अर्थवान् होते जाते हैं उनका प्रयोग करने पर कवि बाध्य होता जाता है, क्योंकि वह ऐसे ही शब्दों पर अपना ध्यान केन्द्रित करता जाता है, उसकी अनुभूति उसपर यह आन्तरिक बल डालती है। अभिव्यंजना के इसी स्वरूप पर एक ओर दोबोल्यनोव जैसे सोवियत सौंदर्य-समीक्षक अपने 'रूसी लोकतन्त्रात्मक साहित्य समीक्षा' ग्रंथ में पृ० ४५७ पर कहते हैं कि "सच्चे यथार्थवादी की रचना में प्रत्येक वस्तु अथवा घटना अपने अन्दर व्यष्टि और समष्टि के ताने-बाने की बिनाई में अनेक प्रकार की अंगभूत चीज़ों की व्यंजना करती जाती है; उसमें शारीरिक और मानसिक, वैयक्तिक और सामाजिक महत्त्व की चीज़ों का समाहार होता है।" दूसरी ओर रिचर्डस ने अपने 'मीनिंग आफ़ मीनिंग' में कहा है— "Symbols direct and organize, record and communicate. In understanding what they direct and organize, record and communicate, we have to distinguish as always between thoughts and things". (प्रतीक संकेत-निर्देश करते हैं और अनुभूतियों का संगठन भी। वे प्रेषण और पंजीपन दोनों करते हैं। इस प्रक्रिया में विचार और वस्तु में सदा अन्तर करना चाहिए।)

वस्तुतः प्रतीक-योजना 'कल्पना' पर आश्रित क्रिया है और उसके लिए व्यक्तित्व के अचेतन, अर्द्धचेतन स्तरों का अध्ययन आवश्यक है। 'आर्ट एंड द अनकाशस' ग्रथ म जॉन थारबोर्न ने 'कल्पना' अध्याय में इस का विस्तृत विश्लेषण करके कहा है कि कवि के चेतन और अचेतन प्रेरणा-स्रोतों के बीच एक 'चयनकर्त्री एकाग्रता' (Selective Meditation) होती है। वस्तुतः फ्रायड की स्वप्नमीमांसा समीक्षा

के लिए अपूर्ण है। युग की 'भविष्यदर्शिनी स्वप्न-शक्ति' प्रतीक के मूल में होती है। इस ओर आधुनिक समीक्षकों का ध्यान गया है।

४. वाच्यार्थ में काव्यत्व

सुधांशु जी लिखते हैं—"काव्य का सौन्दर्य लक्षणा से अवश्य बढ़ता है, पर उसका भी वाच्यार्थ ही लेना पड़ता है। लक्षणा का वाच्यार्थ प्रायः व्याहत तथा बुद्धि को अग्राह्य हुआ करता है, पर अर्थ की इसी अयोग्यता में काव्य का सौन्दर्य छिपा रहता है। साधारणतः वाच्यार्थ के बाधित तथा अनुपपन्न होने पर अन्य शब्द-शक्तियों की सहायता ली जाती है, किन्तु वह चाहे लक्षणा हो या व्यंजना, काव्य की रमणीयता तथा विचित्रता के लिए वाच्यार्थ ही चाहिए। लक्षणा का वाच्यार्थ के स्वरूप में काव्य का सौन्दर्य च्युत अवश्य होता है, पर उसमें बद्ध नहीं हो जाता। आधुनिक कविताओं में यह विशेषता कुछ-कुछ देखी जाती है।" ('काव्य में अभिव्यंजनावाद', पृ० १४२)

ये विचार भी विवाद्य हैं। इनके विषय में दो मत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए मैं सोवियत कवि माइकोवस्की की कविता का एक टुकड़ा देता हूं। माइकोवस्की का उदाहरण मैं विशेष रूप से इसलिए ले रहा हूं कि इस कवि में सर्वाधिक गद्यप्राय स्पष्टार्थबोधी वाच्यार्थ मिलता है। 'पतलून पहने मेघ' कविता-संग्रह में प्रेम के विषय में उसकी यह उक्ति है। मूल रूसी है—'तेलो त्वोई

बुदु बेरेश इ ल्यूबित
काक सोल्दात, ओमुब्लेन्नी वोइनोयू
नेनुज्शनी, निशी,
बेरेज्श्केत
स्वोयू एदिनस्त्वेन्नुयू नोगु।

(अर्थ है—तुम्हारी देह को मैं इस तरह से पालूंगा और इस प्रकार

से प्रेम करूंगा ज्यों किसी युद्ध में विकलांग, अकर्मण्य और अविजित सैन्य अपने शेष एकमात्र पैदल को सयत्न रखता है।)

"अर्द्धजागृत अवस्था में बिछाने में मैंने यह लिखा। उसके बाद अन्धकार में एक सिगरेट-बक्स पर बुझी दियासलाई से लिखा—'केवल एक पैदल !' उसके बाद सो गया।" यह वर्णन स्वयं माइकोवस्की ने दिया है ('कविता कैसे लिखी जाती है ?' नामक 'नोवी मीर' में ई० १६२५ में लिखे लेख में)।

माइकोवस्की का उदाहरण मैंने केवल इसलिए दिया कि निरे वाच्यार्थ में लिखने वाले पोस्टर-शैली के हमारे नवीन प्रगतिशील कविगण (जो उस सोवियत कवि का अनुकरण करते हैं) भी व्यंग्य से बच नहीं सकते। वस्तुतः शब्द का महत्व काव्य में है ही इसलिए कि वह वाच्यार्थ न रहकर उससे अधिक और भिन्न कुछ रूप ग्रहण करे।

यों 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' पुस्तक में कुछ मतभेद के स्थल होने पर भी हिन्दी में वह अपने ढंग की एकमात्र पुस्तक है। सौन्दर्य-शास्त्र में काम में आने वाले मनोविश्लेषण का हिन्दी में वह प्रथम प्रयत्न है कि जिसके सहारे एतद्विषयक युरोपीय चिन्तनधारा को अच्छी तरह समझा जा सके।

वैसे 'वाच्यार्थ में काव्यत्व' की स्थिति के बारे में ऐकमत्य न पूर्व में रहा है न पश्चिम में। नैषध की वह प्रसिद्ध उक्ति याद आती है जिसमें विदर्भ की राजधानी दमयन्ती की नगरी का वर्णन है। उसमें कहा गया है 'प्रतिहट्टपथे घरट्टजा पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।' अर्थात् "प्रत्येक चौराहे पर सतुए की चक्की है, जो पथिकों को बुलाती है। दूसरी ओर बादल जाने के लिए उकसा रहे हैं। इन दोनों के बीच झगड़ा है। झगड़े की घर-घर ध्वनि है, वह आज तक नहीं छूटी।"

इसी विषय में पश्चिम में, जहाँ काव्य की अभिधा पर आग्रह रखने के कारण वर्ड्स्वर्थ की कविता को 'टुकड़ों में कटा गद्य' तक कहा गया

था, व्यंग्यार्थ की क्या स्थिति है, दृष्ट दर्शनीय है। प्रो० भोलाशङ्कर व्यास ने अपने लेख 'पाश्चात्य विद्वान् एवं शब्दशक्ति-व्यञ्जना' में लिखा है—

''पाश्चात्य विद्वान् व्यञ्जना जैसी शब्द-शक्ति नहीं मानते फिर भी व्यंग्यार्थ को अवश्य मानते हैं। पाश्चात्यों के 'एल्यूज़न' तथा 'डबल सेन्स' को हम व्यंग्यार्थ का एक रूप मान सकते हैं। 'एल्यूज़न' लाक्षणिक प्रयोग से विशेष संश्लिष्ट रूप में प्रयुक्त होता है, तथा इसी में विशिष्ट लाक्षणिक प्रयोग की मनोवृत्ति निहित रहती है। फिर भी अरस्तू में अथवा एलेग्ज़ेंड्रियन साहित्य-शास्त्रियों में इस प्रकार का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। क्विंतीलियन ने 'एल्यूज़न' के विषय में कुछ प्रकाश अवश्य डाला है। क्विंतीलियन के मतानुसार यह प्रयोग उस प्रकार का विपरीतार्थक नहीं है जैसा 'आइरनी' में होता है, किन्तु यह तो उसी वास्तविक अर्थ में निहित होता है जिसकी प्रतीति कवि कराना चाहता है। दुमार्से में दो अलङ्कार ऐसे मिलते हैं जो सामान्य रूप से 'एल्यूज़न' से सम्बन्धित हैं। इनमें एक तो 'एलेगरी' है दूसरा 'विशिष्ट प्रकार का 'एल्यूज़न' (प्रॉपर एल्यूज़न) है। इनके विषय में दुमार्से ने कहा है :—'एलेगरी' का मेटेफर से अत्यधिक सम्बन्ध होता है। यह वही नहीं है जो कि मेटेफर से प्रतीत होता है। यह वह अर्थाभिव्यक्ति है जिसमें सर्वप्रथम मुख्यार्थ की प्रतीति होती है तथा जिससे वे समस्त अन्य वस्तुएँ प्रतीत होती हैं जिनका प्रयोग कोई व्यक्ति मनोवृत्ति को व्यक्त करने के लिये करता है, साथ ही जो दूसरे अनभिवाञ्छित अर्थ की बुद्धि को उत्पन्न नहीं करता।

''एल्यूज़न तथा शाब्दी क्रीड़ा (ल जू द मो) का एलेगरी से घनिष्ठ सम्बन्ध है। एलेगरी में स्पष्ट रूप में तो एक अर्थ की प्रतीति होती है, किन्तु साथ ही किसी दूसरे अर्थ की मनोवृत्ति की भी व्यञ्जना होती है। यह व्यञ्जना अधिकतर एल्यूज़न या शाब्दी क्रीड़ा के द्वारा ही होती है। यह व्यंग्यार्थ प्रतीति जो मुख्यतः किसी-न-किसी भाव (अर्थ) से

सम्बन्धित है, मेटेफर पर आश्रित रहती है। यही 'एल्यूज़न' है। इस प्रकार पाश्चात्यों के 'एल्यूज़न' में हम लक्षणामूलक तथा अर्थमूलक व्यंग्यार्थ का समावेश कर सकते हैं। शाब्दी क्रीड़ा से जहाँ भिन्नार्थ प्रतीति भी होती है, उसे हम शाब्दी अभिधामूला व्यञ्जना के समकक्ष मान सकते हैं। फिर भी गौर से देखने पर प्रतीत होता है कि वाच्यार्थ पर तथा द्वयर्थक शब्दों के प्रयोगों पर आश्रित व्यञ्जना ठीक उसी ढंग पर पाश्चात्य साहित्य में नहीं मिलती। इसका प्रमुख कारण भाषाओं की अभिव्यञ्जना-प्रणाली तथा शब्द-समूह का भेद है।"

"पाश्चात्य दार्शनिकों में फिर भी एक स्थान पर एक ऐसी शक्ति का संकेत मिलता है जिसे हम व्यञ्जना के समान मान सकते हैं। वैसे शुद्ध रूप से यह वस्तु शक्ति तो नहीं, किन्तु जिस प्रकार व्यञ्जना में वक्ता के अभिप्राय का विशेष स्थान है, उसी प्रकार इसमें भी वक्ता के अभिप्राय का विश्लेषण हुआ है। यह शक्ति—यदि इसे शक्ति कहना अनुचित न हो तो—स्टाइक दार्शनिकों का 'तो लेक्तोन' है। इसका अनुवाद अधिकतर लोग अर्थ या अभिव्यक्ति (मीनिंग ऑर एक्सप्रेशन) से करते हैं। जेलर के मतानुसार "तो लेक्तोन विचारों का सार है—विचार का ग्रहण हम (यहाँ पर) अपने सीमित रूप में करते हैं, जब वह बाह्य पदार्थ से जिससे उसका सम्बन्ध है, भिन्न होता है, साथ ही उसकी व्यञ्जक ध्वनि (शब्द) से तथा उसको प्रकट करने वाली मनःशक्ति से भी भिन्न होता है।" जेलर वस्तुतः तो लेक्तोन का वास्तविक रूप देने में समर्थ नहीं हो सका है। स्टाइक दार्शनिकों के इस शब्द का स्वरूप हमें कुछ बाद के लेखकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है। अरस्तू के टीकाकार एमोनियस ने बताया है कि जिस वस्तु को स्टाइक दार्शनिकों ने 'लेक्तोन' नाम दिया है, वह मन तथा पदार्थ के मध्य में स्थित है।

"स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् व्यंग्यार्थ जैसी वस्तु को खूब समझते हैं, चाहे वे इसकी अनुभूति के लिए अलग से शक्ति न मानते हों। काव्य में इस व्यंग्यार्थ की महत्ता को वे खूब समझते हैं। इसी सम्बन्ध

में अरस्तू के टीकाकार एमोनियस के शब्द उद्धृत कर सकते हैं—"शब्द की दो स्थितियाँ होती हैं। एक उसके श्रोता की दृष्टि से, दूसरी उस वस्तु की दृष्टि से जिसका बोध वक्ता श्रोता को कराना चाहता है। श्रोता के सम्बन्ध की दृष्टि से, जिसके लिए शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है, यह शब्द अलङ्कार-शास्त्र या काव्य के क्षेत्र से सम्बन्धित है, क्योंकि वे अधिक प्रभावशाली शब्दों को ढूंढा करते हैं, साधारण प्रयोग में आने वाले शब्दों को नहीं। किन्तु जहाँ तक शब्द का वस्तुओं से स्वयं से सम्बन्ध है, यह प्रमुखतः दार्शनिक के अध्ययन का क्षेत्र है, जिसके द्वारा वह मिथ्याज्ञान का खण्डन करता है तथा सत्य को प्रकट करता है।"

जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त

१. आत्म-भाव और काव्य-विधान

'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' ग्रन्थ में श्री लक्ष्मी-नारायण 'सुधांशु' ने पृष्ठ ४२ पर लिखा है—"जीवन के बिना सौंदर्य की सत्ता भी अच्छी तरह प्रकट नहीं हो सकती।....काव्य में कलाकार अपने आत्म-भाव को स्रष्टा के अनुरूप ही रखता है। सृष्टि में ब्रह्म की जो व्यापक सत्ता है, वही काव्य में कवि की रहती है। सृष्टि के अणु-परमाणु में ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु वह लक्षित कहीं भी नहीं होता। काव्य के वर्ण-वर्ण में कवि का आत्म-भाव परिव्याप्त रहता है, किन्तु वह स्पष्ट कहीं भी लक्षित नहीं होता।"

सुधांशु जी का 'आत्म-भाव' से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट नहीं होता। क्योंकि कहीं वह आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त है, कहीं शक्ति के जैविक अर्थ में। पृष्ठ ४५ पर उन्होंने लिखा है—"मनुष्य का जो आत्म-भाव है, वह जीवन की परम्परा से सर्वथा भिन्न नहीं हुआ करता। और इसीलिये काव्य में जो आत्म-भाव प्रतिष्ठित किया जाता है, वह

परम्परा को लेकर ही चलता है ।" पृष्ठ ४१ पर "साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि कवि संसार को देखकर जीवन का अनुमान नहीं करता, वरन् जीवन के आधार पर ही संसार का अनुमान करता है।" आस्कर वाइल्ड ने भी इसी तरह कहा था कि 'कला जीवन की अनुवर्तिनी नहीं, बल्कि जीवन कला का अनुगामी है।' इस विशुद्ध सौन्दर्यवादी स्थिति का पहले विधान से मेल कहाँ और कैसे बैठता है ?

इन परस्पर-विरोधी तत्वों और सूत्रों को लेकर चलने के कारण पृष्ठ ९२-९३ पर सुधांशु जी को कहना पड़ा कि "सम्भावना पूर्ण रूप से न तो सत्य है और न असत्य ।...जगत् का सत्य भी अपने विस्तृत तत्वों के संकुचित होने पर काव्य में अपने मौलिक रूप से हटता नहीं ।" आगे चलकर उन्हें आत्म-भाव और काव्य की संक्रांति में कलाकार का आत्म-भाव प्रगति से सदा प्रभावित कहना पड़ा है। परन्तु साथ ही आत्मभाव और चरित्र के प्रतिबन्ध भी वे मानते हैं। काव्य की समीक्षा में समाजशास्त्र, इतिहास, आचारशास्त्र आदि के बाह्य नियम कहाँ तक लाये जायँ, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस शीर्षक के अध्याय में 'आत्म-भाव' से एक ओर सुधांशु जी कवि के अंतर्जगत् की चर्चा करते जान पड़ते हैं, दूसरी ओर सामाजिक 'स्व' को भी वे नहीं भुला सकते हैं। कलाकार के व्यक्तित्व के आन्तर और बाह्य इन दो रूपों के परस्पर सम्बन्ध के विषय में काडवेल ने जैसी विवेचना अपने 'इल्यूजन एंड रियलिटी' में की है, हिन्दी में अभी नहीं की गई।

"फ्राँस में सौन्दर्यशास्त्रीय चिन्ता (१६१४-२६)" नामक प्रबन्ध में मैरीज़ चौहस ने 'द मोनिस्ट' मासिक के जुलाई १९२६ के अंक में लिखा था—इटली में बेनेडेट्टो क्रोचे के साथ और अन्य जर्मन सौन्दर्य-शास्त्रियों के साथ सौन्दर्यशास्त्र आध्यात्मिक रूप ले लेता है। ग्रेट ब्रिटेन में हम रस्किन के साथ मुख्यतः आचारशास्त्रीय चिन्ता देखते हैं। परन्तु फ्रांस में सौन्दर्यशास्त्र मनोवैज्ञानिक तत्वों पर बल देने की प्रवृत्ति है।

"ज्यूल्स द गॉतियेर के अनुसार सौन्दर्यविषयक प्रक्रिया मानसिक विकास में सब से समुन्नत प्रक्रिया है। जो कुछ विराट् और भव्य दृश्यमान है उसके प्रति आदि-मानव की एक मसीहा का सा, प्रेषित देव-शिशु का सा दृष्टिकोण रहता है। यह 'सेन्सीब्लिते मेसियाहनीके' ऐसा होता है कि उसके अनुसार विश्व को बदलने की इच्छा से सोचा जाता है। इससे उलटे 'सेन्सीब्लिते स्पैक्तेक्यूलेर' विश्व की चिन्ता केवल विराट् चिन्ता के आनन्द के लिए करती है।

"इस दूसरी प्रकार की विराट् चिन्ता के प्रथम लक्षण जीवशास्त्र में संवेदना का इंद्रिय-बोध में परिवर्तन है। सत्य की खोज के पीछे यही मसीहा-जैसा आग्रह है। और वह दर्शन का क्षेत्र है। सौन्दर्य के क्षेत्र में सापेक्षता और गुण-सम्बन्धों का अधिक विचार किया जाना चाहिये।"

इस प्रकार से आत्म-भाव की व्याख्या पहले स्पष्ट होनी चाहिये। आधुनिक मानव का आत्म और अनात्म आदिम मानव के आत्म-अनात्म से भिन्न हो गया है, यह हमें नहीं भूलना चाहिये। मर्मी कवि जिस आत्म-ज्ञान की बात करते हैं वह भी यह कलाकार का आत्म-भाव नहीं है।

२. काव्य की प्रेरणा-शक्ति : वासना और आत्म-सुख

'आत्म-सुख' शब्द भी इसी प्रकार से चिन्त्य है। मस्यू लेलो ने 'ल आर्त एत् ला मोरेल' नामक निबन्ध में कहा है कि जब समीक्षा में नैतिक मूल्य हम ले आते हैं तो उनके दो भेद किये जाने चाहियें : एक तो प्रत्यक्ष व्यावहारिक मूल्य, दूसरे आदर्श आनुमानिक मूल्य। अमर कलाकृति उसकी अमरता से ही नैतिक अर्थात् मूल्यवान् हो जाती है। अतः कला के प्रयोजन और प्रेरणा-स्रोत पाँच हैं :—

१. प्रत्यक्ष वास्तव से पलायन (जैसे फ्लाबेयर)।

२. एक प्रकार की परिशुद्ध करने वाली रेचन-क्रिया। इसमें बाह्य आक्रामक महत्वाकांक्षा के तनाव से मुक्ति भी निहित है (जैसे गोएटे)।

३. एक विशुद्ध शिल्पगत क्रिया, अथवा 'कला के लिए कला' (जैसे आस्कर वाइल्ड)।

४. सस्ते भोंडेपन को अलंकृत करने का यत्न और अंततः लेखक का स्वयं का अश्लीलत्व (जैसे रूसो)।

५. साधारण सहज यथार्थ को पुनर्जागरित और संगठित करने की विनम्र इच्छा (जैसे वैन डाइक, मोज़ार्ट आदि)।

कभी-कभी इस आत्म-सुख या आत्माभिव्यक्ति को एकदम 'अरतिसिस्ट' ढंग से प्रयुक्त किया जाता है। 'अहं' के विस्फोट का समर्थन करने वाले डा० नगेन्द्र जैसे आलोचक अहं के परिष्कार और आत्म-साक्षात्कार के फेर में कैसे पड़े हैं, देखिये, उन्हीं के शब्दों में :—

"दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस आत्माभिव्यक्ति का मूल्य क्या है? लेखक के अपने लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रियों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है। मुझ जैसे व्यक्ति को जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता

है ? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि विना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से भी निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्य-गत आत्माभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी—अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा। वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है, वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है, जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा संभव नहीं, क्योंकि उसके लिए, जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता अनिवार्य है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही संभव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार में दंभ के लिए स्थान कहाँ ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम-प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का

प्राधान्य आवश्यक माना है। उस दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह उसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-सर्जन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार) के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। जैनेन्द्रजी के चिंतन पर गाँधी की—अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की—आत्म-पीड़नमयी चिन्तन-धारा का प्रभाव है, इसीलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है। इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अहं अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, संपूर्ण आत्म-समर्पण की संभावना है इसमें सन्देह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म निवेदन वैष्णव-साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम-पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अंत में फिर उसे आत्म-लीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। यहाँ अहं समाज के सम्मिलित अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे बहुत अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह आत्म-दान नहीं करता—परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती। हमारा

निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अंत में आत्म का लाभ ही होता है, हानि नहीं।

परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टिगत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टि-गत प्रेम नहीं है। इसमें आत्म-प्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसीलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं। देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं, और एक साधारण अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है। इसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म-साक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं। किसी वृहत् आंदोलन को लेकर खड़े होने वालों की स्थिति इनसे भी अधिक जटिल है—क्योंकि उसमें सिद्धांत की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है।"

इस तरह के तर्क में कितनी इष्टापत्तियाँ और 'वदतो व्याघात' स्पष्ट हैं। आखिर इस आत्म या अहं को अपनी अभिव्यंजना की इच्छा हुई ही क्यों? यह 'संस्कार' या 'साक्षात्कार' का चमत्कार क्या अपने आप में संपूर्ण, समापित, स्वतःसिद्ध प्रक्रिया है? ब्रह्म की जगत्सृष्टि के 'पटचक्र' सूत्र की भाँति क्या यह निरा 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' है? गीता के दशम अध्याय की भाँति "अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च"।

फ्रांसीसी प्रतीकवादी मलार्मे ने कहा था—"कविता वह रहस्य है जिसकी चाबी पाठक को खोजनी होगी। कविता का तीन चौथाई रस इसी में है कि इसका सुख धीरे-धीरे अनुमित होता है।" यह आत्मसुख अनजाने प्राप्त होता है। इस में न कोई 'अहं' का संस्करण है, न आत्म-ज्ञान या आत्मोपलब्धि की कोई लालसा।

सुधांशु जी ने उपनिषद् और फ्रायड से उद्धरण देकर काव्य के मूल में वासना का परिशोधित रूप प्रेम माना है। भावाधिक्य की दशा को अभिव्यंजना के मूल में बतला कर 'यशसेऽर्थकृते' को गौण हेतु माना है। पृष्ठ १०७-१०८ पर 'भावों की प्रतिक्रिया और उसका परिणाम' तथा 'प्रत्यक्ष जीवन और काव्य में भावों की परिणति' के विवेचन में सुधांशु जी अवचेतन जैसे महत्वपूर्ण प्रेरक-स्रोत को भूल गये हैं और बहुत कुछ 'फैकल्टी साइकौलोजी' से ही काम चला गये हैं। नव्य मनोविज्ञान की शोधों ने सिद्ध किया है कि कवि के कल्पना-चित्र उसके अर्द्ध-अनुभूत और अज्ञात रूप से अनुभूत के भी प्रतिबिंब हैं। मेरिनेती जैसे भविष्यवादी सौन्दर्यशास्त्र-चिन्तना में गति-द्रुति के तत्व भी ले आये हैं और फिलिप सोउपाल्त, जोज़ेफ देल्तेअल और राबर्ट देसनास जैसे अतियथार्थवादी क्षिप्रता, वेग और संक्षिप्ति को भी प्रेरणा-स्रोतों में गिनते हैं। 'आत्म-सुख' इस कारण से बड़ा ही अस्पष्टार्थवाची शब्द है।

वैसे सुधांशु जी का यह समन्वयात्मक अंतिम निष्कर्ष बहुत सही है—"स्वान्तःसुखाय और जनहिताय, दोनों तत्वतः एक ही हैं। प्रत्यक्ष में नहीं, तो कल्पना में भी यदि लोक-समुदाय का ग्राहक रूप उपस्थित न रहे, तो कवि को तदनुरूप काव्य रचना की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। मनोभाव का यह तथ्य केवल दार्शनिक ही नहीं, ऐतिहासिक भी है।" (पृ० १२८)

सुधांशु जी के इस अध्याय में भी अध्यात्म और वैज्ञानिक मानस-शास्त्र की शब्दावली को अनावश्यक रूप से मिला दिया गया है।

३. लय और छन्द के नवीन प्रयोग

इस पुस्तक का सातवाँ अध्याय सबसे महत्वपूर्ण है। यहाँ सुधांशु जी ने अपने नवीन चिंतन का सच्चा प्रकटीकरण किया है। उन्होंने लय और छन्द का स्वरूप देते हुए कहा है—'छन्द का स्वतः कोई स्वरूप नहीं होता' (पृ० १२९)। ऐसा मानने वालों से वे अपना मतविरोध प्रकट

करते हैं और कहते हैं कि छन्द निरा साँचा नहीं है। छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया गया है (पृ. १२०)। छन्दों का नया-पुराना होना, काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि की आवश्यकता से अधिक कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से सम्बन्ध रखता है। यहाँ मेरा मतभेद है। एज़रा पाउंड की चुनी हुई कविताओं की भूमिका में टी. एस. ईलियट ने लिखा है कि मुक्त-छंद को और मुक्त करने के क्षेत्र में वाल्ट व्हिटमन, डी. एच. लारेंस और ईलियट स्वयं का कार्य कैसे नवीन युग की आवश्यकताओं के साथ बदलता या बढ़ता गया है।

सुधांशु जी ने लय का स्वरूप जातीय संस्कृति पर आधारित माना है और उसे ध्वनि से मिलाया है। पद और लय का संबंध आगे उन्होंने विशद किया है। यहाँ मराठी से तौलनिक विचार उपयोगी होगा। 'पद्य म्हणजे लयबद्ध अक्षर-रचना' (डा. माधवराव पटवर्धन : छन्दोरचना), यानी पद्य की परिभाषा है लयबद्ध अक्षर-रचना। परंतु इसमें व्यवच्छेदक लयबद्धता है या अक्षर-रचना? यह प्रश्न उठा कर डा. ना. ग. जोशी ने अपने 'लय-तत्वांचे पद्यरचनेंतीस स्थान' लेख में कहा है कि "लय शब्द रिद्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेब्स्टर के कोश में आलंकारिक अथवा व्यंजक अर्थ में 'रिद्म आफ लाइफ' कहते हैं, ऐसा कहा है। 'रिद्म' के विशेष अर्थ में पद्य, संगीत, नृत्य आदि में 'लय-बद्धता' होती है, ऐसा कहा है। रामायण में लव-कुश ने जो अनुष्टुभ छंद गाया वह 'तन्त्रीलयसमन्वित' होता है, ऐसा कहा गया है। भरत ने 'लय' का अर्थ अक्षरों की मात्रा या कला और काल का समन्वय माना है। ब्रितानी विश्वकोश में 'रिद्म' का अर्थ आंदोलनयुक्त और समतोल-गतितत्त्व माना है। अंग्रेजी में आघातात्मक लयतत्त्व होता है, परंतु वहाँ कालभारात्मक लयतत्त्व नहीं होता, यह मानना गलत है। वस्तुतः लय सब भाषाओं की कविता में होता है। भारोपीय भाषा-समूह में वह लगावनिष्ठ अथवा समकालिक कालभारात्मक होता है, और जर्मनिक

भाषासमूह में कुछ भाषाओं में वह आघातात्मक होता है। सेंट्सबेरी ने अंग्रेजी पद्य-रचना को लतोनी पद्याश्रित मानकर लगत्वनिष्ठ माना है। डाक्टर पटवर्धन ने 'छंदस्त्व को पद्य की नैसर्गिक उच्चारणक्षमता' माना है। ना. ग. जोशी के अनुसार 'लय' शब्द अतिव्याप्तियुक्त होने से पद्य-विचार में उसके बदले 'गति' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। सच्चा लयतत्व अक्षरों के लगत्व यानी लघु-गुरु की योजना अथवा मात्राओं के आवर्तनों में आंदोलित और समतोल गति से निर्मित होता है।

'रिद्म' या लय के विषय में फ्रांसीसी विद्वान् गामाँ ने कहा है— "Rhythm is constituted in all versification by return of marked times or rhythmical accents at markedly equal intervals." अर्थात् सब तरह की पद्य-रचना के मूल में लय का अर्थ है निश्चित काल पर, निश्चित अंतर पर, तालात्मक स्वराघात। यह व्याख्या वैसे साधारणतः सही है। सुधांशुजी ने वर्णिक, मात्रिक और मुक्त छंद की ऐतिहासिक विवेचना तो की है, परंतु संस्कृत से भिन्न या उर्दू-अंग्रेजी से भिन्न हिंदी के अपने छंदस्त्व की कम चर्चा की है। 'घनाक्षरी' विशुद्ध रूप में हिंदी छन्द है और 'सवैया' भी कई अर्थों में वही है। 'आल्हा' में प्रयुक्त छन्द की भी वही देशज विशेषता है। यानी ये छन्द अन्य भाषाओं में प्रयुक्त नहीं होते। भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन लय की दृष्टि से होना आवश्यक है। संस्कृत के सर्वसाधारण छंद छोड़ कर भिन्न भाषाओं के अपने छन्द क्यों और कैसे पनपे, फूले, बढ़े और उनका लोक-गीतों की धुनों और बहरों से क्या संबंध था, यह विचारणीय प्रश्न है।

छन्द-चर्चा में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि रूप और वस्तु परस्पर प्रभावकारक हैं। 'कला और अनुभूति' (आर्ट एंड एक्सपीरियंस) ग्रंथ में जौन डिवी ने अध्याय 'वस्तु और रूप' (सब्स्टेंस एंड फार्म) में कहा है—"चित्रकार देलेका के अनुसार, मुझे रास्ते का कीचड़ दे

करते हैं और कहते हैं कि छन्द निरा साँचा नहीं है। छन्द भी कवि के अन्तर्जगत् की वह अभिव्यक्ति है जिस पर नियम का बन्धन डाल दिया गया है (पृ. १३०)। छन्दों का नया-पुराना होना, काव्य की सौन्दर्य-वृद्धि की आवश्यकता से अधिक कवि की अपनी क्षमता को व्यक्त करने से सम्बन्ध रखता है। यहाँ मेरा मतभेद है। एज़रा पाउंड की चुनी हुई कविताओं की भूमिका में टी. एस. ईलियट ने लिखा है कि मुक्त-छंद को और मुक्त करने के क्षेत्र में वाल्ट व्हिटमन, डी. एच. लारेंस और ईलियट स्वयं का कार्य कैसे नवीन युग की आवश्यकताओं के साथ बदलता या बढ़ता गया है।

सुधांशु जी ने लय का स्वरूप जातीय संस्कृति पर आधारित माना है और उसे ध्वनि से मिलाया है। पद और लय का संबंध आगे उन्होंने विशद किया है। यहाँ मराठी से तौलनिक विचार उपयोगी होगा। 'पद्य म्हणजे लयबद्ध अक्षर-रचना' (डा. माधवराव पटवर्धन : छन्दोरचना), यानी पद्य की परिभाषा है लयबद्ध अक्षर-रचना। परंतु इसमें व्यवच्छेदक लयबद्धता है या अक्षर-रचना ? यह प्रश्न उठा कर डा. ना. ग. जोशी ने अपने 'लय-तत्वांचे पद्यरचनेंतील स्थान' लेख में कहा है कि "लय शब्द रिद्म के अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेब्स्टर के कोश में आलंकारिक अथवा व्यंजक अर्थ में 'रिद्म आफ लाइफ' कहते हैं, ऐसा कहा है। 'रिद्म' के विशेष अर्थ में पद्य, संगीत, नृत्य आदि में 'लय-बद्धता' होती है, ऐसा कहा है। रामायण में लव-कुश ने जो अनुष्टुभ छंद गाया वह 'तन्त्रीलयसमन्वित' होता है, ऐसा कहा गया है। भरत ने 'लय' का अर्थ अक्षरों की मात्रा या कला और काल का समन्वय माना है। ब्रितानी विश्वकोश में 'रिद्म' का अर्थ आंदोलनयुक्त और समतोल-गतितत्व माना है। अंग्रेजी में आघातात्मक लयतत्व होता है, परंतु वहाँ कालभारात्मक लयतत्व नहीं होता, यह मानना गलत है। वस्तुतः लय सब भाषाओं की कविता में होता है। भारोपीय भाषा-समूह में वह लगत्वनिष्ठ अथवा समकालिक कालभारात्मक होता है, और जर्मैनिक

भाषासमूह में कुछ भाषाओं में वह आघातात्मक होता है। सेंट्सबेरी ने अंग्रेजी पद्य-रचना को लतोनी पद्याश्रित मानकर लगत्वनिष्ठ माना है। डाक्टर पटवर्धन ने 'छंदस्त्व को पद्य की नैसर्गिक उच्चारणसमता' माना है। ना. ग. जोशी के अनुसार 'लय' शब्द अतिव्याप्तियुक्त होने से पद्य-विचार में उसके बदले 'गति' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। सच्चा लयतत्व अक्षरों के लगत्व यानी लघु-गुरु की योजना अथवा मात्राओं के आवर्तनों में आंदोलित और समतोल गति से निर्मित होता है।

'रिद्म' या लय के विषय में फ्रांसीसी विद्वान् गामाँ ने कहा है—"Rhythm is constituted in all versification by return of marked times or rhythmical accents at markedly equal intervals." अर्थात् सब तरह की पद्य-रचना के मूल में लय का अर्थ है निश्चित काल पर, निश्चित अंतर पर, तालात्मक स्वराघात। यह व्याख्या वैसे साधारणतः सही है। सुधांशुजी ने वर्णिक, मात्रिक और मुक्त छंद की ऐतिहासिक विवेचना तो की है, परंतु संस्कृत से भिन्न या उर्दू-अंग्रेजी से भिन्न हिंदी के अपने छंदस्त्व की कम चर्चा की है। 'घनाक्षरी' विशुद्ध रूप में हिंदी छन्द है और 'सवैया' भी कई अर्थों में वही है। 'आल्हा' में प्रयुक्त छन्द की भी वही देशज विशेषता है। यानी ये छन्द अन्य भाषाओं में प्रयुक्त नहीं होते। भारतीय प्रादेशिक भाषाओं में प्रयुक्त छन्दों का तुलनात्मक अध्ययन लय की दृष्टि से होना आवश्यक है। संस्कृत के सर्वसाधारण छंद छोड़ कर भिन्न भाषाओं के अपने छन्द क्यों और कैसे पनपे, फूले, बढ़े और उनका लोक-गीतों की धुनों और बहरों से क्या संबंध था, यह विचारणीय प्रश्न है।

छन्द-चर्चा में यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि रूप और वस्तु परस्पर प्रभावकारक हैं। 'कला और अनुभूति' (आर्ट एंड एक्सपीरियंस) ग्रंथ में जौन डिवी ने अध्याय 'वस्तु और रूप' (सब्स्टैंस एंड फार्म) में कहा है—"चित्रकार देलेक्रा के अनुसार, मुझे रास्ते का कीचड़ दे

दीजिये। यदि मैं उसे अपनी अभिरुचि से संव्याप्त कर सकूं तो उसी कीचड़ में से मैं सुन्दर त्वचा वाली सुन्दरी का मांसल रूप-शिल्प बना दूंगा।" वस्तुतः डिवी के अनुसार जो एक के लिए रूप है दूसरे के लिए वस्तु है। और ये दोनों अभिन्न हैं।

मुक्त छुन्द के विवेचन में सुधांशु जी ने पृ. १५७ पर कहा है—"ध्यान से विचार करने पर 'निराला' की 'जुही की कली' जैसी रचना में भी कहीं-कहीं छुन्दबद्धता का सौन्दर्य देखा जा सकता है। जहाँ कवि के हृदय में भावना निगूढ हो गई है, वहाँ स्वाभाविक रूप से मिताक्षर आ गये हैं और एक लय उत्पन्न हो गई है। कहीं अनावश्यक स्वरपात देकर, रुक-रुक कर पढ़ना पड़ता है, और कहीं एक ही साँस में पंक्ति पूरी हो जाती है। यदि पद-व्यवस्था के समय हिंदी-व्यवस्था के समय हिन्दी उच्चारण की वैज्ञानिक विशेषता को ध्यान में रख कर स्वर का गति-भंग न होने दिया जाय, तो मुक्त छुन्द की लोकप्रियता बढ़ सकती है।"

परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि हिंदी के उच्चारण की वैज्ञानिक विशेषता क्या है ?

छंद और लय के विषय में डा० सिद्धेश्वर वर्मा ने १५वीं अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् के भारतीय भाषाशास्त्र विभाग के अध्यक्ष पद से दिये भाषण में कहा था—"स्वराघात से लय का बड़ा साम्य है। लोक-कविता में लय की खोज हो रही है।" श्रीमती रामेश्वरी श्रीवास्तव ने प्रयाग से १६४६ में प्रकाशित हिन्दी लोकगीत ग्रंथ में कहा है—"इनमें छुन्दों के स्थान में लय ही प्रधान है।...गाते समय स्त्रियाँ या पुरुष स्वयं शब्दों को घटा-बढ़ाकर लय के अनुकूल कर देते हैं।" यद्यपि लोक-गीतों में लय की यह स्वतन्त्रता यह दरशाती है कि वहाँ अधिक स्वतन्त्रता है, परन्तु इसका अर्थ, उन गीतों में कोई छुन्द ही नहीं होता, ऐसा नहीं है। राजस्थान में डिंगल कविता के पाठ से यह बात स्पष्ट होती है। मार्च १६४८ की 'राजस्थान-भारती' में नरोत्तमदास स्वामी का एक लेख प्रकाशित हुआ है—'डिंगल गीतों की सारिणी'। राजस्थान

में इन गीतों का एक विशेष ढंग था, जिन्हें सुनकर वीर लोगों को स्फूर्ति मिलती थी। डाक्टर सुकुमार सेन ने प्राचीन बंगाली गीतों में पयार छंद को बंगाली कविता का मूल-लय माना है।

मुक्त छन्द के प्रयोग के क्षेत्र में हिंदी कविता में अराजकता सी मची हुई है। इस विषय में विभिन्न विचारकों के विभिन्न मत हैं और 'निरंकुशाः कवयः' के अनुसार ऐकमत्य की अपेक्षा भी व्यर्थ है। सुधांशु जी भी पृ. १७१ पर मानते हैं—"उर्दू के छन्दों का व्यवहार भी इधर-उधर होने लगा। मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी 'भारत-भारती' के उपसंहार में—सोहनी के रूप में जो गज़ल लिखी है वह विशुद्ध हिंदी भाषा में है और अपनी स्थिति में अनुपम है।· ·नई पीढ़ी के कवियों ने जो रचनाएं की हैं, उनमें छन्द के नियमों का यथातथ्य पालन कहीं नहीं हो सका है।"

१९४९ में 'प्रतीक' (द्वैमासिक) में मैंने एक लेख लिखा था: 'नयी हिन्दी कविता में छन्द-प्रयोग'। वह इस प्रसंग में उद्धृत करने योग्य है—

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास !—पंत

तुक टूटी तो
　　　सिर झुकते थे,
तुक जुड़ती
　　　मुसका जाते थे !
जब जीवन सम्मुख आता—
बस,
उसे बेतुका बतलाते थे !—निराला

'मेरा कहना है ब्रजभाषा मोस्ट रही है,
खारवां की गद्दी है,
और स्वच्छन्द मेरा राग घट-बढ़ है,
छन्द जो रबड़ है।'—उजबक : उग्र

उजयक प्रहसन का पात्र चाहे जो कहे, पं० रामचन्द्र शुक्ल 'निराला' के सम्बन्ध में दो परस्पर-विरोधी (या परस्पर-पूरक) बातें कहते हैं।

"संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निराला जी ने किया है।"

"सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वच्छन्द विषमता है।...बेमेल चरणों की आज़माइश इन्होंने सबसे अधिक की है।"

निराला 'बंधनमय छन्दों की छोटी राह' छोड़कर, छन्द की कारा तोड़कर हिन्दी में मुक्त-छन्द को बंगाल से लाये। 'परिमल' की भूमिका में वैदिक काव्य की गण-साम्य-विहीनता का उदाहरण देकर निराला जी ने बतलाया है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता नियम-जड़ित होती जाती है, उसमें चित्रमयता बढ़ती जाती है, अनुशासन जकड़ते चले जाते हैं। छन्द भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो सुन्दर नृत्य करते, उच्चारण की शृङ्खला रखते हुए, श्रवणमाधुर्य के साथ ही साथ श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्त-छन्द भी अपनी विषम-गति में एक ही साम्य का अपार सौन्दर्य देता है, जैसे एक ही अनन्त महा-समुद्र के हृदय की सब छोटी-बड़ी तरंगें हों—दूर-प्रसरित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई। नयी हिन्दी-कविता में छन्द के विषय में लिखना 'निराला' और परवर्ती कवियों के छन्द विषयक प्रयोगों पर लिखना है; संक्षेप में, मुक्त-छन्द पर लिखना है।

मुक्त-छन्द को परिभाषित करें। 'मुक्त' का अर्थ यह है कि रूढ़

छन्द-शास्त्र से, संस्कृत परम्परा से आने वाले हिन्दी के पिंगल और देशज तर्ज़ों या जातियों से, घिसे-घिसाये या पिटे-पिटाये काव्य-रूपों से भिन्न, स्वतन्त्र, नवीन छन्द-विधान। परन्तु इस मुक्ति का अर्थ यह नहीं कि वह सर्वथा अराजकतापूर्ण गद्यमात्र हो, यद्यपि आधुनिक कविता में गद्य और पद्य की सीमाएँ बहुत कुछ मिटती जा रही हैं। बकौल जी० एम० हॉपकिन्स के—"वी मस्ट नॉट इन्सिस्ट आन नोइंग ह्वेयर दि वर्स एंड्स ऐंड प्रोज़ (ऑर वर्सेस कम्पोज़ीशन) बिगिन्स, फ़ॉर दे पास इन्टू वन ऐनदर!" (पद्य कहाँ समाप्त होता है और गद्य (अथवा अपद्य-रचना) कहाँ आरम्भ होता है, यह जानने का आग्रह हमें नहीं करना चाहिए; क्योंकि वे दोनों एक दूसरे में मिल जाया करते हैं।)

फिर भी इस बंगला के अमित्र, हिन्दी के भिन्नतुकांत, अतुकांत और स्वच्छन्द, गुजराती के अपद्यागद्य और मराठी के 'मुक्त' छन्द के विषय में, जो बहुत कुछ अंग्रेज़ी के ब्लैंक वर्स या फ्री वर्स या वर्स लीव्र से प्रभावित हैं, विशेष जानना आवश्यक है।

मूलतः इस समस्या के दो अंग हैं—(१) कविता छन्द-बन्धन से मुक्त हो, यानी इस प्रकार बँधे-बँधाये छन्द से छुटकारा पाने से उसका कुछ नहीं बिगड़ता, क्योंकि छन्द एक कृत्रिम, बाह्य पाश है। (२) पुराने छन्द-प्रकार अब चमत्कार-शून्य हो गये हैं।

अब पहले तो यही देखना होगा कि छन्द क्या कविता का पहिनावा मात्र है या कि मूर्तिमत्ता है? वह कविता का बाह्य वेश है या आकार है? वह कविता की रस-वस्तु से निगड़ित उससे निर्णीत कोई रूप है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है? फिर यह देखना होगा कि छन्दस्त्व किस चीज़ पर निर्भर करता है—ताल पर, लय पर, अक्षरमैत्री पर, प्रास पर या गण-मात्राओं की आवृत्तिमात्र पर? किस छन्द को कविता की संगीतात्मकता से भिन्न मानना होगा। अध्यापक रामखेलावन पांडेय अपने 'गीति-काव्य' पर अज्ञेय का गीत 'दूर-वासी मीत मेरे' उद्धृत कर आगे भाष्य में लिखते हैं १४ मात्राएं। "पहुँच क्या तुम तक सकेंगे

काँपते ये गीत मेरे" = २८ मात्राएं। 'गीत', 'विनीत' में रदीफ़ का मेरे में काफ़िए का आग्रह है। 'आज कारावास''छार जलकर' में रुबाई का ढंग स्पष्ट लक्षित है। लेकिन गायक अथवा पाठक का ध्यान इस छन्द-बन्ध की ओर न जा कर सहज स्वाभाविक गीति-प्रवाह की ओर जाता है। शब्दों की प्रकृत संगीतात्मक शक्ति द्वारा रागात्मक वृत्ति को स्फूर्ति मिलती है। यह गीतिकाव्य वाद्य-यंत्र की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता। आवृत्ति, प्रकृति और अभिव्यक्ति के द्वारा सहज अंतर्स्थित संगीत की धारा फूट पड़ती है। संगीत इसकी आत्मा के साथ घुला-मिला है। संगीत स्वरूपात्मक न बन कर आत्मिक बन जाता है।···तालैक्य की दो श्रेणियाँ हैं—एक आंतरिक, दूसरी बाह्य। छन्द के बन्धन इस बाह्य तालैक्य की अपेक्षा रखते हैं।···अन्तर्तालैक्य का निर्वाह और अविच्छिन्न आंतरिक धारा का सफल निर्वाह गीतिकाव्य का लक्ष्य होता है।···इस प्रकार गेय काव्य से गीति-काव्य भिन्न है।

मराठी ग्रन्थ 'छन्दोरचना' के आरम्भ में डॉ० पटवर्धन ने सभी मात्रा-प्रबन्धों को पद्य मान कर उनके तीन विभाग किये हैं—(१) वृत्त या लगत्व भेदानुसारी अक्षरसंख्याक रचना। इसे अक्षरछन्द भी कहते हैं। इसी के दो भेद हैं—(क) भिन्न मात्रावली के संख्याक्रमभेद से सिद्ध होने वाले वृत्त, (ख) किसी विशेष गण की पुनरुक्ति से सिद्ध होने वाले वृत्त। (२) छन्द-लगत्व भेद सहित अक्षर-संख्याक रचनाएं, जिनमें षण्मात्रिक ताल और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं। (३) जाति—लगत्वभेदानुसारी तथापि अक्षरसंख्याक नहीं, अपितु मात्रा-संख्याक रचना। इसमें भी मात्रा षण्मात्रिक और अष्टमात्रिक ताल के दो भेद हैं। साधारण पिंगलों में गणवृत्त, मात्रावृत्तों और अक्षरवृत्तों की चर्चा होती है—जैसे मालिनी, शिखरिणी और शार्दूलविक्रीडित आदि विद्युन्माला से स्रग्धरा तक के छन्द जो 'यमाताराजभानसलगम्' से बंधे रहते हैं। हिन्दी के 'प्रिय-प्रवास' और 'सिद्धार्थ' काव्य इनमें हैं। बाद में ये छन्द क्यों हिन्दी में लोकप्रिय न रह पाये, पता नहीं। मराठी-गुजराती में ये

छन्द, विशेषतः शार्दूलविक्रीडित, मन्दारमाला आदि अभी भी बहुत प्रचलित हैं। दूसरे प्रकार से वर्णिक छन्द अभी भी हिन्दी में रूढ़ हो गये हैं और वे चामर, गीतिका आदि के रूप हैं।' मिट्टी की ओर' में दिन-कर जी 'तुलसीदास' के छन्द की विवेचना में पद्धरि अथवा पद्धटिका की चार पंक्तियाँ और अंत में लघ्वंत मात्राओं का वर्णन करते हैं। पद्धरि अथवा पद्धटिका की दो पंक्तियों का मिलित प्रवाह बहुत कुछ पिंगल के मत्तसवैया तथा शुद्ध ध्वनि छन्द से मिलता-जुलता है। इस १६ मात्राओं वाले छन्द के साथ-ही-साथ १४ मात्रा वाले प्रासादी छन्द को "उर्दू के 'मफऊल मफाईलुन, मफऊल मफाईलुन' बहर के वजन पर निकला हुआ-सा" दिनकर मानते हैं। महादेवी की 'नीरजा', सांध्यगीत', 'यामा' में तथा बच्चन के 'एकांत संगीत', 'निशा-निमन्त्रण' आदि में ग़ज़ल के क़ाफ़िये-रदीफ़ पद्धति की भी छाया दीखती है। परन्तु ये सब वर्णिक और मात्रिक छन्द अन्ततः रूढ़ छन्द की ही कोटि में आते हैं। परन्तु स्पष्ट है कि मुक्त-छन्द के जो प्रयोग आज हिन्दी की नयी-से-नयी कविता में मिल रहे हैं उन पर उर्दू, अंग्रेज़ी, लोकगीत की धुनों, अन्य भाषाओं के छन्द-प्रयोगों की स्पष्ट छाया होने पर भी हिन्दी की देशी छन्द-पद्धति से कटकर वे प्रयोग बिलकुल अटपटे लगेंगे—जैसे शमशेरबहादुरसिंह के कुछ नये प्रयोग या केदारनाथ अग्रवाल की तालात्मक गद्य-रचना।

और गहरे जाकर हमें मुक्त-छन्द में भी उस तत्व को जो कि उसे गद्यात्मक नहीं बनने देता, उस 'अंतर्तालैक्य' और लय की स्वरूप-सिद्धि को समझना होगा। क्योंकि लय और ताल संगीत से लिये हुए शब्द हैं, इसलिए यह स्पष्ट जान लेना होगा कि संगीत-लय से छन्दोलय कैसे भिन्न है।

> संगीत स्वर-प्रधान है। उसका आधार श्रुति, ताल, मात्रा आदि हैं। छन्द अक्षर-प्रधान है। उसका आधार गणमात्रा, स्वराघात आदि है। 'यजुसामनियताक्षरत्वादेतेषां छन्दो न विद्यते।'

सभी संगीत छन्दमय नहीं होते। कई 'चीज़ों' में संगीत होता है, किन्तु काव्यत्व नहीं। दादरे या ध्रुपद या अडाने के बोल संगीत के गणित के समान हैं। उनमें अर्थ प्रधान नहीं।

सभी छन्द संगीतानुकूल नहीं होते। कई पद्य-प्रकारों में छन्दस्त्व होता है, परन्तु संगीत-लय नहीं होता (उदाहरणार्थ हिन्दी का डिंगल-काव्य)। छन्द में नाम की अपेक्षा ध्वनि-चित्रों पर अधिक ध्यान होता है।

संगीत की चीज़ों को आप सीधे पढ़िये, या उनका 'रेसीटेशन' (ताल-बद्ध आवृत्ति) कीजिये, कोई आनन्द नहीं आवेगा। कभी-कभी ताल भी नहीं जान पड़ेगा।

छन्दमय पद्य-रचना के सीधे पढ़ने से भी साहित्य-प्रेमी प्रसन्न होगा। उसमें का छन्दस्त्व बिना गलेबाज़ी के भी प्रभावशाली होगा।

संगीत के लिये पद्यरचना आवश्यक नहीं। केवल अक्षर पर्याप्त होते हैं।

छन्द की लय से पद्य की अक्षर-रचना का नियमन होता है। मुक्त-छन्द भी छन्दस्त्व से मुक्त नहीं हो सकता। अन्यथा वह गद्य हो जायगा।

'गायनवादननर्तन इति संगीतः।'

'छन्दयति इति छन्दः' (जो आह्लाद दे वही छन्द है)।

प्रसाद जी ने अपनी 'काव्यकला' में लिखा है—"संगीत नादात्मक है और कविता उससे उच्च कोटि की अमूर्त कला।" तो हम यह मानकर चलें कि जिस कविता की हम चर्चा करने जा रहे हैं, उसमें सूक्ष्म छन्दो-लय तो एकदम आवश्यक है ही। उसके बिना वह पद्य न रह कर गद्य-रचना बन जायगी। कभी-कभी पद्य के बीच में कहीं भावों को नाट्या-त्मक ढंग से तीक्ष्णतर बनाने के लिए गद्य का भी प्रश्रय लिया जा

सकता है, जैसे मराठी के वीरकाव्य 'पोवाड़ों' के छन्दों में गति को और तीव्रता देने के लिए बीच में एक-दो पंक्तियाँ एकदम गद्यप्राय बोली जाती हैं। जैसे, बच्चन के 'बंगाल का काल' में 'गॉड हेल्प्स दोज़ हू हेल्प देमसेल्व्ज़' को गद्य नहीं तो कैसे पढ़ेंगे ?—छन्द की लय के साथ यह पंक्ति बीच में ही भिन्न प्रकार की जान पड़ती है।

हिन्दी-कविता में नये कवियों ने जो इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये हैं और उन्हें इस दिशा में जो कठिनाइयाँ जान पड़ी हैं, या और जो-जो सम्भावनाएँ इस क्षेत्र में हैं, उन पर विस्तृत विवेचना एक-एक कवि को लेकर, उसकी रचनाओं से उदाहरण देकर, करें। इस क्षेत्र में सबसे पहिला नाम निराला जी का आता है। 'पंत जी और पल्लव' नामक निबन्ध में निराला जी ने कोमल और परुष मुक्त छन्द के भेद की चर्चा की है। उदाहरणार्थ पन्त के 'रूपाभ' से ये दो गीत लीजिये। इनमें गति-यति का साम्य कहाँ है ?

(१) राग, केवल राग !
छिपी चराचर के अन्तर में—
अनिर्व्याप्य चिर आग,
राग, केवल राग,

प्रथम पंक्ति पढ़ने पर यह 'र-त' गण का छन्द जान पड़ता है। परन्तु दूसरी और तीसरी पंक्तियाँ मात्रिक छन्द की हैं—१६, ११ की।

(२) तूल जलद, ऊर्ण जलद —('भ-गण, दो लघु' की पुनरावृत्ति')
तूम-धूम, जलपूर्ण जलद—(गति-भंग, मात्रिक पंक्ति, १४ मात्रा)
कात मसृण जलसूत—(११ मात्रा)
भू-पट पर जीमूत —(११ मात्रा)
हरित काढ़ते तृण, तरु, छन्द !—(१४ मात्रा)

(इसी प्रकार के १२, १४, ११, ११, १४ की आवृत्ति वाले आगे के सब छन्द हैं।)

उर्दू का रंग नयी हिन्दी कविता पर इतना अधिक आ गया है कि क्या आप नीचे की दो पंक्तियाँ पढ़ कर कल्पना कर सकते हैं कि ये किस की लिखी हुई होंगी ?

लड़ाई कड़ी है, मगर आखरी है।
खयालात अपने, निगाहें बिरानी !

ये दो पंक्तियाँ नरेन्द्र शर्मा के 'हंसमाला' संग्रह से हैं। और वीरेश्वरसिंह की ये पंक्तियाँ—

ज़रा अब घर की सीधी बात कह दो !
अभी बाकी है कितनी रात कह दो !!

इन पंक्तियों में अधोलिखित दीर्घाक्षर ह्रस्व पढ़े जाते हैं। यह उर्दू की सुविधा तथा बंगला और मराठी का अक्षरालोडनवाला सौन्दर्य खड़ी बोली को प्राप्त न होने से उसे संस्कृत-परम्परा से चलना पड़ता है। फिर संस्कृत-शब्दों के उच्चारण भी हिन्दी में निश्चित नहीं—कभी 'अमृत' प्रथमाक्षर पर स्वराघात से पढ़ते हैं, कहीं अमृतकुँअर जैसे शब्दों में बिना आघात से। इसीलिए निराला के 'कुकुरमुत्ता' में मुक्त-छन्द की और खड़ी बोली की (क्योंकि वह उर्दू की भाँति लचकीली नहीं) छीछालेदर-सी हुई है। उदाहरणार्थ,

तीर से खींचा धनुष मैं राम का
काम का—
पड़ा कन्धे पर हूँ हल बलराम का
सुबह का सूरज हूँ मैं ही
चाँद मैं ही शाम का।
मैं ही डाँडी से लगा पल्ला
सारी दुनिया तोलती गल्ला

मुझसे मूँछे, मूझसे कल्ला
मेरे लल्लू, मेरे लल्ला।

'फायलातुन फ़ायलातुन फ़ायलुन'—वाद से शुरू कर वाद में यह गति वदलती चली जाती है। कहीं कवित्त के टुकड़े हैं, कहीं मात्रिक छन्द जैसी गति है, कहीं चामर है, कहीं उर्दू वाला वज़न। जहाँ नाम-संज्ञाएँ आती हैं वहाँ ये खींचातानी असह्य हो जाती हैं। जैसे—

मेरी सूरत के नमूने पीरामीड्
मेरा चेला था यूक्लीड
रामेश्वर, मीनाक्षी, भुवनेश्वर,
जगन्नाथ, जितने मन्दिर सुन्दर।

निराला की ये कमजोरियाँ निरालोत्तर मुक्त-छन्द-लेखकों में चलती रहीं। लिखित कविता के चरणक, पठित कविता के चरणकों से आँके जाने लगे। उर्दू मुक्त-छन्द अलग दिशा में चल रहा था, हिन्दी मुक्त-छन्द जैसे परम्परा से कट कर अपनी अलग धारा बनाने लगा। मगर निरे भावावेश से कुछ नहीं होता। सतर्कतापूर्वक इस छन्द-नावीन्य को, छन्द में नये प्रयोगों को ग्रहण करना चाहिये, यह बात 'तारसप्तक' के कवियों के काल तक आ कर मिलने लगी।

'अज्ञेय' के 'इत्यलम्' संग्रह में लोकगीतों की धुनों का असर परवर्ती छन्दों में स्पष्ट है। जैसे 'ओ पिया पानी वरसा', 'फूल कांचनार के, प्रतीक मेरे प्यार के', 'वह आयेगी—धारा आनी-जानी है, वह मेरी नस-नस की पहचानी है' ('आषाढ़स्य प्रथम दिवसे')! अज्ञेय के मुक्त-छन्द पर अंग्रेज़ी के आधुनिक छन्द-प्रयोगों का, विशेषतः इलियट की प्रलम्बित, पुनरावृत्तिवाली टेकनीक का और लारेंस की भावावेशमयी गंधात्मक ध्वनि-चित्रण-पद्धति का बहुत सूक्ष्म पर गहरा प्रभाव है। परन्तु अज्ञेय के मुक्त-छन्द में सरसता न आ पाने का कारण उसमें नाद-

माधुर्य की जो एक मूलभूति अन्तर्धारा चाहिए उसका अभाव है। छन्द की गति भी सहसा कहीं-कहीं टूट जाती है, जैसे शरणार्थी में उनका यह छन्द—

मानव की आँख

कोटरों से गिलगिली घृणा यह झाँकती है—(४-४-४-४ कवित्त-जैसी यति)

मान लेते यह किसी शीत-रक्त, जड-दृष्टि —(वही)

जल-तलवासी तेंदुए के विषनेत्र हैं —(सहसा ३ अक्षरों वाला अन्त)

और तमजात सब जन्तुओं से —(३ अक्षरों का अन्त)

मानव का वैर है

क्योंकि वह सुत है प्रकाश का —(अक्षरों का अन्त)

यदि इनमें न होता यह स्थिर तप्त स्पन्दन तो ?

और इस पंक्ति का तो कोई नियम ही नहीं। 'सावन-मेघ' (तार-सप्तक, पृष्ठ ७७) कविता में चौथी पंक्ति की गति पहली तीन से एकदम भिन्न है। अतः इस प्रकार यदि मुक्त-छन्द किसी-न-किसी अन्तर्लय को भी न मानेगा, तो दूसरे भाषा-भाषी पाठकों के लिए यह कठिन हो जायगा कि वे उसे पढ़ें और उससे आनन्द उठा सकें।

गिरिजाकुमार माथुर ने इस दृष्टि से बहुत सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने सवैये को तोड़ कर 'आज है केसर-रंग रँगे वन' में प्रयुक्त किया। संगीत का प्रेम होने के कारण वे शब्दों के ध्वनि-चित्रों को खूब समझते हैं, इसी लिये नये शब्दोच्चारणों की अवतारणा भी करते हैं—सुनसान, माँदो, पिरामीड इत्यादि। परन्तु गिरिजाकुमार के अधिकांश मुक्त-छन्द एक योजनाबद्ध छन्द-प्रयोग को लेकर चलते हैं। उनके पीछे ध्वनि-योजना (साउंड पैटर्न) की भी भावना होती है, जैसे 'तार-सप्तक' के 'वक्तव्य' में वे स्वयं कहते हैं—"ध्वनि-विधान में मेरे प्रयोग

मुख्यतः स्वर-ध्वनियों के हैं। व्यंजन-ध्वनियों से उत्पादित संगीत को मैं कविता में संगीत नहीं मानता। प्रत्युत रीतिकालीन रूढ़ि समझता हूँ। छायावादी कवियों में इसी कारण मैं कोई संगीत नहीं देखता।..." परन्तु इधर गिरिजाकुमार की कविता में गद्यमयता आती जा रही है, जैसे 'एशिया का जागरण' या 'तीन जून' इत्यादि प्रसंगनिष्ठ कविताओं में। मुश्किल यह है कि गिरिजाकुमार के जो कोमल गीत-प्रयोग प्रकाशित होने चाहिएं, वे न छपकर, छपती हैं 'ओ बैंड बजाने वालो, साथ-साथ निज कदम मिला कर, चलो आज बाहर आओ सड़कों पर।' जन-भाषा और जन-साहित्य के युग में कविता को भी जन-कविता बनाने के आग्रह में उसमें की संगीतात्मकता में, लयमयता में एक आवश्यक परिवर्तन तो आवेगा ही। परन्तु इसका अर्थ यह न हो जाय कि गद्य-पद्य की सीमा-रेखाएँ इतनी मिट जाँय कि काव्य और संगीत का जो सूक्ष्म और आंतरिक सुदृढ़ सम्बन्ध है, वही भंग हो जाँय—जैसा कि केदारनाथ अग्रवाल, रांगेय राघव और शमशेरबहादुर की कुछ छन्द-रचनाओं में व्यक्त होता है। उनके बारे में तो गियोम एपोलिनेयर की ये पंक्तियां याद आती हैं—

You read prospectuses and the catalogues
and the placards shouting aloud :
Here 's your poetry this morning···

इधर एक बहुत मजेदार छोटी पुस्तक मेरे पढ़ने में आयी—ज़ाक मारितेन की 'आर्ट एंड पोयट्री'। उसके अन्तिम निबन्ध 'फ्रीडम आफ़ सॉंग' में यह कुछ रहस्यवादी-सा समीक्षक पिकासो की चित्रकला, स्ट्राविनस्की के संगीत और आंद्रे ज़ीद के लेखन में तुलनाएँ देता हुआ बतलाता है कि मार्क्सवाद की ओर इन कलाकारों का झुकाव कहाँ तक उनकी कला के लिए हितावह हुआ है। लौरी की 'डाइलेक्टिकल सिंफनी' की चर्चा तक पहुंच कर वह कहता है कि "प्रत्येक कलाकृति के तीन अंग होते हैं—शरीर, प्राण और आत्मा! शरीर से तात्पर्य है भाषा,

उसका रसज्ञ से सम्वाद, उस कला का टैकनीक वाला अंग। प्राण से तात्पर्य है उसमें की सक्रिय भावना-कल्पना। और आत्मा है काव्यत्व।" इस कसौटी से मार्क्सवादी कलाकारों ने अपने टैकनीकल (रूपात्मक) माध्यम में बहुत सतर्क और सचेष्ट प्रायोगिकता लाने का प्रयत्न चाहे किया हो, कला की पीठिका—उसमें की काव्यमयता न जाने क्यों सूखती जा रही है। सम्भव है, यह दोष मार्क्सवादी विचार-पद्धति का इतना न होकर, उसे कलाओं पर घटित करने वाले हमारे प्रयोग-वीरों की अक्षमता का हो।

मुक्तिबोध और शमशेरबहादुर के उदाहरण इस दृष्टि से चिन्त्य हैं। अपनी एक नयी कविता 'विहान' में, जिसे वह एक 'लीरिक ड्रामा' कह कर सम्बोधित करते हैं, शमशेर लिखते हैं—

वह
आती है
कछनी कसे
वीरवाला :
अंग
हार हँसली
करधनी
कड़ों-छड़ों में फँसे।

इसे रूढ़ कवि यों लिखते—

वह आती है कछनी कसे वीरवाला (१४ अक्षर, २२ मात्रा)
अंग हार हँसली करधनी कड़ों-छड़ों में फँसे। (१८ अक्षर, २६ मात्रा)

किसी भी तरह इन दो पंक्तियों में हिन्दी की दृष्टि से ध्वनि-साम्य नहीं, सिवा 'कसे' 'फँसे' के। शमशेरबहादुर उर्दू के 'वज़न' से प्रभावित हैं—परन्तु बीच-बीच में निराला के कवित्त—मुक्त छन्द को लिये जाते हैं। परिणाम—एक अराजक रचना।

गे चल कर तो और भी मजा है जब मार्क्सिस्ट सिपाही बिलकुल
: बोलने लगता है। और समस्त नर-नारी जन-मन—ॐ जय-
.. वाली आरती के स्वरों में 'गीत' गाते हैं। स्पष्ट है कि शमशेर
ात' शब्द का प्रयोग बहुत ही लचीले ढंग से किया है। मुक्तिबोध
ौर भी विचित्र ढंग से बेचारे छन्द को मरोड़ते हैं। असल में हिन्दी
ये कवि अंग्रेज़ी और उर्दू की नयी बंदिश से अत्यधिक प्रभावित
ान पड़ते हैं। ये तीन पंक्तियाँ देखिये—

लड़ाई कड़ी है, मगर आखरी है
खयालात अपने, निगाहें विरानी
किसी को न मालूम अपना मग

यह नरेन्द्र शर्मा की 'हंसमाला' से है। यह तुकबन्दी वीरेश्वरसिंह की 'सुबह किस की है, शाम कह दो! छुटी क्यों कर अयोध्या, राम कह दो!' की तरह है।

तुकों के मामले में कुछ नयापन (ऑडेन के ढंग पर) भारतभूषण अग्रवाल और मैंने लाने का प्रयत्न किया है, क्योंकि मैं मराठी कविता का अध्ययन करता रहा और प्राचीन मराठी कविता में तुकों का चमत्कार काफी है। मुक्तिबोध की बेतुकी रचना में गति भी कई बार टूटती है।

कर सको घृणा क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम?
जितनी अखंड हो सके घृणा उतना
प्रचंड रखते क्या जीवन का व्रत-नेम?

दूसरी पंक्ति के अन्त में गति कैसे टूट जाती है। प्रश्न यह कि यदि गति या गीत तोडना भी हो तो उसके पीछे कोई कारण, स्पष्टीकरण तो होना ही चाहिए।

अन्ततः मुझे निवेदन इतना ही करना है कि मुक्तछन्द का

हिन्दी में अभी बहुत एकरस और अराजकतापूर्ण चल रहा है। उसे संयत, समृद्ध और सजीव बनाने की ओर हम आधुनिक कवि अधिक विवेक से जुटें।

४. ग्राम गीत में काल-बोध

सुधांशु जी ने इस अध्याय में एक बहुत महत्वपूर्ण विषय को उठाया है, जिधर हिन्दी के समीक्षकों का पर्याप्त ध्यान नहीं गया है। "ग्राम-गीतों में काल की अवधि को बताने के लिये साधारण इतिवृत्तात्मक ढंग का प्रयोग न कर, गोचर प्रत्यक्षीकरण रूप का व्यवहार प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। काल-बोध की ऐसी काव्योपयुक्त प्रणाली से ग्राम-गीत की रचयित्रियों की भावुकता तो झलकती ही है, साथ ही ग्राम-जीवन के अनुकूल सौगंधत्व का निर्वाह भी हो जाता है।" (पृ० १९८)

"इतिहास और काव्य दोनों की शैलियां भिन्न-भिन्न हो तीहैं। संख्या से कलांशों के दीर्घत्व का जो बोध होता है, वह इतिहास की शैली है और जो उसका एक गोचर समन्वय उपस्थित करता है, वह काव्य है। ...काल के मापदण्ड की यह प्रणाली (कि वृक्षों के रोपण से फूलने-फलने तक की अवधि का संकेत) हमारी आरण्यक संस्कृति का प्रतिफल है। प्रकृति का यह साहचर्य सनातन है।....बोध्य और राम में अन्तर है।" (पृ० १९९)

और "ग्राम-गीतों में यत्र-तत्र ऐतिहासिक तथ्यों का भी समावेश किया गया है, जिन्हें हम 'सत्य कल्पनाएं' कह सकते हैं।" (पृ० २०७)

इस प्रकार से सुधांशु जी ने एक प्रश्न उठाया है। क्या 'लोकगीत' पहाड़ों की तरह अजरामर और अपरिवर्तनीय, वृक्षों की तरह प्राचीन, केवल जन-जन के कंठ से प्रस्फुट उद्‌गार मात्र ही हैं ? या उनमें से उस काल के भी दर्शन मिलते हैं, उस दैशिक वातावरण के रीति-रिवाजों की भी झांकी मिलती है ? १८५७ के आस-पास के जो मेरठ-

अंचल के लोकगीत मिले हैं ('व्यक्ति और वाङ्मय' नामक मेरे ग्रन्थ में प्रकाशित) उनसे बहुत सी चीजों पर. प्रकाश पड़ता है । यों लोक-गीत इतिहास के लिए उपयोगी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु अबतक लोकगीतों का अध्ययन रस-ग्रहण की दृष्टि के अधिक हुआ है, समाजवैज्ञानिक छानबीन की दृष्टि से कम। हिन्दी में मैथिली लोकगीत रामइकबालसिंह 'राकेश', भोजपुरी कृष्णदेव उपाध्याय और दुर्गाशंकर-सिंह, छत्तीसगढ़ी संग्रामसिंह, बुन्देलखंडी कृष्णानन्द गुप्त, पंजाबी सुदर्शन, अश्क और देवेन्द्र सत्यार्थी, काश्मीरी सत्यवती मल्लिक, मालवी श्याम परमार, निमाड़ी रामनारायण उपाध्याय, राजस्थानी नरोत्तम स्वामी और मोतीलाल मेमारिया, मेरठ-अंचल के गीत राहुल सांकृत्यायन और होमवती जी आदि ने एकत्र किये हैं। अभी इस दिशा में बहुत काम बाकी है। मराठी के साने गुरुजी तथा दुर्गा भागवत या गुजराती के मेघाणी की तरह बहुत सा काम हिन्दी में होना चाहिए । तभी यह समस्या सुलझेगी।

५. कला-गीत का विकास : छायावाद-रहस्यवाद आदि

सिद्धांत पक्ष में इस अन्तिम निबन्ध में ग्रामगीत और कलागीत का अन्तर बाल-सौन्दर्य और यौवन-सौन्दर्य की भांति करके सुधांशु जी ने कलागीत (जिसे भाव-गीत या गीति-काव्य या वैणिक या ऊर्मि-काव्य या लीरिक कहा जाता है) की अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। कलागीत के उद्गम में युद्ध और प्रेम की भावनाएं थीं। आगे चलकर काव्य में अप्रस्तुत-विधान बढ़ा है। इस लेख में 'लीरिक' के विषय में विशेष न लिखकर सुधांशु जी ने पर्याय से हिन्दी कविता के इतिहास का रेखाचित्र सा उपस्थित किया है । छायावाद, रहस्यवाद, हृदयवाद, प्रगतिवाद आदि का यह विवेचन बहुत सतही है। ऐसे गम्भीर ग्रन्थ में इससे अधिक मूलग्राही विवेचन अपेक्षित था।

वस्तुतः विचारणीय प्रश्न यह है कि डिंगल के चारण-काव्य और

सिद्धों तथा योगियों की अटपटी कूटबानी से निकली हिंदी की काव्य-धारा कैसे हाल, 'जयदेव, भागवत की प्रभाव-छाया में विद्यापति, सूर, मीरा के गीतों के रूप में चपल-मुखी वन्य-उरस सी आगे बढ़ी। विनय-पत्रिका में जैसे उसका पथ प्रशस्त हो गया। रहीम के बरवै ने 'प्रेमप्रीत का बिरवा' लगा दिया और उसमें जो रीतिकालीन जकडन और शैली का विजडीकरण (स्टाइलाइज़ेशन) आ गया था उसमें से रोमैंटिक और निहिलिस्ट कवियों ने नया मार्ग कैसे विद्रोह रूप में प्रस्तुत किया। कोलरिज और वर्डस्वर्थ के 'लीरिकल बैलेड्स' की भाँति पन्त के 'पल्लव' की भूमिका और निराला के 'परिमल' की भूमिका महत्त्वपूर्ण हैं।

'वाद' तो समीक्षक अपनी सुविधा या पूर्वग्रह या मताग्रह के लिए बना लेते हैं। वे नदी के घाट की तरह होते हैं। कभी-कभी वे बांध की तरह भी होते हैं। परन्तु नदी का प्रवाह सतत आगे बढ़ता है। उसी प्रकार से कलागीत की प्रसन्न पयस्विनी बहती है। उसमें कविमानस के अन्तरंग के पारदर्शी दर्शन होते हैं। आस-पास के देशकाल के घास-कास, सिंवार-कगार का भी उसमें प्रतिबिंब पड़ता है। निर्मल मुक्त आकाश की छाया भी उसमें पड़ती रहती है। परन्तु वह पानी की सतह पर पड़ने वाली बादलों की छाया की भाँति होती है।

सो अन्ततः समीक्षा का प्रश्न समूचे जीवन के, संपूर्ण सत्य के आविष्कार का प्रश्न है। कवि या गीतकार के व्यक्तित्व की सामाजिकता-असामाजिकता उसमें प्रतिफलित होती रहती है। अतः गीतकार के मानसिक विकास का अध्ययन, उसके युगीन रूपों के साथ-साथ होना चाहिए। 'हिन्दी में गीति-काव्य' प्रो० रामखेलावन की पुस्तक यह अध्ययन पूर्णतः नहीं प्रस्तुत करती। डा० शिवमंगलसिंह 'सुमन' का गीति-काव्य पर थीसिस (अप्रकाशित) अधिक विस्तार से, परम्परित पृष्ठ भूमि के साथ, यह विचार प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः कलागीत हो या ग्रामगीत, प्रश्न रचनाकार की ईमानदारी

का है। छायावाद के समर्थक डा० नगेन्द्र भी 'आधुनिक गीति-काव्य' पर लिखते समय छायावादियों की छद्म-अनुभूति का जो उल्लेख करते हैं वह इसीलिए। साहित्य-स्रष्टा की आत्म-निष्ठा और आत्म-वंचना एक महत्त्वपूर्ण कसौटी है। एक इतालवी साहित्य-समालोचक के शब्दों में—

१९३८ में 'साल्वातोरे दि ज्याकोमी' के स्मृतिदिन-समारोह पर फ्रान्स के धुरंधर समालोचक उगो ओजेत्ती (Ugo Ojetti) ने एक वाक्य कहा था:—'In arte la sincerita non e un punto di partenza, ma un punto di arrivo'। इसका अर्थ है: कला में सिन्सियरिटी अथवा आत्मनिष्ठा 'यह आरम्भ-बिन्दु न होकर वह ध्येय-बिन्दु है।' इसी वाक्य को लेकर उक्त लेखक ने वर्तमान कविता-साहित्य पर चर्चा की है, उसमें-से कुछ अंश वर्तमान हिन्दी साहित्य के अवगुणों पर भी लागू हो सकते हैं।—

"साहित्य में आत्मनिष्ठा कोई नैतिक आचार-तत्व न होकर एक मानसिक अथवा आन्तरिक स्थिति है। जब, अमुक लेखक आत्मवंचना करता है, ऐसा कहा जाता है, तब उसका अर्थ है कि उसके लिखने के आरम्भ ही से जिस उच्च मनोभूमिका की आवश्यकता होती है उसका अभाव था या कि वैसी मनस्थिति होने पर भी जो कुछ लिखा जा चुका है उसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उस आद्य आवश्यकता के साथ प्रतारणा हुई है। अर्थात् इस चर्चा में लेखक के साहित्य-विषयक व्यवहार पर नैतिक दृष्टि से विचार करने का कोई उद्देश्य न होकर, केवल पाठकों के मन पर उस लेखन का कैसा प्रभाव पड़ता है और उसी दृष्टिकोण की कसौटी पर लेखक को परखने का विचार मुख्य है। वस्तुतः आत्मनिष्ठा साहित्य-निर्माण तथा साहित्य-परिणति दोनों आदि तथा अन्त के बिन्दुओं की महत्वशालिनी आवश्यकता है। उगो ओजेत्ती का कथन इस दृष्टि से एकांगी है। उसे बदल कर यों कहना चाहिये था कि

आत्मनिष्ठा कला का आदि-बिंदु तो है ही पर साथ-ही-साथ उसकी परिणति भी उसी में होनी चाहिए।"

लेखनपूर्व आत्मनिष्ठा का अर्थ है लेख्य वस्तु; फिर वह वस्तु हो या व्यक्ति, प्रसंग हो या तात्विक कल्पना, उसके साथ लेखक की जो मानसिक प्रक्रियाएँ हैं उनके साथ प्रामाणिकता निभाना। किसी भी लेख्य वस्तु के प्रत्यक्ष परिज्ञान अथवा कल्पनामात्र से लेखक के मनोलोक में जो भी हलचल हो उसकी तीव्रता, गहराई और व्यापकता पर उसके लेखन का अन्तिम महत्व-मापन निर्भर रहेगा। परन्तु यह हलचल जैसी भी हो, व्यापक अथवा अव्यापक, उसके साथ प्रतारणा करके यदि लेखक लिखता है तो वह लेखन-साहित्य में ऊँचा कभी नहीं माना जा सकेगा। मुझे अपने आप जो भी ठीक लगता है वह लिखना साहित्यिक सफलता की पहली सीढ़ी है। और फिर उस लगने का, उन स्वतःनिष्ठ विचारों का अर्थपूर्ण तथा व्यापकता के साथ सुसंगतिपूर्ण होना, यह दूसरी सीढ़ी होगी। अपने को धोखा देकर जो कुछ भी लिखा जाता है वह साहित्य तो हो ही नहीं सकता।

आगे चल कर प्राथमिक आत्मवंचना के दो प्रकार कहे हैं। लेखनपूर्व आत्मवंचना में पहला प्रकार किसी सिद्धान्त अथवा भावना को ओढ़ क[र] उसमें अपनी आत्मनिष्ठा को पूरी तरह ढाँक कर लिखना है। दूसरी [प्रकार] है शब्द-मोह। केवल गीत की तर्ज़, सुन्दर सुकोमल शब्दों का जा[ल] और अधिक-प्रयुक्त उपमा-उत्प्रेक्षाओं में फँस जाना, यह आत्मवंचना [का] दूसरा महत्वशाली प्रकार है जो कि वर्तमान कविता को अधिकतर [खाये] जा रहा है। अधिकांश प्रेमगीतों की निर्जीवता इसी यांत्रिकता में है [।] एक विशिष्ट शब्दसंकेत अथवा रचनासंकेत की सूई ज्योंही कवि [के] हृदय-रिकार्ड को छूती है त्यों ही इन नाममात्र के भाव-गीतों (वीर्[य]) की उपज की याद आ जाती है। परन्तु यह बात अधिकांश लेख[कों की] अपरिपक्वता की निदर्शक है।

दूसरी अधिक महत्व की आत्मनिष्ठा है लेखनगर्भ-आत्मनिष्ठा। ओजेत्ती के वाक्य ने रोम-रोम में परिव्याप्त आत्मनिष्ठा को जो महत्व दिया, जिसके कारण उसे निभाना कितना कठिन है, यही बात है। उसकी राह में अगणित स्थल ऐसे हैं जहाँ अनजाने रूप से आत्मवंचना हो जाती है। सफल लेखकों की रचनाओं में भी ऐसे उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ कि आत्मनिष्ठा से अप्रामाणिक होने का मोह वे छोड़ नहीं सके।

इसके लिये प्राथमिक अनुभव और उसकी लिखित परिणति में तारतम्य होना बहुत आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी प्राथमिक अनुभव में जो नहीं है वह लेखन में आ जाता है, तो कभी-कभी प्राथमिक अनुभव में जो है वह लेखन में बुरी तरह खो जाता है, और कभी-कभी प्राथमिक अनुभव लिखित होकर विकृत भी हो जाता है। जहाँ-जहाँ आत्मिक अनुभव की आंतरिक संगति और सार्थकता सम्पूर्ण लेखन में-के शब्द और वाक्य और तदन्तर्गत सूचना-समुच्चय (एसोसियेशन्स) में नहीं आ पाती वहीं लेखनगर्भ आत्मवंचना समझो। इस आत्मवंचना के गौण कारण, आत्मिक अनुभवों को शब्द-रूप देने की अधीरता तथा शब्द-संपत्ति की संकुचितता तो हैं ही, पर मुख्य कारण पहिले तो जिस आंतरिक अनुभव से लेखन शुरू हो उसी का स्पष्ट रहना है। कल्पना-जाल का, भावुकता के केवल एक ही छोर या तागा पकड़ कर रचनारंभ कर देना तथा उस एक तागे के आस-पास बुने हुए मानसिक भावों का पूरा आकलन करना दूसरा कारण है। तीसरे, यदि वह कल्पना पूरी तरह अनुभूत भी हो तो भी अभिव्यक्ति की कठिनाई से आत्मवंचना हो जाती है।

उत्कृष्ट कविता अथवा रचना उस फ़व्वारे के समान होनी चाहिये जिसका कण-कण अन्तर्प्रेरणा के दबने की प्रतिक्रिया में उत्स्फूर्त हो। जीवन-तत्व का अखंड, अप्रतिहत कोष अन्तर में लेकर फिर शब्द-तुषार-

सृष्टि उचित है, नहीं तो वह कृत्रिम और अल्पजीवी होती है। आत्मिक अनुभव से जब तक हम हार्दिक और प्रामाणिक हैं तब तक हमारा लिखना अमर है, पर योग्य और दृढ़ आत्मविश्वास छोड़ कर हमारे लेखक पारिस्थितिक दबाव से अपनी कल्पनाओं में-का आत्म-तत्व किसी परावलंबित 'वाद' या 'थियरी' से परिवेष्टित रख कर अपनी भाषा को अलंकारपूर्ण बना कर परिणामकारी बनाने के थोथे प्रयत्न में लगे हुए हैं।

हिन्दी के अन्य आलोचक : ६ :

(अ) शास्त्रीय आलोचक

इस अध्याय के अन्तर्गत हम उन आलोचकों की बात करेंगे जिन्होंने हिन्दी भाषा तथा साहित्य में नवीन खोज की या भाषाशैली को सुस्थिर बनाया। ऐसे आलोचक हिन्दी में बहुत थोड़े हैं। वैसे तो हिन्दी आलोचना का सूत्रपात ऐतिहासिक दृष्टि से भारतेन्दु-काल मे ही हो गया था, परन्तु उसका स्वरूप बहुत कुछ वैयक्तिक रुचि-अरुचि तक सीमित था। जैसे बदरीनारायण चौधरी ने लाला श्रीनिवासदास के 'संयोगिता-स्वयंवर' की विस्तृत और कठोर समालोचना कादंबिनी के २१ पृष्ठों में छापी और उसमें लिखा—"यद्यपि इस पुस्तक की समालोचना करने से पूर्व इसके समालोचकों की समालोचनाओं की समालोचना करने की आवश्यकता जान पड़ती है, क्योंकि जब हम इस नाटक की समालोचना अपने बहुतेरे सहयोगी और मित्रों को करते देखते हैं, तो अपनी ओर से जहाँ तक खुशामद और चापलूसी का कोई दरजा पाते हैं, शेष छोड़ते नहीं दिखाते।" यह सन् १८८४ के समय की हिन्दी समालोचना का नमूना है।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के पूर्व तक हिन्दी समालोचना ... वैज्ञानिक, सुव्यवस्थित रूप नहीं मिला था। द्विवेदी जी मुख्यतः पत्र...

थे, और हिन्दी भाषा को शुद्ध और मानक (स्टैंडर्ड) रूप देने का उन्होंने बहुत उद्योग किया। अंग्रेज़ी, मराठी आदि भाषाओं के प्रभाव से उत्तम जानकारी भरे निबन्ध भी उन्होंने लिखे। मिश्रबन्धुओं ने भी हिन्दी समीक्षा के लिए मार्ग प्रशस्त करने वाला बहुत-सा पूर्व-कार्य (स्पेड-वर्क) किया। पद्मसिंह शर्मा ने भी बिहारी इत्यादि पर अपने ढंग पर अपनी भावनात्मक प्रतिक्रियाओं को व्यक्त किया। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में—"यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही। भाषा के गुण, दोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता इन्हीं सब परंपरागत विषयों तक पहुंची। स्थायी साहित्य में परिगणित होने वाली समालोचना, जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म व्यवच्छेद होता है, उनकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखलाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।"

हमारे यहाँ संस्कृत साहित्य के काल से ही टीका या विस्तृत सोदाहरण स्पष्टीकरण ही समालोचना का उद्देश्य था। गुण और दोष मीमांसा के अलावा कभी कभी किसी कवि की किसी विशेषता पर सूत्र रूप में कह दिया जाता था, जैसे 'उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्' आदि। किसी एक कवि या लेखक की कृतियों का सम्यग्दर्शन कराने वाले ग्रंथ हमारे यहाँ नहीं लिखे जाते थे। यह पद्धति तो योरुपवालों के हमारे संपर्क में आने के बाद आई। 'कालिदास की आलोचना', 'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा', 'नैषधचरित-चर्चा' और 'कालिदास की निरंकुशता' में द्विवेदी जी ने हिन्दी पाठकों को संस्कृत का परिचय ही अधिक दिया था। इनके बारे में शुक्ल जी का मत है कि "यह पुस्तकें हिन्दी वालों के या संस्कृत वालों के फायदे के लिए लिखी गईं, यह ठीक-ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो, इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्ले वालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में ही समझना चाहिए, स्वतन्त्र समालोचना के रूप में नहीं।"

कृष्णबिहारी मिश्र का 'देव और बिहारी', पद्मसिंह शर्मा की बिहारी सतसई की टीका की प्रतिक्रिया के रूप में लिखी गई। शर्मा जी की पुस्तक से 'देव बड़े कि बिहारी' यह भद्दा झगड़ा सामने आया। दूसरे, तुलनात्मक समालोचना के पीछे लोग बेतरह पड़े। तुलनात्मक समालोचना का दौर ऐसा आया कि 'जिन दो पद्यों में वास्तव में कोई भावसाम्य नहीं था उनमें भी बादरायण सम्बन्ध लोगों ने स्थापित किया।' कृष्णबिहारी मिश्र की मतिराम-ग्रंथावली की भूमिका इसी तरह की अनावश्यक तुलनाओं से भरी है।

शास्त्रीय समालोचना निर्णयात्मक, व्याख्यात्मक, ऐतिहासिक, तुलनात्मक पद्धति की अधिक है। इसमें मनोवैज्ञानिक समीक्षा की सी विश्लेषण की सूक्ष्मता, या रसवादियों की भावुकता और रसग्रहण की क्षमता नहीं दिखाई देती। आगे चलकर मैंने अपने अध्ययन-संकलन से कुछ विद्वानों की महावीरप्रसाद द्विवेदी, प० पु० बख्शी और हजारी-प्रसाद द्विवेदी पर लिखी आलोचनाओं के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा पर मैंने स्वतंत्र रूप से लिखा है। पाठकों की सुविधा के लिए यथासंभव इन आलोचकों की लेखनशैली के उदाहरण के तौर पर लेखांश या वाद-विवाद के अंश भी दिये हैं। यह सब सार-संकलन विशेष उद्देश्य से किया गया है। आगे भी अन्य आलोचकों के वर्गीकरण के समय यही शैली अपनाई है। आरम्भ में इन आलोचकों पर कुछ परिचयात्मक सामान्य रूप से कहकर एक-एक आलोचक को यथासंभव उसी के शब्दों में अपनी कैफियत देने का अवसर दिया है। कहीं-कहीं मुझे आवश्यक उद्धरण या अन्य आलोचकों की उन आलोचना पर मीमांसाएँ कम मिली हैं, वहाँ मैंने अपनी ओर से कुछ जोड़ा भी है। अन्यथा पाठकों को इन लेखकों के प्रति अपने मत स्वयं बनाने का पथ मैंने प्रशस्त किया है। मेरा कार्य दिशा-संकेत मात्र है, पूरा दिग्दर्शन कराना नहीं। अब आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी पर एक विद्वान् का लेख पढ़िये।

लेख 'विशाल भारत' में निकला था। लेखक का नाम मुझे नहीं मिल पाया।

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य द्विवेदी जो बार-बार मनोरंजन तथा उपदेश का नाम लेते हैं, उसका कारण प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियों का प्रभाव तो है ही, तद्‌युगीन साहित्य-परिस्थिति भी है जिसमें नीतिमत्ता का प्रचार विशेष था। वस्तुतः द्विवेदी-युग के काव्य में उपदेश या नीतिवाद का प्राधान्य है। वे मनोरंजन को भी लक्ष्य करके लिखे जाते थे। उपदेश या नीति को दृष्टिपथ में रख कर काव्य की मीमांसा करने वाले आचार्य द्विवेदी रीतिकालीन काव्य-विषयों से असन्तुष्ट और अप्रसन्न प्रतीत होते हैं। उनका कहना है—"यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्‌भुत-अद्‌भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की।"

साधारण जन यह समझते हैं कि काव्य या कविता वही है जो पद्य में लिखी जाय, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। प्राचीन समय में भी गद्य में काव्य लिखा जाता था। बाण भट्ट की 'कादम्बरी' है तो गद्य में, परन्तु है वह काव्य ही। इस विषय में आचार्य द्विवेदी के विचार भी ऐसे ही हैं। उनका कथन है—"गद्य और पद्य दोनों ही में कविता हो सकती है।"

शिष्ट समीक्षकों की भांति आचार्य द्विवेदी भी शब्दालंकारों को काव्य के लिए गौण स्वीकार करते हैं। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि इनके द्वारा काव्य की हानि ही होती है। वे अच्छे काव्य के लिए सुन्दर अर्थ और रसग्राहकत्व आवश्यक मानते हैं। यह उद्धरण देखिए—"अनुप्रास और यमक आदि शब्दाडम्बर कविता के आधार नहीं, जो उनके न होने से कविता निर्जीव हो जाय या उसे कोई अपरिमेय हानि पहुँचे। कविता का अच्छा और बुरा होना विशेषतः अच्छे अर्थ और रसग्राहकत्व

पर अवलम्बित है। परन्तु अनुप्रासों के ढूंढ़ने में, प्रयास उठाने में समुचित शब्द न निकलने से अर्थांश की हानि हो जाया करती है, इससे कविता की चारुता नष्ट हो जाया करती है।" इस प्रकार विदित यह होता है कि आचार्य द्विवेदी चमत्कारवाद के चक्कर में न स्वयं पड़ना चाहते हैं और न किसी को पड़ने देना चाहते हैं।

काव्य में छन्दोविधान के विषय में आचार्य द्विवेदी के विचार बड़े उदार हैं। इस क्षेत्र में वे परम्परा की लकीर पीटने के पक्षपाती नहीं हैं। हिन्दी में वे संस्कृत के वृत्तों का प्रयोग और प्रचार देखना चाहते हैं। उनका कहना है—"हमारा अभिप्राय यह है कि इनके (दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैये के) साथ-साथ संस्कृत काव्यों में प्रयोग किए गए वृत्तों में से दो-चार उत्तमोत्तम वृत्तों का भी प्रचार हिन्दी में किया जाय।" आगे वे कहते हैं कि ऐसा करने से "हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी।" द्विवेदी-युग में संस्कृत वृत्तों के प्रयोग तथा प्रचार के मूलाधार निःसन्देह ही आचार्य द्विवेदी के ये विचार हैं। विषयानुकूल छन्दोयोजना पर भी उनकी दृष्टि है। और वे तुकान्त-विहीन छन्द-रचना का प्रस्ताव भी इन शब्दों के साथ करते हैं—"पदान्त में अनुप्रास-हीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिएं। अनुप्रासहीन छन्द हिन्दी में लिखे जाने की आवश्यकता है।" इस प्रकार ज्ञात होता है कि हिन्दी में छन्दोयोजना के विषय में आचार्य द्विवेदी के विचार पूर्णतः स्वच्छन्द हैं।

काव्य-भाषा के विषय में आचार्य द्विवेदी के विचार वैसे ही हैं जैसे अंगरेज़ कवि वर्ड्सवर्थ के। काव्य-भाषा इतनी सरल हो कि वह सर्वबोधगम्य हो सके, इस पर दोनों व्यक्तियों की दृष्टि है। ये दोनों जन-काव्य-भाषा की प्रभूत आलंकारिकता के पक्षपाती नहीं हैं। आचार्य द्विवेदी कहते हैं—"कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ भी हृदयंगम कर सके। पद्य पढ़ते

ही उसका अर्थ बुद्धिस्थ हो जाने से विशेष आनन्द प्राप्त होता है और पढ़ने में भी जी लगता है।" वर्ड्सवर्थ ने भी सर्वसुलभ भाषा लिखने की प्रतिज्ञा की थी। यह बात दूसरी है कि वह इस प्रतिज्ञा को सर्वत्र नहीं निभा सके। सर्वसुलभ भाषा के साथ ही उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों की धारणा थी कि गद्य तथा पद्य की भाषा पृथक-पृथक न होनी चाहिए। श्री वर्ड्सवर्थ निःशंक रूप से इसकी स्थापना करना चाहते हैं कि गद्य तथा पद्य की भाषा में तात्विक भेद नहीं है। जब आचार्य द्विवेदी यह कहते हैं कि 'बोलना एक भाषा में और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है', तब निःसन्देह ही उनकी दृष्टि द्विवेदी-युग तथा इसके पूर्व के युगों में भी बोलचाल के काम में आने वाली भाषा खड़ी बोली का जितना महत्व था, उतना हिन्दी की अन्य भाषाओं का नहीं। वे खड़ी बोली के कवियों की विशेष प्रतिष्ठा करते थे, उन्हें विशेष प्रोत्साहन देते थे। खड़ी बोली के उन्नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रति उनकी विशेष श्रद्धा थी। ब्रजभाषा के प्राचीन कवि बिहारी, पद्माकर, मतिराम आदि उनकी दृष्टि में उतने ऊँचे न थे; यह बात आचार्य द्विवेदी-लिखित 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा देखने से स्पष्ट हो जाती है।

आचार्य द्विवेदी के काव्य-सम्बन्धी उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि वे हिन्दी वालों को शास्त्रीय जटिलताओं में उलझाना नहीं चाहते थे। वे साहित्य का सरल, सीधा और सामान्य मार्ग स्थापित करना चाहते थे। उनके काव्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों में निश्चय ही बड़ी सादगी है। इस सादगी के मूल में व्यावहारिकता तथा यथार्थ की प्रेरणा विशेष रूप से निहित है। हिन्दी में संस्कृत की कुछ वस्तुओं का त्याग भी वे करना चाहते हैं—यथार्थ और व्यावहारिकता को दृष्टि-पथ में रखकर। जैसे संस्कृत में सुखान्त नाटक-रचना का ही विधान है, दुखान्त व वियोगान्त का नहीं। आचार्य द्विवेदी दुखान्त व वियोगान्त नाट्य-रचना का विधान भी आवश्यक स्वीकार करते हैं और इसका कारण भी बताते हैं। वे

कहते हैं—"वियोगान्त अथवा दुःखान्त नाटकों का क्यों अभाव होना चाहिए—इसका कोई कारण नहीं देख पड़ता। दृश्य काव्य का अभिप्राय मनुष्य-चरित को अभिनय द्वारा दिखलाना ही है। मनुष्य को सुख भी होता है और दुःख भी। दुराचारियों के कर्मों का फल प्रायः दुःखमय ही हुआ करता है। अतएव यदि ऐसों का चरित दृश्य काव्य के रूप में दिखलाया जाय, तो उसका अन्त दुःखद ही होना चाहिए। अतएव वियोगान्त अथवा दुःखान्त नाटक लिखना, हमारी समझ में, अनुचित नहीं है।"—(नाट्यशास्त्र)। हिन्दी नाटककारों के लिए वे संस्कृत में विहित नाटक के अनेक भेदों को जानना भी आवश्यक नहीं बताते। वे कहते हैं—"...हमारा यह मत है कि हिन्दी में नाटक लिखने वालों के लिए इन सब भेदों (रूपक के दश तथा उपरूपक के अठारह भेदों) का विचार करना विशेष आवश्यक नहीं।" बात यह है कि लक्षण को दृष्टि में रखकर सचमुच कोई प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकार रचना करने बैठता भी नहीं।

हिन्दी-साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य द्विवेदी का जो महत्व है, हिन्दी-भाषा की समीक्षा के क्षेत्र में भी उससे कुछ कम महत्व उनका नहीं है। वे भाषा के बड़े भारी समीक्षक थे। आचार्य द्विवेदी खड़ी बोली हिन्दी भाषा के हिमायती थे, अतः उन्होंने उसी का संस्कार किया। भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली हिन्दी भाषा का ग्रहण विशेषतः गद्य तथा पद्य के लिए हो तो गया था, परन्तु उसके संस्कार की ओर किसी की भी दृष्टि नहीं गई थी। ऐसी स्थिति में भारतीय या हिन्दी-भाषा की परम्परागत प्रवृत्तियों पर लोगों की दृष्टि कम थी। उस युग में भी उर्दूपन, पूर्वीपन, पंडिताऊपन आदि पनों का प्रभाव हिन्दी के लेखकों पर मिलता है। उस युग में 'चर्चा' को कुछ लोग पुलिंग लिखते ही थे, 'वे कहे'-जैसे पूर्वी प्रयोग तथा कुछ पूर्वी शब्दों का भी प्रयोग होता ही था और 'समुझाय-बुझाय' भी लिखा ही जाता था। इस प्रकार के प्रयोग भारतेन्दु-युग के प्रतिनिधि लेखकों में भी मिलते हैं;

जैसे—सर्वश्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' में। आचार्य द्विवेदी ने खड़ी बोली हिन्दी के उपर्युक्त दोषों को दूर कर उसे समर्थ बनाया, जिसमें कठिन-से-कठिन प्रौढ़ भाव-विचार भी व्यक्त किए जा सकें। खड़ी बोली हिन्दी के सभी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म व्याकरणिक दोषों पर आचार्य द्विवेदी की दृष्टि गई और उन्होंने उसे दूर किया। भाषा-संशोधन पर जितनी उनकी दृष्टि थी, सम्भवतः उतनी और किसी की नहीं। इस क्षेत्र में उनकी रुचि भी बड़ी प्रबल थी, जिसका पता केवल 'अनस्थिरता' शब्द पर चले विवाद से ही चल सकता है। आचार्य द्विवेदी द्वारा किए गए भाषा-संशोधन या समीक्षा का जितना मूल्य लगाया जाय, थोड़ा है।

आचार्य द्विवेदी की आलोचना-शैली पर विचार करते समय हमें इस पर ध्यान रखना होगा कि उनकी आलोचना का मानदंड गुण-दोष-निरूपण है। ऐसी स्थिति में यह सत्य है कि दोष दिखने पर वे उसे बिना दिखाए और उसकी कड़ी समीक्षा किए नहीं रहते थे और गुण मिलने पर वे उसकी प्रशंसा में भी कोताही नहीं दिखाते थे। गुण-दोष-निरूपण में आचार्य द्विवेदी ने मित्र के प्रति राग तथा शत्रु के प्रति द्वेष के भाव का प्रदर्शन कभी नहीं किया। समीक्षा करते समय उनके लिए सभी बराबर थे—नवीन-प्राचीन भी, छोटे-बड़े भी, शत्रु-मित्र भी। आचार्य द्विवेदी के आलोचन-कार्य में दो प्रेरणाएँ स्पष्टतः लक्षित होती हैं। एक तो आलोच्य के यथार्थ रूप के प्रदर्शन की प्रेरणा और दूसरे इस कार्य को करते हुए हिन्दी वालों को गुणों को पकड़ने और दोषों से बचने की ओर ले जाने की प्रेरणा। इस प्रकार उनकी आलोचनाएँ सर्वत्र संस्कार या सुधार का सन्देश देती हुई-सी प्रतीत होती हैं। उनकी आलोचनाएँ हिन्दी वालों के लिए उपकारी सिद्ध हुई हैं। इसकी भनक आचार्य द्विवेदी के कान तक भी पहुँची थी। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में एक स्थल पर उन्होंने कहा है—"लोगों का यह विश्वास है कि हमारी आलोचना से बहुत-कुछ उपकार हुआ है।"

आचार्य द्विवेदी दोष-निरूपण में किसी की परवाह नहीं करते थे। दोष के प्रसंग में आलोच्य की वे कटु आलोचना करते थे, और इस कटु आलोचना में भी हिन्दी का उपकार करने की भावना निहित रहती थी। आचार्य द्विवेदी के जीवन-काल में ही उनकी इस प्रकार की आलोचना को लोग तीव्र कहते थे, परन्तु स्वतः वे इसे तीव्र नहीं स्वीकार करते। उनका कहना है—"कोई-कोई हमारी समालोचनाओं को तीव्र बतलाते हैं और कहते हैं कि यदि मिठाई देने से कोई मरता हो, तो उसे संखिया क्यों खिलाना चाहिऐ। . . . हां, इतना हम यहाँ पर अवश्य कहना चाहते हैं कि हमारी समालोचना तीव्र समालोचना की कक्षा में नहीं संनिविष्ट की जा सकती। जिसे यह देखना हो कि तीव्र समालोचना कैसी होती है, वह यदि अंगरेज़ी जानता हो तो वाशिंगटन मून साहब-कृत 'Bad English Exposed' नामक पुस्तक देखे। उसके देखने से उसकी आँखें खुल जायँगी और तत्काल ही उसे तीव्र और मृदु समालोचना का भेद विदित हो जावेगा।"

आचार्य द्विवेदी की उपकार-बुद्धि से ही प्रस्तुत की हुई कटु आलोचनाओं से भी कुछ लोग बहुत असन्तुष्ट थे। 'कालिदास की निरंकुशता' पर तो अनेक लोगों ने क्षोभ प्रकट किया था, यद्यपि उनमें आचार्य द्विवेदी ने लिख दिया था कि "पाठक, विश्वास कीजिए, यह लेख हम कालिदास के दोष दिखला कर उनमें आपकी श्रद्धा कम करने के इरादे से नहीं लिख रहे। ऐसा करना हम घोर पाप समझते हैं—भारी कृतघ्नता समझते हैं। इसे आप वाग्विलास समझिए। यह केवल आपका मनोरंजन करने के लिए है।" इतना कहने पर भी जब लोगों ने रुष्टता प्रकट की, तब इस विषय में आचार्य द्विवेदी ने 'आलोचनांजलि' के 'प्राचीन कवियों में दोषोद्भावना' शीर्षक लेख में कहा था—"इस विवेचन से पाठकों को यह भी मालूम हो जायगा कि कालिदास की निरंकुशता नामक लेख में जिन दोषों का उल्लेख हुआ है, उनमें से दो-चार को छोड़ कर शेष सब दोषों को संस्कृत के साहित्य-शास्त्र-

प्रणेताओं ने स्वीकार किया है। जो बातें इन महात्माओं ने पहले ही से लिख रखी हैं, उन्हीं का निदर्शन कराना भी यदि हिन्दी में मना हो, तो उसके साहित्य से समालोचना का बहिष्कार ही कर देना चाहिए।"
उपर्युक्त पुस्तक के निवेदन में उन्होंने स्पष्टतः कहा है कि खंडनात्मक या दोष-दर्शक समालोचना से साहित्य की हानि नहीं, प्रत्युत लाभ ही होता है, और इस प्रकार की समालोचना सनातन से होती आ रही है।

आचार्य द्विवेदी की ऐसी समालोचनाएँ, जिनमें खंडनात्मकता या दोष-दर्शन का प्राधान्य है, मुख्यतः दो हैं—एक तो 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' और दूसरी 'कालिदास की निरंकुशता'। 'कालिदास की निरंकुशता' में जिन विशिष्ट निरंकुशताओं या दोषों का विवेचन आलोचक ने किया है, उनकी पुष्टि उसने सयुक्ति तथा सतर्क बड़ी विद्वत्तापूर्वक की है। उनके विषय में कोई कालिदास की ओर से कुछ तर्क उपस्थित करने का साहस सम्भवतः न कर सके। इसकी चर्चा की जा चुकी है कि कालिदास के जिन दोषों का विवेचन आचार्य द्विवेदी ने किया है, उनकी मीमांसा कालिदास के टीकाकार कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में आलोचक का लक्ष्य हिन्दी वालों को दोषों का परिचय कराना है। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' के विषय में समझ रखना चाहिए कि अनुवादक ने कालिदास की मूल रचना को सम्भवतः भली-भान्ति समझा नहीं है, अतः उसने मनमाना अनुवाद किया है। आचार्य द्विवेदी ने इस मनमाने अनुवाद की आलोचना अच्छी तरह की है, जिसमें उपहासमयी शैली का प्रयोग विशेष है। अनुवादक ने 'कुमारसम्भव' के अनुवाद में प्रायः स्थलों को छोड़ दिया है। इस पर आलोचक ने उसकी आलोचना उपहासमयी शैली से की है। भावात्मक शैली का भी प्रयोग मिलता है, जिसमें कालिदास को सम्बोधित करने के कारण करुणा का भी कुछ पुट आ गया है। जैसे, "हा कालिदास! तुम्हारे वे लोकोत्तर पद्य, जो आज चिरकाल से अघात चले आए और जिनके रसामृत को पान करके विद्वज्जन उन्मत्त होकर अपने को भूल जाते रहे, आज उनकी

यह दशा देख हृदय विदीर्ण हुआ जाता है ! . . ." इस प्रकार कवि या पाठक को सम्बोधित कर समालोचना करना आलोचना की प्राचीन शैली है, जो 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में प्राप्त है। 'नैपध-चरित-चर्चा' में यद्यपि प्रौढ़ आलोचना शैली का प्रयोग है, तथापि यत्र-तत्र ऐसे स्थल भी मिलते हैं—'क्या कहना है ! इससे बढ़ी-चढ़ी कल्पना और क्या हो सकती है !' ध्यान में रखने की बात यह है कि समालोचना की यह पद्धति आचार्य द्विवेदी की प्रायः आरम्भिक आलोचनाओं में ही यत्र-तत्र प्राप्त होती है। एक बात और। हमारी धारणा यह है कि जिस प्रकार गुण-विवेचन की शक्ति का महत्व स्वीकार किया जाना चाहिए, उसी प्रकार दोप-विवेचन की शक्ति का भी। दोनों कार्य ज्ञान तथा अनुभूति सापेक्ष हैं। ऐसी स्थिति में खण्डनात्मक समीक्षा करने वाले आचार्य द्विवेदी का महत्व कम स्वीकार नहीं किया जा सकता।

आचार्य द्विवेदी की दृष्टि समालोचना को पाठकों के लिए सुगम तथा स्पष्ट बनाने पर सर्वत्र दिखाई पड़ती है, जो एक शिष्ट समीक्षक का परम धर्म है। सुगमता को दृष्टि पथ में रखकर ही उन्होंने 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में 'कुमारसंभव', 'ऋतुसंहार', 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' की समीक्षा के पूर्व, प्रायः आरम्भ में, उनका अति संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय दे दिया है - हिन्दी पाठकों की सुगमता या जानकारी के लिए। स्पष्टतः तथा वस्तुस्थिति की यथार्थता के प्रदर्शन के लिए उन्होंने कई आलोचनाओं में तुलनात्मक समीक्षा की पद्धति को ग्रहण किया है; जैसे—'कालिदास' में कालिदास की तुलना शेक्सपियर तथा भवभूति से संक्षेप में, मार्मिक और युक्तिसंगत रूप से की गई है। इसी प्रकार 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' में 'मेघदूत-भाषा' की ग्राम्यता तथा नीरसता की आलोचना करते हुए लाला सीताराम की निकृष्ट रचना की तुलना में आलोचक ने प्रायः सभी स्थलों पर राजा लक्ष्मणसिंहकृत 'मेघदूत' के उत्कृष्ट हिन्दी-अनुवाद को रखा है—इसी लिए कि पाठक समझ जायँ कि लाला जी का अनुवाद कितना भ्रष्ट है

और साथ ही उन्हें यह भी मालूम हो जाय कि हिन्दी में भी कितना उत्तम अनुवाद हो सकता है। इसे आलोच्य विषय को स्पष्ट करने के लिए—उसके दोष की यथार्थता प्रकाशित करने के लिए—तुलनात्मक आलोचना कह सकते हैं।

आलोचनाओं में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि काव्य-समीक्षा पर अत्यल्प रही और कवि या उसके आश्रयदाता के समय, उसके जीवनवृत्त आदि पर अत्यधिक। आज समालोचना के क्षेत्र में कवि की जीवनी तथा उसके काल-निर्णय पर विशेष दृष्टि डालने की पद्धति नहीं है। ये साहित्य के इतिहास के क्षेत्र की वस्तुएं समझी जाती हैं। हां, यह अवश्य है कि यदि इनका उपयोग किया जाय, तो ये समीक्षा में सहायक हो सकती हैं। परन्तु आचार्य द्विवेदी ने आलोचना में इनकी सहायता नहीं ली है। स्वतन्त्र रूप से इनका विवेचन किया है, जो आज सम्भवतः उचित न समझा जाय। 'विक्रमांकदेवचरित-चर्चा' में आलोचक ने आलोच्य ग्रन्थ के आधार पर कवि तथा उसके आश्रयदाता की जीवनी में अत्यधिक समय लगाया है, उसकी कविता पर बहुत कम। 'नैषध-चरित-चर्चा' के विषय में भी यही समझना चाहिए। इसमें भी कवि के काल, उसके वंश, चरित आदि के विवेचन में आलोचक ने विशेष समय लगाया है। केवल एक शीर्षक के अन्तर्गत अति संक्षेप में कवि के काव्य पर निर्देश-मात्र कर दिया गया है। नमूने के पद्य में उसने कवि के कुछ गुण-दोषों पर कहा है। 'कालिदास' में भी कालिदास की तिथि पर ही १०८ पृष्ठों में विचार किया गया है और कुल पुस्तक २३९ पृष्ठों की है। इस प्रकार विदित होता है कि उपर्युक्त ग्रन्थों में आचार्य द्विवेदी की दृष्टि काव्यालोचन पर, जैसी होनी चाहिए वैसी नहीं है। परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इनमें जो-कुछ भी है और वह चाहे जिस भी पद्धति पर कहा गया है, सब पूर्णतः प्रौढ़ है। इन आलोचनाओं में भावात्मक पद्धति को ग्रहण नहीं किया गया है। इनमें आचार्य द्विवेदी ने बड़ी उदारता तथा सहृदयता से काम लिया है। जैसे, 'विक्रमांकदेव-

चरित' में विल्हण ने अनेक स्थलों पर 'रघुवंश' से भाव ग्रहण किए हैं। इस पर आलोचक ने केवल इतना ही कहा है कि ऐसे कवि को ऐसा करना शोभा नहीं देता। इस अनुकरणशीलता के दोष के अतिरिक्त उन पर और किसी प्रकार का दोष नहीं लगाया है। इसमें प्रायः गुणों का ही वर्णन किया गया है और उनकी प्रशंसा की गई है। 'कालिदास' में भी कवि की विशेषताओं का वर्णन बड़ी सहृदयतापूर्वक किया गया है। कहीं-कहीं तो एक-एक शब्द के सौन्दर्य तथा उसके युक्तिसंगतत्व पर दृष्टिपात किया गया है। इस पुस्तक में सहृदयता तथा विवेचना का प्राधान्य है। इन दोनों बातों को हम एक साथ ही 'कालिदास के मेघदूत का रहस्य' शीर्षक लेख में देख सकते हैं। आलोचक ने कवि की रचनाओं को बड़े ही निकट से देखकर उसकी आलोचना सहृयतापूर्वक की है। इस पुस्तक में आचार्य द्विवेदी ने कालिदास की कविता द्वारा आभासित तत्कालीन भारत तथा उसके आचार-विचार-व्यवहार आदि का भी निर्देश किया है।

आचार्य द्विवेदी की आलोचनाओं की भाषा-शैली के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। भाषा के तो वे पण्डित ही थे। उनकी आरम्भिक कुछ आलोचनाओं में भाषा-शैली कुछ मध्यम कोटि की मिलती है, अन्यथा सर्वत्र प्रौढ़ भाषा-शैली का प्रयोग हुआ है। प्रभाव डालने के लिए अनेक आलोचनाओं में एक ही बात अनेक ढंग से बड़ी पटुतापूर्वक कही गई है। जहाँ जिस प्रकार की भाषा-शैली की आवश्यकता हुई है, वहाँ उसी प्रकार की भाषा-शैली प्रयुक्त हुई है। कहीं-कहीं उर्दू-फ़ारसी और अंगरेज़ी के चलते शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। विरोध के स्थलों पर उनकी भाषा-शैली में विशेष बल लक्षित होता है। यह स्वाभाविक भी है। क्रोधपूर्ण और व्यंग्यात्मक शैली का एक उदाहरण देखें—"जिस देश के पढ़े-लिखे लोगों का यह हाल है कि पुराने ग्रन्थों के दोष दिखलाना वे पाप समझते हैं, उनमें गुण-दोष-निर्णायक शक्ति, बतलाइए, कैसे उत्पन्न हो सकती है? ऐसी शक्ति

उत्पन्न हो या न हो, बोलो मत। वाल्मीकि और कालिदास के दोष दिखलाकर नरक में जाने का उपक्रम मत करो। यदि समालोचना किए बिना न रहा जाय, तो प्राचीन ग्रन्थकारों के गुण ही गुण गाओ। जब उन्हें सुनते-सुनते लोग ऊब जायँ, तब दोष दिखलाना।... तुम क्यों नाहक पुराने पंडितों के दोष दिखलाकर व्यर्थ के लिए पातक मोल लेते हो। न सुनोगे, तो तुम्हें वर्षों गालियाँ सुनावेंगे और तुम्हारे लेख ही की नहीं, तुम्हारी भी समालोचना करेंगे।" ('आलोचनांजलि')

२. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

मैं हिन्दी में तीन आलोचकों के सम्मुख नत-मस्तक हूँ। यानी उनकी लिखी हुई पंक्ति-पंक्ति मैंने पढ़ी है और उनसे मैं प्रभावित हुआ हूँ। वे हैं सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। इन तीनों से ही मैं सर्वाधिक क्यों प्रभावित हुआ, इसका कारण शायद दर्शन के अध्ययन से और विश्लेषणात्मक, तर्कयुक्त, बुद्धिग्राह्य, वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक समीक्षा-पद्धति से मेरे मन में जो प्रेम है, वही मुख्य हो। परन्तु अन्य समीक्षकों के प्रति किंचित् भी अविनय न प्रदर्शित करते हुए मैं कहना चाहता हूँ कि हिन्दी की आलोचना-धारा को इन तीन विद्वानों ने अपने अकथनीय परिश्रम और मौलिक संशोधन से सच्ची गति दी है। सच्चा आलोचक न निरा व्याख्याकार या संकलक है और न निरा भावुक मताग्रही प्रचारक। वह इन दोनों से ऊपर उठकर मर्मज्ञ, रसज्ञ, भावक है। वह स्रष्टा का सह-प्रवासी है।

इस दृष्टि से स्वर्गीय डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के पं० रामचन्द्र शुक्ल और श्यामसुन्दरदास पर निबन्ध बहुत पठनीय हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विषय में बड़थ्वालजी ने आरम्भ में निबंधकार, कोशकार, साहित्य के इतिहासकार शुक्ल के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए आलोचक शुक्लजी पर लिखा है :—

"हिन्दी में नवीन आलोचना का सूत्रपात तो एक प्रकार से शुक्ल जी

ने ही किया है। आलोचना के क्षेत्र में निर्णय दे देने भर की प्रवृत्ति को उन्होंने उतना प्रश्रय नहीं दिया; उन्होंने प्रधानता दी आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को। जिन परिस्थितियों में कवि या लेखक का उदय हुआ, उसके मस्तिष्क का निर्माण हुआ, उसकी प्रवृत्तियों को रूपाकार मिला, पृष्ठभूमि के रूप में उनका वर्णन करके उन्होंने रचना के अंतरतम में प्रवेश किया और उसकी बहुविध विशेषताएँ दिखलाईं। इस प्रकार उन्होंने काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में वह परिस्थिति उपस्थित की जिससे पाठक अपने आपको उस स्थिति में अनुभव करे जिस स्थिति में अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। यह समानुभूति शुक्लजी की विशेषता है, जिसने उनकी तीव्र अंतर्दृष्टि को वस्तुतः तथ्य-निरूपण में समर्थ बनाया।

"हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई। प्रखरता ने उसमें समानुभूति को थोड़ी देर के लिए एक ओर ढकेल दिया था, परन्तु बहुत समय तक यह बात न रही और आधुनिक काव्य के सम्बन्ध में भी वह समानुभूति उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास के नवीन संस्करण में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित दिखाई दे रही है।"

आगे चलकर इसी निबन्ध में शुक्लजी के कवि-रूप पर विचार करके बड़थ्वाल जी ने लिखा—"पर शुक्लजी साहित्य के समर्थ विश्लेषक और साहित्य-सिद्धांत के शुष्क विवेचक ही नहीं थे, वे स्वयं भी एक भावुक कवि थे।... स्वयं शुक्लजी का विचार था कि उनका स्वाभाविक क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है। उन्हें बड़ा भावुक हृदय मिला था। रचनात्मक साहित्य को छोड़कर आलोचना और अध्यापन के क्षेत्र में आने में उन्हें बड़ा त्याग करना पड़ा। साहित्य के अपने गहरे ज्ञान को दूसरों तक पहुंचाने के उद्देश्य से उन्होंने स्रष्टा होने के अमिट आनंद का परित्याग कर दिया।...किन्तु इस त्याग से जहाँ हम एक क्षेत्र के दान से वंचित रहे, वहाँ दूसरे क्षेत्र में उसने इस कमी को कहीं अधिक मात्रा में पूरा

कर दिया।....इतना ही नहीं, उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओं को भी केवल आलोचना से ऊपर उठाकर वह रूप दिया है जिससे वे स्वयं रचनात्मक स्थायी साहित्य की कोटि में आ गईं।"

बाबू श्यामसुन्दरदास पर लिखते हुए भी उन्होंने सिलवाँ लेवी के बाबू साहब को लिखे एक पत्र का उल्लेख किया है—"नवम्बर या दिसम्बर १८९७ में जब आपसे मेरी जान पहचान हुई थी उस सुखद समय को मैं कभी नहीं भूलता। उस समय आप नेपाली खपड़े में न रहते थे ? नागरी और रोमन में हम कितनी शीघ्रता से लिख सकते हैं, यह जाँचने के लिए हमारे बीच में प्रतियोगिता भी हुई थी। आपने उतनी ही शीघ्रता से नागरी लिखी, जितनी शीघ्रता से मैंने रोमन।"

पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का जन्म मार्गशीर्ष १७ सं० १९५७ विक्रमी को गढ़वाल के पास पाली ग्राम में हुआ। इनके पिता गौरीदत्त ज्योतिष तथा पुराणों के विद्वान् थे। बचपन से अमरकोश आदि संस्कृत ग्रन्थ पढ़े। बाद में आपकी शिक्षा लखनऊ और काशी में हुई। प्राकृतिक चिकित्सा की ओर वे झुके, क्योंकि आपका स्वास्थ्य बहुत खराब रहने लगा था। 'गढ़वाल नवयुवक सम्मेलन' की भी स्थापना की। तब लिखे अपने लेखों में नाम 'अम्बर' या 'व्योमचन्द्र' देते थे। सं० १९८५ में आपने काशी से एम. ए. किया और सं० १९८६ में एल-एल. बी.। एम. ए. की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में आये और उन्होंने एक विस्तृत निबन्ध 'छायावाद' पर लिखा, जिससे बा० श्यामसुन्दरदास इतने प्रभावित हुए कि काशी विश्वविद्यालय में ही उन्हें शोध कार्य पर नियुक्त किया। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' के भी खोज-विभाग में आप संचालक नियुक्त हुए। सं० १९९० में 'दि निर्गुण स्कूल आव हिन्दी पोइट्री' नाम से प्रबन्ध आपने डी० लिट० उपाधि के लिए दिया और यह उपाधि पाई। साहित्य-सम्मेलन ने सदा की भाँति इस विद्वान् की भी उपेक्षा ही की, यद्यपि तिरुपति (मद्रास) वाले प्राच्य विद्या सम्मेलन के सं० १९९७ के अधिवेशन में इन्हें हिन्दी विभाग के

सभापति का आसन दिया। इस भाषण की चर्चा आगे है। १९९५ से आप काशी छोड़कर लखनऊ चले गये। परन्तु स्वास्थ्य आपका गिरता गया और सं० २००१ में ही आपका निधन हो गया।

उनके प्रकाशित ग्रंथ थोड़े हैं और वे सब उनके मरणोपरान्त हैं। नाथों की सबदियों एवं सन्तों की बानियों के आधार पर लिखे उनके निबन्धों का संग्रह बा० सम्पूर्णानन्द द्वारा सम्पादित होकर 'ज्ञानमंडल' कार्यालय काशी से सं० २००३ में निकला जिसका नाम 'योगप्रवाह' है। उनका ग्रंथ 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' प्रथम बार हिन्दी में अनूदित होकर सं० २००७ में प्रकाशित हुआ। उनका सबसे प्रसिद्ध निबन्ध जो ग्यारह वर्षों के परिश्रम का फल है वह 'सुरति-निरति' केवल ग्यारह पृष्ठ का है। आपके स्फुट निबन्धों का संग्रह 'मकरन्द' डाक्टर भगीरथ मिश्र द्वारा संपादित होकर अवध पब्लिशिंग हाऊस से छप गया है। बस, यही उनका प्रकाशित उपलब्ध साहित्य है। परिमाण में कम परन्तु गुणों में बहुत, ऐसा उनका गवेषणा-साहित्य है।

इन पंक्तियों के लेखक ने पहुत वर्षों पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका में 'निर्गुण काव्यधारा' के बड़थ्वाल जी द्वारा अनूदित कुछ अंश पढ़े थे, मूल अंग्रेज़ी थीसिस भी। परन्तु सर्वाधिक प्रभावित मैं हुआ था शायद सन् १९३७ में, जब 'सरस्वती' में आपका लेख 'गांधी और कबीर' पढ़ा था। बहुत दिनों तक वह मन में अटका रहा था। जब सहसा, शायद १९४६ में, 'मौज' के दीपावली-विशेषांक में मराठी-साहित्य-सम्मेलन के वर्तमान सभापति और प्राचीन काव्य के खोजी श्री० अ० का० प्रियोलकर का लेख 'चक्रधर और गांधी जी' पढ़ा, तब तुलना की इच्छा जागी। चक्रधर मराठी के आदि कवि सम्प्रदाय मानभावों में से एक सन्त थे। अब बड़थ्वाल जी का समूचा साहित्य दुबारा पढ़ गया हूँ और उनकी विलक्षण परिश्रमशीलता और अध्ययनपूर्णता से प्रभावित हूँ। रहस्यवाद के विषय में जिन अंग्रेज़ी अधिकारी विद्वानों के

ग्रंथों का बड़थ्वाल जी ने अपने थीसिस के परिशिष्ट २ में उल्लेख किया है, वह इस विषय में आगे जो भी कार्य करें उनके लिए बहुत ही उपादेय सूची है। मैं इनमें से प्रायः बहुत से ग्रंथ तेरह वर्ष पूर्व, जब मैं दर्शन का विद्यार्थी था, पढ़ चुका हूँ और उसके बाद इन विषयों पर लिखने वालों के कार्य का अनुशीलन करता आ रहा हूँ। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के 'कबीर' और 'नाथ-सम्प्रदाय' तथा डा० रांगेय राघव के 'गोरखनाथ' पर प्रबन्ध को छोड़ बड़थ्वाल जी के स्तर का कार्य हिन्दी में बहुत कम हुआ है। वैसे रहस्यवाद के नाम पर छोटे-मोटे ग्रंथ तो बहुत निकल चुके हैं। हिन्दीतर भाषाओं में क्षितिमोहन सेन के 'दादू', डा० कोलते के 'महानुभावांचे तत्वज्ञान', उमाशंकर जोशी के 'आंखें' और डा० मोहनसिंह के 'नामदेव' के अलावा बहुत कम ग्रन्थ इस कोटि के मिलेंगे। हाल में मराठी में न० र० फाटक ने एकनाथ और ज्ञानेश्वर पर सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। दर्शनाचार्य रा० द० रानडे ने कर्नाटक के मर्मी कवियों पर मार्मिक व्याख्यान दिये हैं।

डाक्टर बड़थ्वाल की विवेचन-पद्धति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मूलग्राही है। 'हिन्दी काव्य में निर्गुण धारा' का एक अंश उदाहरणार्थ लीजिये। पृष्ठ १४५ पर वे लिखते हैं—"इस प्रकार निर्गुण सन्त-सम्प्रदाय में तीन प्रकार का दार्शनिक मत दिखाई देता है जिन्हें मैंने वेदांत की शब्दावली का व्यवहार कर अद्वैत, भेदाभेद और विशिष्टाद्वैत के नाम से पुकारा है।...अद्वैती लोग जो जीवात्मा और परमात्मा में पूर्णाद्वैत भाव मानते हैं, वे इन सब बातों को केवल व्यावहारिक रूप में सत्य मानते हैं, परमार्थतः नहीं, किन्तु विशिष्टाद्वैतियों और भेदाभेदियों के अनुसार ये वस्तुतः सत्य हैं। इन दोनों मतों वाले मानते हैं कि परमात्मा का अंश-स्वरूप होने के कारण आत्मा भी एक प्रकार से परमात्मा ही है। भेदाभेदियों के अनुसार तो यह अंश अन्त में अपनी भेदसत्ता को अभेदरूप से परमात्मा में लय कर देता है; किन्तु विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार पूर्ण और अंश में यह भेद शाश्वत है।...सृष्टि-सम्बन्धी इन

में, २२ मार्च १६४० को तिरुपति में हुए अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या-सम्मेलन के हिन्दी विभाग के अध्यक्षीय-पद से उनके दिये भाषण के कुछ अंश उद्धृत करना उत्तम होगा। उस समय हिन्दी के अभाव के नाते उनकी वतलाई हुई बातें आज भी सवा सोलह आने सही हैं। बल्कि हिन्दी के राष्ट्र-भाषा हो जाने से, उस पर बढ़े हुए नये उत्तरदायित्व को ध्यान में लेते हुए, यह सब खोज-कार्य और भी संगठित तथा संश्लिष्ट रूप से आगे बढ़ाने की आवश्यकता है। डाक्टर बड़थ्वाल ने तब कहा था—

"आजकल तो हम हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के सम्बन्ध में केवल ज़ुबानी जमा-खर्च कर रहे हैं। किन्तु प्राचीन काल में वह सचमुच किसी सीमा तक अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय की भाषा होगई थी। श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन[1] के अनुसार, पूर्व मुगलों के शासन-काल तक 'हिन्दी पहले ही समस्त भारत की सामान्य भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) हो चली थी।' के० एम्० झावेरी[2] के शब्दों में मध्ययुगीन गुजरात में हिन्दी 'सु-संस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी।' उन दिनों वहाँ के कवियों में हिन्दी में कविता लिखने की प्रथा सी चल पड़ी थी। यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दी के कवि परमानंद ने भी, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से गुजराती में उत्तम श्रेणी के साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया, अपना साहित्यिक जीवन हिन्दी-पद्य-रचना से ही आरम्भ किया था और अपने पुत्र वल्लभ को भी गुजराती में लिखते समय हिन्दी की आत्मा का अनुगमन करने का आदेश दिया था।[3] महाराष्ट्र में चक्रधर

---

१. सेन—हिस्टरी आव् दि बेंगाली लैंग्वेज एंड लिटरेचर, पृ० ६००।

२. के० एम्० झावेरी—माइल स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० ६६।

३. के० एम्० झावेरी—माइलस्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० १२५।

(जिनका आविर्भाव काल १३वीं शती बतलाया जाता है), ज्ञानदेव और नामदेव, जो १४वीं शती में हुए थे, तथा इनके बाद एकनाथ और तुकाराम सरीखे ऊँची पहुंच के सन्त अपने उपास्य देव के प्रति अपने हृदय के सच्चे भावों को यदा-कदा हिन्दी में भी व्यक्त करना उचित समझते थे।[1] १६३७ में विद्यमान बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तक ने संगीत पर अपनी 'नव-रस' नामक रचना हिन्दी में लिखी। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली कुतुबशाह (राज्यकाल १५१६ ई०–१५५० ई०) ने, जो दक्कनी हिन्दुस्तानी का प्रथम कवि माना जाता है, अपनी कुछ कविताओं में हिन्दी के शुद्ध रूप की रक्षा की है। किन्तु ब्रजबुली, जो श्रीयुत दिनेशचन्द्र सेन के मत में 'बँगला का पूर्ण हिन्दी रूप' है और जिसमें अनेक कवियों ने बहुत सुन्दर, सरस पद-रचना की है, हिन्दी की आत्मा का सर्वोत्तम अभिनन्दन है। इस मिश्री तुल्य मिश्रित भाषा में लिखी हुई कवि गोविन्ददास की कविताएँ किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती हैं।

किन्तु यदि हिन्दी का स्वयं अपना उन्नत साहित्य न होता और उसके पास महत्त्वपूर्ण संदेश देने को न होता तो अहिन्दी प्रदेशों में उसके प्रति इतना अनुराग न होता। हिन्दी के प्राचीन साहित्य का महत्त्व प्रायः सब स्वीकार करते हैं। सूर और तुलसी पर केवल हिन्दी को ही नहीं सारे भारत को गर्व है। किन्तु खेद है कि हमारा प्राचीन साहित्य अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आया नहीं है। हम वर्तमान में इतने व्यस्त रहते हैं कि अतीत के साथ केवल मौखिक सहानुभूति दिखा कर ही रह जाते हैं। अवश्य ही नए उठते हुए साहित्य को प्रोत्साहन देने की बड़ी आवश्यकता है। किन्तु इस बात की ओर हमारा बहुत कम ध्यान जाता है कि हिन्दी के प्राचीन साहित्यकारों को, जिन्होंने बहुमूल्य निज-स्व का

---

१. भालेराव—कोशोत्सव स्मारक संग्रह, ना० प्र० सभा, पृ० ६२–६८।

दान कर अतीत में वर्तमान की गहरी नींव डाली, जगत् के सम्मुख ला रखना भी उतना ही आवश्यक है। इसके बिना हिन्दी के प्राचीन गौरव की तथ्यानुगत अनुभूति हो नहीं सकती। नागरीप्रचारिणी सभा की खोजों से स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है। हमारे साहित्य का अभी बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आ पाया है, अधिकांश अभी तक हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में ही पड़ा हुआ है, और यदि उसकी रक्षा शीघ्र न की गई तो बहुत सी अमूल्य सामग्री नष्ट हो जायगी। कुछ तो नष्ट हो भी चुकी है । उदाहरणस्वरूप यहाँ मैं केवल ऐसे दो ग्रंथों का उल्लेख करूँगा—एक तो कालिदास त्रिवेदी का 'हजारा' नामक हिन्दी कवियों की कृतियों का संग्रह, और दूसरा बेनीमाधवदास का 'गुसाईं चरित' नामक तुलसीदास जी का जीवनचरित। स्वयं शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से पता चलता है कि उक्त दोनों ग्रंथ उनके समय में विद्यमान थे। पर अब वे हमारे लिये 'सरोज' में लिखे नाम भर रह गये हैं। स्वयं 'सरोज' इस बात का साक्षी है कि शिवसिंह सेंगर का पुस्तकालय बहुत बड़ा रहा होगा। यह पुस्तकालय काँथा, जिला उन्नाव, संयुक्त प्रांत में है। आज उसकी बुरी दशा सुनने में आती है। वह नष्ट होता जा रहा है। और डर है कि यही दशा एक दिन असंगठित संस्थाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के पास पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की भी हो जायगी।

इस समय की दुहरी आवश्यकता है। एक तो हस्तलिखित पुस्तकों का ऐसे केन्द्रों में संग्रह करना जहाँ नाश के दूतों से उनकी रक्षा हो सके और खोजियों को वे आसानी से सुलभ हो जायँ, और दूसरे इस प्रकार प्राप्त सम्पूर्ण सामग्री का यथाशीघ्र प्रकाशन।

कुछ पुस्तकालय विद्यमान हैं जिनमें हिन्दी की हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है। इन संस्थाओं के संग्रहालय भविष्य के बड़े-बड़े पुस्तकालयों के लिये आधार बनाए जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ

पुस्तकालयों का उल्लेख किया जा सकता है; जैसे रायल एशियाटिक सोसायटी का पुस्तकालय, नागरीप्रचारिणी सभा का आर्य-भाषा-पुस्तकालय और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का संग्रहालय।

राजस्थान, मध्य भारत तथा अन्य प्रदेशों के अधिकांश रजवाड़ों तथा जैन उपाश्रयों और भंडारों के पास अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह हैं। ऐसे सब पुस्तकालयों के अधिष्ठाता यदि अपने-अपने पुस्तकालयों की सूची प्रकाशित करें तथा आधुनिक ढंग से अपने पुस्तकालयों का संचालन करें तो खोज के काम में बड़ी सहायता हो।

दूसरा इससे कम नहीं, शायद इससे अधिक महत्त्वपूर्ण काम है—जैसे-जैसे पुरातन ग्रंथ मिलते जायँ, वैसे-वैसे उनको छपवाना। इस दिशा में पूरी शक्ति लगा कर काम करने की आवश्यकता है। अन्य साधनों के साथ-साथ इसके लिये एक बहुत उत्तम साधन होगा 'बिब्लियोथिका इंडिका' के ढंग पर एक स्थूलकाय, सुसंपादित पत्रिका को नियमित रूप से चलाना, जिसके द्वारा केवल प्राचीन हिन्दी साहित्य का प्रकाशन हो। नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला कुछ दिनों इसी ढंग पर चली।

ये कार्य बहुत बड़े हैं। इनके लिये विविध साधन-सम्पन्नता की आवश्यकता है। किन्तु जहाँ चाह होती है वहाँ राह भी निकल ही आती है। इसलिये यदि हिन्दी की सार्वजनिक संस्थाएँ पूर्ण मनोयोग से इन कामों को हाथ में ले लें, तो उन्हें पता चलेगा कि मानव-हृदय सदैव उत्साह से सत्प्रयत्नों का साथ देता है, और सदुद्देश्य की सफलता के लिये पूरी सहायता देने में कभी पिछड़ता नहीं।

भाषा तथा साहित्य दोनों के अध्ययन को अग्रगति देने के लिये ये कार्य आवश्यक हैं।"

अन्त में, डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल की महान् आलोचक आत्मा को श्रद्धांजलि अर्पित करते समय मुझे फ्रांस के आलोचना-साहित्य के सम्बन्ध में एक प्रसिद्ध फ्रांसीसी उपन्यासकार अनातोल फ्रांस की एक

बात याद आ गई, वह देना चाहता हूँ। इससे हिन्दी के आजकल के रीडरबाज़ आलोचक और बिना मेहनत किये हुए 'हर्रा लगे न फटकरी, रंग आए चोखा' वाले (या हमारी भाषा में कहावत है, डेढ़ हल्दी में पीले होने वाले) समीक्षकों के लिए सीख लेने की बहुत-सी सामग्री प्राप्त होगी। १६ अप्रैल १९४४ को अनातोल फ्रांस का शतसांवत्सरिक जन्मोत्सव मनाया गया। फ्रांस उपन्यासकार के साथ-साथ आलोचक के नाते भी बड़े प्रसिद्ध थे। 'आन लाइफ़ एंड लेटर्स' नामक उनके निबन्धों का अंग्रेज़ी अनुवाद मस्यू आद्रियाँ हेब्रार, सेनाटार, संपादक 'Temps' को अर्पित करते हुए भूमिका के रूप में आलोचनात्मक साहित्य के बारे में फ्रांस ने लिखा है—

"दर्शन और इतिहास की भाँति आलोचना भी एक अद्भुत साहित्य-प्रकार (रोमान्स) है। और वह समझदार जिज्ञासु पाठकों के लिए ही लिखी जाती है। अद्भुत वाङ्मय वस्तुतः आत्मचरित्र जैसा होता है। सर्वोत्कृष्ट साहित्यकृतियों के प्रदेश में जो अपना साहसी प्रवास वर्णित करता है, वही उत्तम आलोचक है।······

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी नामक सुविख्यात, परिपक्व विचारों के आलोचक से भेंट होने का मौका मुझे मिला। जब मैं उन्हें आवन्यू राफ़ाएल नाम के उनके बंगले में मिलने गया तब बड़े अभिमानपूर्वक उन्होंने अपना छोटा पुस्तकसंग्रह दिखाया, और कहा—'यह देखो, वक्तृत्व, साहित्य, दर्शन, इतिहास—और इन सबको समाविष्ट कर लेने वाला आलोचना-साहित्य—सब यहाँ है।' सचमुच, आलोचक पारी-पारी से वक्ता, दार्शनिक, इतिहासकार के रूप ग्रहण करता है।

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी का कहना सच था। यह सब मिल कर आलोचक बनता है—कम से कम होना चाहिए। अत्यन्त दुर्मिल, अत्यन्त विविध स्वरूप की और अत्यन्त सर्वंकष बुद्धि की देन की खोज करने का अवसर उसे मिलता है। और अगर वह कहीं कोई सांत-बव,

तेन, जे० जे० वाइस्, ज्यूल लमैत्र, फरदीनाँ ब्यूनितिएर हो तो इस सन्धि का पूरा उपयोग किये बिना वह नहीं रहता। स्वतः के व्यक्तित्व के पार न जाकर भी वह मनुष्य-प्राणियों का बौद्धिक इतिहास गढ़ता है। सारे साहित्य-प्रकारों में आलोचना सबसे अन्तिम साहित्य-प्रकार है। सम्भव है, आगे चल कर वह साहित्य के सभी प्रकारों को अपने-आप में समा ले।......

"आजकल आलोचना ने धर्मशास्त्र का स्थान ग्रहण कर लिया है। और उन्नीसवीं सदी का महापंडित संत टामस ॲक्किनस देखना हो तो हमारे सांत-बव की ओर ही उँगली उठानी होगी। सांत-बव आलोचना-क्षेत्र की महान् विभूति होगई; उसकी स्मृति को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ। परन्तु सच कहूँ मित्र, कितावें लिखने से मुझे ज्यादह अच्छा गोभी के खेत लगाना जान पड़ता है।"

अनातोल की यह विरक्ति नई नहीं है। वोल्तेयर के कांजीद के अन्त में भी यही होता है—'चलो हम अपनी आलू की खेती करें!' और कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी-साहित्य में भी कृष्णानन्द गुप्त तथा बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'आलू के पेड़' (?) उगाने का नारा लगाया था। पर आलोचना जब साहित्य में वंध्या हो, वह सृष्टि के प्रति अन्ध हो, वह अच्छे और बुरे के बीच मूल्य निर्धारण न कर सके, तभी यह अगतिकत्व ठीक है। परन्तु पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे आलोचक जिस भाषा में हो जाते हैं उसकी परम्परा का दाम इतना हेय नहीं होता। वहाँ विद्वत्ता और रसिकता के बीच में पार्थक्य नहीं होता, वहाँ साहित्य के सस्ते जल्दी-जल्दी डाक्टर उपाधि प्राप्त करने वाले नौसिखुए पाठ्य-पुस्तकों के व्यवसाय में अपनी टुटपूँजी बुद्धि को नहीं लगाते फिरते, वहाँ के अध्यापक अर्थकरी विद्या के लिए साहित्य के नाम पर संकीर्णता नहीं पढ़ाते। ऐसी सत्समालोचना के विकास के लिए हमें बड़थ्वाल जी जैसे सुधी, गंभीर, अध्ययनशील विद्वानों के पद-चिन्हों का अनुसरण करना चाहिये।

बात याद आ गई, वह देना चाहता हूँ। इससे हिन्दी के आजकल के रीडरबाज़ आलोचक और बिना मेहनत किये हुए 'हर्रा लगे न फटकरी, रंग आए चोखा' वाले (या हमारी भाषा में कहावत है, डेढ़ हल्दी में पीले होने वाले) समीक्षकों के लिए सीख लेने की बहुत-सी सामग्री प्राप्त होगी। १६ अप्रैल १९४४ को अनातोल फ्रांस का शतसांवत्सरिक जन्मोत्सव मनाया गया। फ्रांस उपन्यासकार के साथ-साथ आलोचक के नाते भी बड़े प्रसिद्ध थे। 'आन लाइफ़ एंड लेटर्स' नामक उनके निबन्धों का अंग्रेज़ी अनुवाद मस्यू आद्रियाँ हेब्रार, सेनाटार, संपादक 'Temps' को अर्पित करते हुए भूमिका के रूप में आलोचनात्मक साहित्य के बारे में फ्रांस ने लिखा है—

"दर्शन और इतिहास की भाँति आलोचना भी एक अद्भुत साहित्य-प्रकार (रोमान्स) है। और वह समझदार जिज्ञासु पाठकों के लिए ही लिखी जाती है। अद्भुत वाङ्मय वस्तुतः आत्मचरित्र जैसा होता है। सर्वोत्कृष्ट साहित्यकृतियों के प्रदेश में जो अपना साहसी प्रवास वर्णित करता है, वही उत्तम आलोचक है।......

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी नामक सुविख्यात, परिपक्व विचारों के आलोचक से भेंट होने का मौका मुझे मिला। जब मैं उन्हें आवन्यू राफ़ाएल नाम के उनके बंगले में मिलने गया तब बड़े अभिमानपूर्वक उन्होंने अपना छोटा पुस्तकसंग्रह दिखाया, और कहा—'यह देखो, वक्तृत्व, साहित्य, दर्शन, इतिहास—और इन सबको समाविष्ट कर लेने वाला आलोचना-साहित्य—सब यहाँ है।' सचमुच, आलोचक पारी-पारी से वक्ता, दार्शनिक, इतिहासकार के रूप ग्रहण करता है।

"मस्यू क्यूविलिए-फ्लरी का कहना सच था। यह सब मिल कर आलोचक बनता है—कम से कम होना चाहिए। अत्यन्त दुर्मिल, अत्यन्त विविध स्वरूप की और अत्यन्त सर्वंकष बुद्धि की देन की खोज करने का अवसर उसे मिलता है। और अगर वह कहीं कोई सांत-बव,

तेन, जे० जे० वाइस्, ज्यूल लमैत्र, फरदीनाँ ब्यूनितिपर हो तो इस सन्धि का पूरा उपयोग किये बिना वह नहीं रहता। स्वतः के व्यक्तित्व के पार न जाकर भी वह मनुष्य-प्राणियों का बौद्धिक इतिहास गढ़ता है। सारे साहित्य-प्रकारों में आलोचना सबसे अन्तिम साहित्य-प्रकार है। सम्भव है, आगे चल कर वह साहित्य के सभी प्रकारों को अपने-आप में समा ले।......

"आजकल आलोचना ने धर्मशास्त्र का स्थान ग्रहण कर लिया है। और उन्नीसवीं सदी का महापंडित संत टामस ॲक्विनस देखना हो तो हमारे सांत-बव की ओर ही उँगली उठानी होगी। सांत-बव आलोचना-क्षेत्र की महान् विभूति होगई; उसकी स्मृति को मैं नम्रतापूर्वक प्रणाम करता हूँ। परन्तु सच कहूँ मित्र, किताबें लिखने से मुझे ज्यादह अच्छा गोभी के खेत लगाना जान पड़ता है।"

अनातोल की यह विरक्ति नई नहीं है। वोल्तेयर के कांजीद के अन्त में भी यही होता है—'चलो हम अपनी आलू की खेती करें!' और कुछ वर्षों पूर्व हिन्दी-साहित्य में भी कृष्णानन्द गुप्त तथा बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'आलू के पेड़' (?) उगाने का नारा लगाया था। पर आलोचना जब साहित्य में वंध्या हो, वह सृष्टि के प्रति अन्ध हो, वह अच्छे और बुरे के बीच मूल्य निर्धारण न कर सके, तभी यह अगतिकत्व ठीक है। परन्तु पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे आलोचक जिस भाषा में हो जाते हैं उसकी परम्परा का दाम इतना हेय नहीं होता। वहाँ विद्वत्ता और रसिकता के बीच में पार्थक्य नहीं होता, वहाँ साहित्य के सस्ते जल्दी-जल्दी डाक्टर उपाधि प्राप्त करने वाले नौसिखुए पाठ्य-पुस्तकों के व्यवसाय में अपनी टुटपूँजी बुद्धि को नहीं लगाते फिरते, वहाँ के अध्यापक अर्थंकरी विद्या के लिए साहित्य के नाम पर संकीर्णता नहीं पढ़ाते। ऐसी सत्समालोचना के विकास के लिए हमें बड़थ्वाल जी जैसे सुधी, गंभीर, अध्ययनशील विद्वानों के पद-चिन्हों का अनुसरण करना चाहिये।

अन्त में, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जी के २७ सितम्बर १९३८ को लखनऊ-रेडियो से दिये गये एक भाषण के अन्तिम दो परिच्छेदों को दुहराता हूँ, ताकि हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में उनकी शुभ-कामना सार्थक हो।—

"खड़ी बोली में बड़ी तेजी से साहित्य बना। अवधी और व्रज दोनों ने उसकी अंग-पुष्टि की, क्योंकि थोड़े से रूपभेद से तीनों की शब्द-सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसे दाय में बहुत कुछ मिला जो स्वाभाविक भी था। अरबी-फ़ारसी से भी उसने परहेज़ नहीं किया। आज हिन्दी प्रत्येक भाषा से शब्द लेने के लिए तैयार है, परन्तु उन्हें अपने व्याकरण और उच्चारण के ढंग पर ढाल कर।

"आज हिन्दी का साहित्य बहुत कुछ उन्नत हो चला है। उसमें एक से एक रत्न भरे हैं। इसके कई अंग भर आये हैं। साहित्य की कोई बारीकियाँ ऐसी नहीं जिन्हें हिन्दी अपने ढंग से व्यक्त न कर सके। फिर भी वह अपनी कमियों को जानती है। प्रगतिशील असन्तोष उसे कर्मण्य बनाये हुए है। उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है। उसमें वह जीवनशक्ति है जिससे आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ढलती-विकसती वह अपने आदर्श लक्ष्य की ओर बिना रुकावट चली जा रही है।"

३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्री दुर्गाचरण मिश्र के एक लेख में यह विवेचन है—"आचार्य हजारीप्रसाद जी हिन्दी के उन इने-गिने चिन्तकों में से एक हैं जिनकी मूल निष्ठा प्राचीन भारतीय संस्कृति में है। लेकिन साथ-ही-साथ आप में नवीनता का एक अद्भुत एवं अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है। आपने जीवन के प्रारम्भिक काल में 'गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी' में संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की और साथ-ही-साथ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के साहचर्य्य से साहित्यिक प्रेरणा भी प्राप्त करते रहे। इस तरह एक प्रकार से आचार्य शुक्ल जी आचार्य हजारीप्रसाद जी के साहित्यिक

गुरु हैं। काशी के अतिरिक्त हजारीप्रसाद जी शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन के अध्यक्ष भी रहे। शान्तिनिकेतन के रमणीय, सहज, आत्मीय एवं साहित्यिक वातावरण में रहकर आचार्य हजारीप्रसाद जी को अपने पाण्डित्य का संस्कार करने का स्वर्ण अवसर मिला। वहाँ पर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन के सरल साहचर्य्य में आपने बँगला साहित्य का गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन किया। साथ-ही-साथ इन महानुभावों के सरल एवं आत्मीय स्वभाव ने हजारीप्रसाद जी को भी प्रकृति, पशु, पक्षियों, पौधों आदि से आत्मीयता स्थापित करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार आचार्य हजारीप्रसाद जी के साहित्यिक व्यक्तित्व निर्माण में एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का हाथ है तो दूसरी ओर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर और आचार्य क्षितिमोहन सेन का। इसी प्रकार अध्ययन में एक ओर संस्कृत के विशाल साहित्य-भण्डार का ज्ञान है जिसके अन्तर्गत भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य और विभिन्न धर्मों तथा सम्प्रदायों का गहन अध्ययन, उदाहरणार्थ जैन-धर्म, बौद्ध धर्म, नाथ-सम्प्रदाय एवं सिद्ध-सम्प्रदाय आदि और दूसरी ओर बँगला साहित्य का विस्तृत ज्ञान। इसके अतिरिक्त, आपका अपभ्रंश-साहित्य का भी विशेष अध्ययन उल्लेखनीय है। आचार्य हजारीप्रसाद जी हिन्दी साहित्य में निबन्धकार एवं आलोचक के रूप में विशेष विख्यात हैं।

निबन्धकार:—निबन्धकारों में यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य शुक्ल जी के पश्चात् हजारीप्रसाद जी का ही प्रमुख स्थान है। हम यह पहले कह आये हैं कि आचार्य शुक्ल जी आचार्य हजारीप्रसाद जी के साहित्यिक गुरु हैं। अतः शुक्ल जी की निबन्ध-शैली का हजारीप्रसाद जी की शैली पर स्पष्ट प्रभाव है। हजारीप्रसाद जी के हमें चार प्रकार के निबन्ध प्राप्त होते हैं—

१—शुद्ध साहित्यिक निबन्ध।

२—सांस्कृतिक निबन्ध।

३—खोज सम्बन्धी निबन्ध ।

४—शिक्षा विषयक निबन्ध ।

शुद्ध साहित्यिक निबन्धों में 'वसन्त आ गया', 'एक तोता और एक मैना', 'क्या आपने मेरी रचना पढ़ी है' आदि हैं, जिनमें आपकी विद्वत्ता एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का परिचय मिलता है । वसन्त आता है। हमारे आसपास का वातावरण, वनस्थली अनेक प्रकार के रङ्ग-बिरंगे पुष्पों से आच्छादित हो जाती है, लेकिन हममें से बहुत कम लोग ऐसे हैं जो उसे देखकर कुछ सोचते हैं । हजारीप्रसाद जी उसे देखते हैं । उस पर विचार करते हैं और कहने के लिए बाध्य हो उठते हैं—"पढ़ा है, हिन्दुस्तान के जवानों में कोई उमङ्ग नहीं इत्यादि-इत्यादि । इधर देखता हूँ, पेड़-पौधे और भी बुरे हैं ।......वसन्त आता नहीं, ले आया जाता है ।" (अशोक के फूल, पृष्ठ सं० १२)। इन निबन्धों को पढ़कर पाठक कुछ सोचने के लिये बाध्य होता है ।

सांस्कृतिक निबन्धों में 'भारतवर्ष की सांस्कृतिक समस्या', 'भारतीय संस्कृति की देन' आदि प्रमुख हैं, जिनमें हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की व्यापकता की एक झाँकी मिलती है, साथ-ही-साथ उसका संसार की अन्य प्राचीन संस्कृतियों से एक तुलनात्मक अध्ययन भी प्राप्त होता है जो हमें हमारी संस्कृति की विशेषता और उसके व्यापक प्रसार का ज्ञान कराता है । संस्कृति के बारे में इनका अपना जो मत है वह यह है—"मैं संस्कृति को किसी देश या जाति-विशेष की अपनी मौलिकता नहीं मानता । मेरे विचार से सारे संसार के मनुष्यों की एक सामान्य मानव-संस्कृति हो सकती है । यह दूसरी बात है कि वह व्यापक संस्कृति अब तक सारे संसार में अनुभूत और अंगीकृत नहीं हो सकी ।" (अशोक के फूल, पृष्ठ सं० ७३, भारतीय संस्कृति की देन) । इस प्रकार ये सारे संसार की जातियों में सांस्कृतिक दृष्टि से एकता लाने का प्रयास करते हैं ।

खोज सम्बन्धी निबन्धों के लिए तो हजारीप्रसाद जी हिन्दी में ए

हैं। इनसे पहले इस प्रकार के निबन्धों का एक प्रकार से हिन्दी में बिल्कुल अभाव ही था। सिद्ध-साहित्य, नाथ-साहित्य, जैन-साहित्य, अपभ्रंश-साहित्य आदि के व्यापक अध्ययन के बाद आपने इन सम्प्रदायों पर तथा उनके साहित्य पर जो निबन्ध लिखे वे हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के अन्तर्गत आपके इसी प्रकार के निबन्धों का संकलन है। इन निबन्धों से हिन्दी-साहित्य के वास्तविक इतिहास को समझने और लिखने में विशेष सहायता मिली है। कबीर के ऊपर आपकी पुस्तक 'कबीर' हिन्दी-साहित्य को अनुपम और नवीन देन है।

शिक्षा-विषयक आपके बहुत कम निबन्ध हैं। लेकिन शिक्षा के बारे में आपका एक स्वस्थ दृष्टिकोण होने के कारण तद्विषयक निबन्धों में भी आपने शिक्षा को जन-हित की दृष्टि से ढालने की एक नवीन दिशा सुझाई है, जिसका अनुसरण किया जाय तो राष्ट्र के उत्थान के एक आवश्यक अंग की पूर्ति हो सकती है।

निबन्धों की भाषा और शैली में भी हजारीप्रसाद जी अपनी विशेषता रखते हैं। भाषा सरल एवं चुस्त है। शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास कितना सुन्दर है, इसका परिचय आपको केवल एक उदाहरण से मिल सकता है। जैसे, "नीम है, जवान है। मसें भीगी हैं और आशा तो है ही।" "मल्लिका बुरी तरह चुप है" (अशोक के फूल, पृष्ठ सं० ११-वसन्त आ गया)। गम्भीर भावों के लिए भी आपने अपनी एक ही प्रकार की सरल भाषा का प्रयोग इस विद्वत्ता के साथ किया है कि न भाषा में रूक्षता ही आने पाई है और न भावों के व्यक्त होने में ओछापन ही आने पाया है। उर्दू एवं अंग्रेज़ी शब्दों के प्रयोग का एक प्रकार से बहिष्कार ही है। संस्कृत के उद्धरण अवश्य बीच-बीच में मिलते हैं। शैली प्रवाहयुक्त है। बंगला-साहित्य और विशेषकर गुरुदेव के प्रभाव के कारण आपकी वर्णन-शैली में जो आत्मीयता, बोधगम्यता एवं सरलता

है वह हिन्दी के किसी भी निबन्धकार में नहीं पाई जाती । शुक्ल जी की भांति अपने मत को किसी के ऊपर बलपूर्वक लादने की इन्होंने कहीं भी कोशिश नहीं की है । कहीं व्यङ्ग भी किया है तो बड़े आत्मीय ढङ्ग से । उदाहरण के लिए, 'एक तोता और एक मैना' नामक निबन्ध में मैना के ऊपर यह व्यङ्ग देखिये—"भलेमानस गोबर के टुकड़े तक ले आना नहीं भूलते ।" यही कारण है कि लेखक की आत्मीयता पाठक के साथ बराबर बनी रहती है । पाठकों को इनके आचार्यत्व का मान किसी प्रकार खटकता नहीं । लेखक के भावों का पाठक के भावों के साथ तादात्म्य होता चलता है । उसे निबन्ध में एक अपनापन-सा अनुभव होता है । हाँ, इनके निबन्धों में शुक्ल जी की भाँति तारतम्य आद्योपान्त एक ही नहीं रहता । इसका कारण यह है कि ये विषय से हटकर बहुत दूर चले जाते हैं, और फिर घूम-फिर कर उस पर आते हैं । उदाहरण के लिए 'अशोक के फूल' नामक निबन्ध को ही लीजिये । उसमें द्विवेदी जी अशोक के फूल के बारे में सोचते-सोचते भारतीय संस्कृति और मानव-प्रवृत्ति तक चक्कर काट आते हैं और फिर अन्त में विषय पर आते हैं । इसलिए इनके अनेक निबन्ध निबन्ध न रहकर 'लेख' की श्रेणी में आ जाते हैं । समझाने का ढङ्ग भी हजारीप्रसाद जी का अपना है । विषय को समझाने के बाद पाठक को आप एक नाटकीय चरमसीमा पर लाकर छोड़ देते हैं कि वह कुछ सोचे । निबन्ध में आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप विषय के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालते चलते हैं, जिसके लिए आपको अनेक ऐसी बातें कहनी पड़ती हैं जो विषय के बाहर की होती हैं । इससे पाठक का एक विषय के साथ-साथ अन्य अनेक विषयों का ज्ञान-भण्डार भी बढ़ता रहता है । पाठक की उत्सुकता बनी रहती है । वह एक के बाद दूसरे निबन्ध को पढ़ने की इच्छा करता है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हजारी-प्रसाद जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं ।

आलोचक :—'वाद' से तटस्थ रहकर साहित्य की सच्ची परख

करने वालों में आचार्य हजारीप्रसाद जी का नाम अग्रगण्य है। द्विवेदी जी में आलोच्य कृति की आत्मा को मापने की अद्भुत क्षमता है। एक ओर संस्कृत काव्य-शास्त्रों का गहन अध्ययन और दूसरी ओर रवीन्द्रनाथ की आलोचना-शैली के प्रभाव से आपकी आलोचना की आधार-भूमि अत्यन्त ही दृढ़ है। उसमें न शुक्ल जी की भाँति शास्त्र की रूक्षता है, और न शान्तिप्रिय द्विवेदी की भाँति कवि का बेसंभाल भावातिरेक। प्राचीन और अर्वाचीन साहित्य-सिद्धान्तों का सुन्दर समन्वय आपकी आलोचना में सभी स्थानों में प्रतिबिम्बित होता है। आज से कई वर्ष पूर्व आपकी आलोचनायें 'विशाल-भारत' में छपीं जिनमें आपने छाया-वादी काव्यों का विवेचन करते हुए आधुनिक काव्य का विवेचन किया जो अपर्य्याप्त मात्रा में होते हुए भी अत्यन्त पुष्ट एवं आक्षेपरहित है। साथ-ही-साथ वह शास्त्रीय भी है। परन्तु हजारीप्रसाद जी का ध्यान अब विशेष रूप से आलोचना की ओर न होने के कारण उनका आभार आलोचनात्मक साहित्य पर कम है।

हजारीप्रसाद जी द्विवेदी की आलोचना-पद्धति का उत्तम उदाहरण उनका एक लेख-संग्रह 'हमारी साहित्यिक समस्याएँ' है। उसकी आलो-चना करते हुए मैंने 'वीणा' (सन् १९४४) में लिखा था—

'संस्कृत और हिन्दी', 'कविता का भविष्य', 'हिन्दी की शक्ति' (मुंगेर हिन्दी-परिषद् के सभापति पद से भाषण), 'भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति', 'नया साहित्यिक दृष्टिकोण', 'साहित्य-निर्माण का लक्ष्य', 'हिन्दी प्रचार की समस्या', 'रस क्या है', 'रस का व्यावहारिक अर्थ', 'साहित्य का नया रास्ता', 'रीति-काव्य', 'इतिहास का सत्य' नामक बारह निबन्धों का यह महत्त्वपूर्ण संग्रह न केवल साहित्य के उच्च विद्यार्थियों के लिए अपितु प्रत्येक साहित्य-प्रेमी, साहित्य-रचयिता एवं साहित्य-समीक्षक के लिए उपयोगी है। अब तक 'कबीर' और 'सूर' पर लिखे 'मोनोग्राफों' से तथा 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' जैसे

ऐतिहासिक महत्त्व के ग्रन्थों से हजारीप्रसाद जी एक साहित्य-रसज्ञ इतिहासकार के नाते हिन्दी-संसार के सामने आ चुके हैं । इस ग्रन्थ से उनके आलोचनात्मक व्यक्तित्व की एक झलक पाठकों को मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य, इतिहास, ज्योतिष और बँगला के अध्ययन के साथ-ही-साथ द्विवेदी जी ने रसभींगी काव्य-मर्मज्ञ की दृष्टि पाई है । अतः उनकी आलोचना-शैली आचार्य शुक्ल की भाँति शुष्क पांडित्य से जटिल नहीं, न ही आधुनिकों की भांति केवल पाश्चात्य विचारों की उच्छिष्ट-प्रतिबिंबपूर्ण । उनमें एक सहज संतुलन है । वे अतिवाद को प्रश्रय नहीं देते । अत: नगेन्द्र की भाँति वे साहित्य के प्रगतिशील प्रयोगों के प्रति असहिष्णु नहीं हो उठते । प्राचीन और अर्वाचीन के इस सुखद सम्मिलन में कतिपय स्थलों में वे प्राचीन का विस्तार कुछ अनावश्यक मात्रा में कर जाते हैं । ऐसा प्रतीत होता है मानो वे विषयान्तर कर रहे हों।

अंतिम दो लेख, जो कि संवादपूर्ण हैं, बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। हिन्दी की आलोचनात्मक पुस्तकों में यह प्रथम स्थल है जहाँ वाद-विवाद के रूप में किसी काल-विशेष या साहित्यांग-विशेष की समीक्षा प्रस्तुत की गई है । इस शैली से जहाँ यह लाभ है कि विभिन्न दृष्टिकोण आसानी से प्रतिपादित किये जा सकते हैं, और लेखक को स्वयं निर्णय से बचना पड़ता है, वहाँ 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' का सुन्दर परिपाक यहाँ मिलता है । एक ही दोष—जो कि साधारण वार्तालाप की सहजता सूचित करता है—एक बात में से दूसरी बात, शाखा-प्रशाखाओं की भाँति निकलती चलती है और उसका पल्लवित-पुष्पित होना रोका नहीं जा सकता । अतः आलोचक के लिए जो संक्षेप में बात कहने का कौशल और संयम चाहिये वह कहीं-कहीं छूट-सा जाता है ।

'भारतीय साहित्य की प्राणशक्ति' और 'रस' संबधी दोनों निबंध बहुत ठोस, गवेषणापूर्ण तथा साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए

पारायणार्थं उपादेय हैं । रवीन्द्रनाथ की बँगला कविताओं के तथा महाभारत के बीच-बीच में छितरे हुए उद्धरण सोने में सुगन्ध का कार्य करते हैं।

यहाँ हम हजारीप्रसाद जी की आलोचना-शैली के उदाहरण के तौर पर उनके एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं। लेख का विषय है—'कबीरदास का सन्देश'।

"साधारणतया कबीरदास को तर्कपरायण भक्त माना जाता है । उन्होंने 'पारख' (परीक्षा) या विवेक पर बहुत अधिक ज़ोर दिया है। प्रत्येक वस्तु को ठोंक-पीटकर देख लेने की ओर उनका पक्षपात अत्यधिक है। जो बात धार्मिक विश्वास और परम्परा-समागत रूढ़ियों को आश्रय करके जी रही है उसकी परीक्षा के लिए तो वे और भी अधिक सतर्क दीखते हैं। उनके नाम पर पाये जाने वाले सैकड़ों पदों में यह बात नाना भाव से घुमा-फिराकर कही गयी है। जिस आदमी ने खरे-खोटे का विचार किये बिना ही विश्वास कर लिया वह उस मूर्ख महाजन की भाँति है जो मूल गँवाकर लाभ की आशा करता है—

खरा-खोट जिन नहिं परखाया,
चहत लाभ तिन्ह मूल गँवाया !

इसलिए विवेक और विचार परम आवश्यक है । विचार सत् और असत् के यथार्थ स्वरूप को पहचानने में सहायता करता है और वि[illegible] सत् से असत् को और असत् से सत् को अलग कर देता है । 'प[illegible] के ये ही दो स्तर हैं। कबीरदास ने दोनों को साधना मार्ग का आव[illegible] सहायक माना है। मनुष्य को दुःख-कष्ट इसलिए है कि उसे ज्ञान नहीं है और जो दुःख उसका नहीं है उसे वह 'अपना' मा[illegible] है । विचार से यह दुःखानुभूति दूर हो सकती है, परन्तु [illegible] वास्तविक वस्तु का पाना बाकी रह जाता है । विवेक द[illegible]

वास्तविकता की ओर उन्मुख करता है। वह झूठा के साथ जो संबन्ध है उसे दूर कर देता है। इसीलिए कबीरदास ने कहा है कि

करु विचार जेहि सब दुख जाई,
परिहरि झूठा केर सगाई।

अब, यदि इस बात को अपनी तर्कसंगत सीमा तक घसीटा जाय तो वहाँ जाकर रुकती है जिसे आजकल 'अनुसन्धान' कहा जाता है। अनुसन्धान विश्वास का परिपंथी माना जाता है। अनुसन्धान किसी भी बात को वह जैसी दिख रही है वैसी नहीं मानना चाहता। संसार की वास्तविकता को उसकी गहराई में जाकर खोजने की आवश्यकता है। जो कुछ जैसा दिख रहा है उसका वही स्वरूप नहीं भी हो सकता है। प्रत्येक वस्तु को तर्क की कसौटी पर कसकर देख लेना आवश्यक है। अनुसन्धान की लपेट से न तो धर्म बच सकता है, न आत्मा, न ईश्वर, न योग, न भक्ति। इसी बात को प्राचीन शास्त्रकारों ने इस प्रकार कहा है कि धर्म के वास्तविक रहस्य को वही जानता है जो तर्क से अनुसन्धान करता है—'यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।'

आजतक वास्तविक सत्य को पहचानने के लिए अनेक तर्कपूर्ण प्रयास हुए हैं। यह खेद का ही विषय कहा जाना चाहिए कि इस पद्धति ने मनुष्य को केवल संदेहपरायण बनाया है। तर्कपूर्ण अनुसन्धान से जितने परिणाम निकले हैं वे परस्परविरोधी और अपूर्ण सिद्ध हुए हैं। क्या कबीरदास को इसी श्रेणी का तार्किक माना जा सकता है? क्या उन्होंने जिस 'पारख पद' को इतना बहुमान दिया है वह अन्त तक जिज्ञासु को भटकाने-भरमाने वाला ही होकर रहेगा? कोई नहीं कह सकता कि कबीरदास ने अविश्वासपरायण नास्तिकता का सन्देश दिया है। फिर वह क्या बात है जो कबीरदास को एक ही साथ 'पारख' का पक्षपाती और विश्वासपरायण भक्त दोनों बना देती है? आपात दृष्टि से तर्क और विश्वास में कोई मेल नहीं है, वे परस्परविरोधी बातें हैं।

इस प्रकार विचार करता है जिसमें तर्क विश्वास की सहायता करता है और कभी इस प्रकार कि तर्क सन्देह को उद्रिक्त करता है। कबीर-दास के 'पारख' का रहस्य समझने के लिये हम मनुष्य की समूची अनुसन्धित्सा को पाँच मोटे स्तरों में विभक्त करके देख सकते हैं। ये विचार साधारणतः पाँच बातों को केन्द्र करके चले हैं—(१) भौतिक तत्व, (२) प्राणतत्व, (३) मनस्तत्व, (४) बुद्धितत्व, और (५) अध्यात्मतत्व। पाँचों की दो-दो प्रकार की परिणतियाँ हुई हैं। जिस परिणति ने सन्देह को उद्रिक्त किया है वह 'दार्शनिक मतवाद' का रूप धारण कर गयी है और जिसने विश्वास को पुष्ट किया है वह धर्ममत का आकार धारण कर गयी है। इस प्रकार समस्त मानव-विचार इन दस मोटे विभागों के अन्तर्भुक्त हो जाते हैं।

इन पाँचों को सहज भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है—(१) *विश्व प्रपंच की विधायिका शक्ति बाहर है*; (२) कुछ भीतर हैं, कुछ बाहर है; (३) केवल भीतर है, बाहर जो कुछ है वह भीतर की छाया है; (४) बाहर-भीतर एक ही हैं, और (५) बाहर तथा भीतर दोनों को लेकर और दोनों से अतिरिक्त कोई एक है।

(१) भौतिक तत्व को ही सब कुछ का मूल मानने वाले सन्देह-परायण विचारक शरीर को एक मशीन-मात्र मानते हैं। भौतिक पदार्थों के संयोग से यह शरीर बना है। जब तक पुर्ज़े दुरुस्त हैं तब तक यन्त्र भी चल रहा है। पुर्ज़े टूट जायंगे तो शरीर भी नष्ट हो जायगा और उसी के साथ प्राण और आत्मा सब कुछ विलीन हो जायंगे। सब कुछ बाहर है, भीतर कुछ भी नहीं है। विश्वासपरायण विचारक के चित्त में जब यह बात आती है तो वह जल-स्थल, आकाश-पर्वत-नदी-नाला सब कुछ में अपूर्व दैवी शक्ति को अनुभव करता है। प्रत्येक शरीर अवयव इन शक्तियों से अधिष्ठित और चालित है। सब कुछ बाहर है पर सब कुछ में एक अतिप्राकृत शक्ति वर्तमान है। (२) भौतिक

विज्ञान की उन्नति ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। दूसरे स्तर पर जाकर मनुष्य ने अनुभव किया कि चेतन और जड़ दो वस्तुएँ हैं। चेतन प्राणशक्ति की भीतरी रचनात्मक शक्ति का विकास है। जड़ और चेतन से ही यह जगत् प्रपंच बना है। विश्वासपरायण विचारक ने जड़ पदार्थों के साथ ही साथ नाना प्रकार के देव-देवी, भूत-पिशाच आदि की कल्पना की। यह विश्व-ब्रह्माण्ड नाना प्राणवान् (असुर) शक्तियों से भरा हुआ है। सो यद्यपि भीतर भी कुछ सत्य है, परन्तु बाहर और भी ज़बर्दस्त नियन्तृ-मण्डली बैठी है। (३) मनुष्य इससे भी ऊपर उठा। यह जगत् प्रवाह वस्तुतः मनुष्य-मन की अपेक्षा में ही सत् है। मनुष्य का भीतर ही बाहर की कल्पना करता है। जगत् मानस प्रवाह की कल्पना है। मन स्वयं क्षणभंगुर है और उसके द्वारा कल्पित जगत् तो क्षणिक है ही। जो कुछ है वह मनुष्य का चित्त है। विश्वासपरायण मनुष्य ने जब इस सत्य को अनुभव किया तो उसने इस रहस्य के नियन्ता परमात्मा की मनुष्य के रूप में कल्पना की। मनुष्य के रूप में ही भगवान् लीला करते हैं। सभी धर्मों में इसी बात को इस प्रकार कहा गया कि मनुष्य वस्तुतः भगवान् की प्रतिकृति है। सो वस्तुत: मनुष्य का भीतर ही सब कुछ का स्रष्टा है। (४) किन्तु यह भी बाह्य है। मनुष्य के पास मन से भी अधिक सूक्ष्म यंत्र है। वह बुद्धि है। बुद्धि से उसने जगत् के नाना सम्बन्धों पर विचार किया कि भीतर और बाहर एक है, एक ही अद्वैत तत्व। यहाँ आकर विश्वास और तर्क दोनों आपाततः 'एक' होगये। दोनों ने घूम-फिरकर यह निष्कर्ष निकाला कि भीतर और बाहर एक ही अद्वैत तत्व है। यह अतीन्द्रिय है पर बुद्धिग्राह्य है। परन्तु यह आपात ऐक्य वस्तुतः 'ऐक्य' नहीं है।

यदि ज्ञान को ही प्रधान मान लिया जाय और ज्ञेय को उसका परिणाम समझा जाय तो यह जड़ाद्वैत होगा। तर्कपरायण विचारक

इसो अद्वैत तक पहुँचेगा। परन्तु यदि ज्ञेय को प्रधान मान लिया जाय और ज्ञान को उसका परिणाम माना जाय तो यह चेतनाद्वैत होगा। विश्वासपरायण विचारक इसी नतीजे पर पहुँचेगा। परन्तु इन दोनों में ही जो बात उपेक्षित है वह ज्ञान है। ज्ञान और ज्ञेय में से कोई एक प्रधान है और दूसरा उसकी अभिव्यक्ति है, इस बात को जाननेवाला तत्व इन मतों में उपेक्षित रह जाता है। ऊपर जितने भी मत गिनाये गये हैं उनमें इस ज्ञानतत्व की उपेक्षा होगयी है। जो वह सब अनुभव कर रहा है वही वस्तुतः समस्त सत्यों का सत्य है। उसे बाहर नहीं कहा जा सकता क्योंकि स्पष्ट ही वह भीतर अनुभूत हो रहा है। फिर केवल भीतर भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि बाहर का जगत् भी स्पष्ट ही उसके अनुभव का विषय है। चेतन और अचेतन उस एक परम तत्व के दो पीठ हैं। वह बाहर और भीतर दोनों को अंग बनाकर वर्तमान है। कबीरदास ने हैरान होकर कहा है, मैं उसे कैसा कहकर समझाऊँ—

> ऐसा लो नहीं तैसा लो !
> भीतर कहूँ तो जगमय लाजै बाहर कहूँ तो झूठा लो,
> बाहर-भीतर सकल निरन्तर चेत अचेत दुई पीठा लो !

सो यह तत्व अनुभवगम्य है। नाना प्रकार के संयम और वैराग्य से प्रतिष्ठित चित्त से ही इसका साक्षात्कार होता है। वह जड़ और चेतन से परे है। उसे पोथी पढ़ने से नहीं जाना जा सकता। वह राग-द्वेष से मलिन चित्त में उसी प्रकार प्रतिभात नहीं होता जिस प्रकार मलाच्छन्न मुकुर में मनुष्य की प्रतिच्छवि नहीं दिखती।

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में एक अत्यन्त मनोरंजक कथा से इस तत्व का प्रतिपादन किया गया है। भृगु ने अपने पिता वरुण से कहा कि भगवन्, मैं 'ब्रह्मज्ञान' पाना चाहता हूँ। पिता ने तप करने की आज्ञा दी। कठिन तपस्या के बाद पुत्र ने आविष्कार किया कि अन्न

ही ब्रह्म है। पिता ने फिर तप करने को कहा। पुत्र ने दुबारा तप करके पता लगया कि प्राण ही ब्रह्म है। फिर तप। फिर खोज—मन ही ब्रह्म है। फिर तप। फिर खोज—विज्ञान ही ब्रह्म है। पिता सन्तुष्ट नहीं हुए। फिर तप। अब की बार पिता ने सन्तुष्ट होकर पुत्र से सुना कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द अर्थात् अध्यात्म तत्व। इस प्रकार अन्न (भौतिक तत्व)-प्राण-मन-विज्ञान (बुद्धितत्व)-आनन्द (अध्यात्मतत्व) ये पाँच ज्ञान के स्तर हैं। उपनिषद् के ऋषि ने बड़े सहज ढंग से इस तत्व को समझाया है। यह जो अन्तिम सत्य है वह परंपरा-समागत धर्मग्रन्थ और रूढ़ आचारनिष्ठा पर विश्वास रखनेवाले श्रद्धालु को मान्य नहीं होता क्योंकि अनुभव करने वाले की अनुभूति-शक्ति का क्या ठिकाना ? इस प्रकार अनुसन्धान का मार्ग ग्रहण करने वाला जिस स्थान पर सन्देह का सागर पार करके विश्वासपरायण बन जाता है वहीं विश्वास के रास्ते चलनेवाला सन्देहवादी बन जाता है। वह अनुभव के मार्ग को, जिसे निगुणिया साधक 'अनभै साँच पन्थ' कहते हैं, सन्देह करने लगता है और आप्तवाक्यों और रूढ़ आचारपरम्परा से उसी तरह चिपट जाता है। वह यथासम्भव समस्त विचारों के विरुद्ध हो जाता है।"

आजकल हजारीप्रसाद जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं, और हिन्दी-साहित्य की प्राचीन पुस्तकों की खोज तथा उसके प्रकाशन की ओर विशेष प्रवृत्त हैं। आशा है, आप हिन्दी-साहित्य को अपनी अन्य खोजपूर्ण कृतियाँ देकर उसके भण्डार को भरेंगे।

आपकी कृतियाँ हैं :—१. हिन्दी-साहित्य की भूमिका, २. सूरदास, ३. हमारी साहित्यिक समस्याएं, ४. विचार और वितर्क, ५. कबीर, ६. वाणभट्ट की आत्मकथा, ७. अशोक के फूल, ८. नाथ-सम्प्रदाय, ९. साहित्य का साथी, १०. कल्प-लता, ११. आदि हिन्दी की कुछ समस्यायें, १२. हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि।

४. श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

प्रो० विनयमोहन शर्मा ने बख्शी जी के विषय में लिखा है—"शुक्ल जी को डा० जानसन की भाँति प्रभाववादी आलोचना से बेहद चिढ़ थी। इसलिए उनकी भाषा और विचारों में अद्भुत संयम पाया जाता है।

जिस समय बख्शी जी का प्रादुर्भाव हुआ, हिन्दी समीक्षा जगत पर शुक्ल जी का ही आतंक छाया हुआ था। द्विवेदी जी थककर विश्राम ले रहे थे, कभी-कभी छायावादी काव्य-प्रवृत्तियों पर झुँझला अवश्य उठते थे। पं० पद्मसिंह शर्मा बिहारी के काव्य-वैभव को बड़ी बुद्धिमानी से अन्य कवियों की तुलना में उत्कृष्ट सिद्ध कर चुके थे; उनका अगाध पाण्डित्य किसी की चुनौती की अपेक्षा नहीं रखता था। संस्कृत, फारसी और अरबी साहित्य के अध्ययन का परिणाम उनकी भाषा और शैली पर स्पष्ट झलकता था। उसने उनकी शैली में प्रवाह और जीवट भर दिया था। भारतीय लक्षण-ग्रन्थों का आधार उनकी समीक्षा का प्राण था। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में लोग उनकी ओर अंगुलि-निर्देश कर मौन हो जाते थे। आचार्य श्यामसुन्दरदास ने अधिकांश में पाश्चात्य समीक्षा-सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर आनेवाले समीक्षकों के लिए (जो हिन्दी के द्वारा पाश्चात्य समीक्षा के सिद्धान्तों को समझना चाहते थे) एक मार्ग खोल दिया था। आचार्य द्विवेदी जी के काल में, और उससे भी पूर्व, सामयिक साहित्य की पत्र-पत्रिकाओं में संक्षिप्त समीक्षाएं प्रकाशित होने लगी थीं। उनमें या तो पुस्तकों का परिचयमात्र होता था या दोष-दर्शन। तुलनात्मक समीक्षा के क्षेत्र में स्व० लाला भगवानदीन और पं० कृष्णबिहारी मिश्र का द्वन्द्व भी प्रकट हो रहा था।

बख्शी जी ने कविता के क्षेत्र से समालोचना जगत् में प्रवेश किया था, और ऐसे कविता के क्षेत्र से जिसमें जगत् और जीवन के रहस्य को खोजने की आकांक्षा थी। अतएव उनकी लेखनी ने जिस विषय का स्पर्श किया

उसे बाहर ही बाहर देखकर वह सन्तुष्ट नहीं हुई। उसने उसके आभ्यन्तर को भी परखने की उल्लास के साथ चेष्टा की। इसीलिए उनमें दार्शनिक का चिन्तन और कवि की भावुकता पाये जाते हैं; जहाँ उनकी आलोचना प्रणाली में गम्भीर अध्ययन के साथ पाश्चात्य और प्राच्य समीक्षा सिद्धान्तों का समीकरण पाया जाता है वहाँ किसी तथ्य विशेष का दार्शनिक दृष्टि से विस्तार के साथ जाँचने और भावुकता के समक्ष अपनी रुचि को पुरस्सर (?) करने का उत्साह भी पाया जाता है। इस तरह हम उनमें शुक्ल जी की समन्वय प्रणाली के साथ द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की भावप्रवलता भी पाते हैं। इससे आलोचना की निरपेक्ष रूक्षता बहुत कुछ निःशेष होगई है। बहुत से समीक्षक कलाकार को उसकी कला में नहीं उसके जीवन में खोजते हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि साहित्यिक समालोचना मानस-विश्लेषण होगई है। बख्शी जी इस सिद्धान्त को नहीं मानते। वे कहते हैं—"कवि का जीवन काव्य नहीं है, किन्तु काव्य ही उसका जीवन है। इसलिए हम कवि को काव्य से पृथक् नहीं देख सकते।"—(विश्व-साहित्य, पृष्ठ ८९)। परन्तु बाद में यह मत बख्शी जी ने दृढ़ता से मान्य नहीं किया। विश्व-साहित्य के ही पृष्ठ १२० पर वे लिखते हैं—काव्य के अन्तर्गत जो सत्य है वह भी सब उपलब्ध होती है जब हम उस कवि के जीवन तथा तत्कालीन इतिहास के साथ तुलना करके देखेंगे। साहित्य के समीक्षा-क्षेत्र में व्यक्तित्व को महत्व देने का आग्रह Sainte-Beuve नामक फ्रेंच समीक्षक ने प्रदर्शित किया है। इसका समर्थन मोरियो गेस्टन वेचलर्ड और एन्द्र गाइड ने भी किया है। प्रसन्नता की बात है कि फ्रायड की यह समीक्षा प्रवृत्ति अपने जन्मस्थान में विलुप्त हो चुकी है।

आधुनिक समीक्षा-प्रणाली की रस प्रवृत्ति यह भी रही है, जिसमें समीक्षक लेखक की अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर उसके साहित्यिक स्पन्दन का अनुभव करता है।

पर लेखक के साथ तादात्म्य भाव रखना ही पर्याप्त नहीं, समीक्षक को उससे भी तनिक ऊपर उठना पड़ता है। बख्शी जी की आलोचना में कलाकारों के प्रति तन्मय होने की प्रवृत्ति तो है परन्तु साथ ही उनकी सफलताओं और असफलताओं को निर्दिष्ट करने की तटस्थता भी है। वे अपने साहित्यिक आदर्शों के अनुरूप कलाकार को देखना चाहते हैं। कलाकार के अनुरूप अपने आदर्शों को ढालना उन्हें अभीष्ट नहीं है। "यथार्थ कवि का दर्शन" वे तभी करते हैं जब वह अपनी अन्तर्वेदना से पीड़ित हो पुकार उठता है। बिहारी सतसई को वे इसलिए महत्त्व नहीं देते कि उसमें कवि के यथार्थ दर्शन नहीं मिलते। कबीर, सूरदास और तुलसीदास, कालिदास और शेक्सपियर इसलिए उन्हें प्रिय हैं कि उनमें संसार को अपने से ऊँचा उठा ले जाने की क्षमता है—हृदय की विकलता है।

बख्शी जी ने पं० रामचन्द्र शुक्ल की भाँति किसी कवि विशेष पर विस्तृत समालोचना नहीं लिखी। उन्होंने सरस्वती के सम्पादन काल में और उसके बाद भी अपने देश के साहित्य पर विदेशी साहित्य के साथ समय-समय पर जो तुलनात्मक अध्ययन किया था, उसे ही 'नातिदीर्घ' निबन्धों के रूप में प्रस्तुत किया है। देखिए उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विश्व-साहित्य','हिन्दी-साहित्य','विमर्श प्रदीप' आदि। कुछ निबन्ध साहित्य के स्वरूप, उसकी जाति, भाषा और उसके मूल तथा विभास की चर्चा करते हैं और कुछ काव्य, विज्ञान, कला, नाटक की चर्चा के साथ हिन्दी कविता की गति-विधि पर तुलनात्मक प्रकाश डालते हैं।

यद्यपि अपने समय के छायावादी काव्य के प्रति उनकी आस्था नहीं रही, तो भी रससिद्ध कवियों के काव्य का आस्वादन उन्होंने निस्संकोच किया है, फिर चाहे वे किसी भी वाद के हों। साहित्य को जनसाधारण के निकट लाने की चिन्ता बख्शी जी में बहुत पूर्व से रही है। सन् १९२८ की अप्रैल मास की 'सरस्वती' में उन्होंने सम्पादकी

टिप्पणी में लिखा था, "हमारा आधुनिक साहित्य जनसाधारण से दूर होता जा रहा है। जन-साधारण के भाव और विचारधारा से हमारे आधुनिक साहित्य-सेवियों के भाव और चित्रण का व्यवधान क्रमशः बढ़ता जा रहा है। इसलिए अधुनिक साहित्य जातीय भाव, आदर्श और आकांक्षा को प्रकाशित करने पर भी वास्तव में जातीय नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि जाति कुछ अंगरेजी पढ़े-लिखों में ही तो सीमित नहीं है, हिन्दू जाति की वास्तविक दशा जानने के लिये पर्णकुटीर में वास करने वाले अशिक्षित किसानों, जुलाहों, मजदूरों आदि लोगों के अभावों, आशाओं और आकांक्षाओं को जानना होगा।" फिर भी कला और साहित्य को बहिर्मुखी बनाना भी उनका लक्ष्य नहीं है। विश्व-साहित्य, पृष्ठ १७९ पर वे कहते हैं —"कला मनुष्य के अन्तःसौन्दर्य का बाह्य रूप है।" वे काव्य या कला की महत्ता उसकी उपयोगिता पर अवलम्बित नहीं मानते.। "कालिदास का मेघदूत या शाहजहाँ का ताजमहल भारतीयों की कोई भी आवश्यकता पूर्ण नहीं करता, उनमें केवल आतंक की ही प्राप्ति होती है।" (सरस्वती, भाग २६, पृष्ठ ३६८)

कला की उन्नति देश या जाति की समृद्धि-अवस्था में होती है या संघर्ष (युद्धावस्था) में ? इस प्रश्न पर बख्शी जी की पुस्तकों में दोनों प्रकार के विचार मिलते हैं, जिससे पाठक थोड़ी देर के लिये उलझन में फँस जाता है।

अतएव उनके विचारों को समझने के लिए पाठक को किसी लेख विशेष का विचारखण्ड ही ग्रहण नहीं कर लेना चाहिए। उनके समस्त साहित्य का अध्ययन करने पर ही उन्हें समझा जा सकता है। भारतीय साहित्य, संस्कृत साहित्य अथवा अथवा भारतीय जाति के लिये कई स्थानों पर हिन्दी साहित्य, हिन्दी नाटक, हिन्दू जाति शब्दों का प्रयोग मिलता है। प्रतीत होता है उनका भारतीय संस्कृति का अभिमानी मन अतीत

की कल्पना से अपने को मुक्त नहीं करना चाहता क्योंकि वह गौरवपूर्ण है, समृद्धि-शाली है। बख्शी जी का अध्ययन अधिक विविध और विस्तार होने के कारण वे किसी एक बात को प्रस्तुत करते ही उसी तक अपने को सीमित न रख कर उसी से सम्बन्ध रखने वाली अन्य विचारधाराओं में अवगाहन करने लगते हैं जिससे ऐसा जान पड़ता है मानो प्रतिपाद्य विषय गूढ़ होता जा रहा है या छूटता गया है। पर जब हम विषय की समाप्ति की ओर बढ़ते हैं तो विचार-शृंखला का सूत्र पा लेते हैं। उनकी यह दार्शनिक वृत्ति उनके लेखन के हर क्षेत्र में दर्शित होती है जिससे उन्हें आसानी से समझा नहीं जा सकता। हाल की पुस्तकों (और कुछ 'त्रिवेणी' आदि) में साहित्य के सिद्धान्तों को कथा रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति भी उनकी बढ़ रही है जिसे हम हिन्दी में आलोचना की अभिनव प्रणाली कह सकते हैं। पाश्चात्य साहित्य से हिन्दी की तुलना करने की प्रवृत्ति उन्हीं के 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में जोशीबन्धु, स्वर्गीय अवध उपाध्याय, शिलीमुख आदि ने ग्रहण की थी और आज भी श्रीमती शचीरानी आदि उसको अधिक प्रशस्त और प्रभावित कर रहे हैं। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार के साहित्य मान्य हैं, पारखी दोनों की परीक्षा कर उसे ग्रहण करते हैं।—

> "पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
> सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

बख्शी जी अपने आदर्श द्विवेदी जी के समान ध्येयवादी हैं, साथ ही संसार के किसी भी साहित्य में जहाँ साहित्यकार का हृदय बोलता है उस पर निश्छल अपने हृदय का कोष दिव्य कर देते हैं। बिना किसी बनाव-सिंगार के अपने आपको व्यक्त कर देने की कल्पना उनकी अप्रतिम है।

५. पं० पद्मसिंह शर्मा

नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में पंडित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति-काव्य में, जो शर्मा जी के समय का प्रचलित काव्य-प्रवाह था, कौशल की ही प्रधानता थी। उनके समय के नव-निर्माण में इसी की कमी थी। फलतः शर्मा जी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना, जो समयिक साहित्यिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य-शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य ही था।

काव्य-शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं; इन्हीं की ओर शर्मा जी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य-शरीर और काव्य-आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य-आत्मा स्थानीय और बिहारी तथा देव का काव्य-शरीर स्थानीय। पंडित पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करने चली, देव और बिहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी ही होती है, और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की उक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करती है। शर्मा जी ने काव्य-शरीर की शुद्धि के सभी पहलू स्पष्ट कर दिए और उसकी समस्त सम्भावनाएं उद्घाटित कर दीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही मन और आत्मा नहीं संवरते।

नवीन काव्य-धारा के सम्बन्ध में शर्मा जी का मत मुक्तक काव्य

के—बिहारी और देव आदि के—काव्य प्रतिमानों से ही प्रभावित था। नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इस विषय पर उनके संस्कार रीति-शैली से ही प्रचलित हुए थे। फलतः नवीन काव्य की गति-विधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन कविता उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा—"......पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य-परम्परा का बहुत ही अच्छा उद्घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्य्या सप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के बहुत-से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परम्परा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परम्परा का उद्घाटन साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिन्दी के दूसरे कवियों के मिलते-जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्मा जी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक पैदा किया। इस पुस्तक में शर्मा जी ने उन आक्षेपों का भी बहुत-कुछ परिहार किया जो देव को ऊंचा सिद्ध करने के लिए बिहारी पर किये गए थे। हो सकता है कि शर्मा जी ने भी बहुत-से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है वह अनूठे ढङ्ग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।"

बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में "हिन्दी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तक लिखने वालों में पण्डित पद्मसिंह शर्मा का नाम उल्लेख योग्य है। हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना-शैली का आविष्कार पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने किया था। यह वस्तुतः एक नई चीज़ थी।

......शर्मा जी की शैली का अनुसरण अन्य लोगों ने न किया हो, यह दूसरी बात है, परन्तु यह शैली दृढ़ हो रही है।"

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के अनुसार—"श्री पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक आलोचना को जन्म दिया। उनकी तुलनात्मक आलोचना ने, 'देव' बड़े हैं कि 'बिहारी' बड़े हैं, इस प्रकार के झगड़े लाकर खड़े किये। आपकी शैली अधिकतर व्याख्यात्मक है। आपके लिखने का ढङ्ग प्रवाहपूर्ण और आलोचना का ढङ्ग सजीव है।"

बाबू गुलाबराय ने उन्हें श्रद्धांजलि दी है—"स्वर्गीय पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रंथ में बिहारी की तुलनात्मक समालोचना निकाली। उसमें आपने बिहारी की उत्कृष्टता दिखलाई। यद्यपि उनकी समालोचना में पक्षपात, खींचतान और महफिली दाद सी दिखलाई पड़ती है, (जैसे : बिहारी की कविता शक्कर की रोटी है, जिधर से तोड़ो मीठी है।) और इस कारण कहीं-कहीं प्रभाववादी आलोचना का (Impressionist criticism) रूप धारण कर लेती है, तथापि वह पाण्डित्यपूर्ण है। उससे बिहारी के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी बहुत कुछ बढ़ गई है और उसी के साथ गाथा-साहित्य से भी हिन्दी भाषा-भाषियों का परिचय हुआ है। उनकी आलोचना केवल प्रभाववादी ही नहीं है, अर्थात् उन्होंने केवल अपने मन को अच्छी लगने वाली बात ही नहीं कही है, वरन् उसमें शास्त्रीय गुण भी दिखलाये हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने बिहारी को पूर्ववर्ती कवियों से श्रेष्ठ बतलाने में कहीं-कहीं थोड़ी-बहुत खींच-तान की है। आपकी आलोचनाओं में कुछ व्यंग्य की मात्रा भी रहती है, उसके कारण उनमें एक विशेष सजीवता आ जाती है।......"

स्व० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने उनकी भाषा-शैली पर कहा है—"शर्मा जी साहित्य के पूरे मर्मज्ञ और ज्ञाता थे। स्पष्टवादी तो एक ही थे। मुँह पर खरी सुनाते थे। आलोचना तो उनकी तीखी होती ही

थी। व्रजभाषा के पक्के प्रेमी और प्राचीन कवियों के पूरे भक्त थे। उनकी भाषा बड़ी चटपटी और चुलबुली होती थी। .....हंसी-मजाक की तो वे पुड़िया थे।......उन्हें तुलनात्मक समालोचना का प्रवर्तक कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।......शर्मा जी फारसी के फ़ाज़िल, उर्दू के उस्ताद और हिन्दी के हीरा ही नहीं, संस्कृत-साहित्य के भी सुधानिधि थे।"

श्री पद्मसिंह शर्मा की शैली का एक उदाहरण 'विहारी की बहुज्ञता' से लीजिए "कवि के विषय में किसी विद्वान् का कथन है कि 'कवि प्रकृति का पुरोहित होता है"—जिस प्रकार पुरोहित के लिए यजमान के समस्त कुलाचारों और रीति-रिवाजों का अन्तरंग-ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार कवि को भी प्रकृति के रहस्यों का मर्मज्ञ होना उचित है। इसके विना कवि, कवि नहीं हो सकता। कवि ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा ऐसी बातें चुन सकता है जिन पर दूसरे मनुष्य की दृष्टि नहीं जाती, जाती भी है तो तत्त्व तक नहीं पहुँचती। तह तक पहुँचकर कोई ऐसी बात नहीं निकल सकती जो साधारण प्रतीत होने पर भी असाधारण शिक्षाप्रद न हो, लौकिक होने पर भी अलौकिक आनन्दोत्पादक न हो और सैकड़ों बार की देखीभाली होने पर भी नवीन चमत्कार दिखाने वाली न हो। प्रकृति के छिपे और खुले भेदों को सर्वसाधारण के सामने मनोहर रूप में प्रकट करना ही कवि का काम है। 'अज्ञेय मीमांसा' करने बैठना, आकाश के तारे तोड़ने दौड़ना, कवि का काम नहीं है। कभी-कभी कवि को ऐसा भी करना पड़ता है सही, पर वह मुख्यतया दार्शनिकों का काम है। कवि का काम इससे भी बड़ा गहन है। केवल व्याकरण और छन्दःशास्त्र के नियमों से अभिज्ञ होकर वर्णमात्रा के काँटे में नपी-तुली पद्य-रचना का नाम कवित्व नहीं है, जैसा कि आजकल प्रायः समझा जाने लगा है। प्रकृति पर्यवेक्षण की असाधारण शक्ति रखने के अतिरिक्त विविध कलाओं, अनेक शास्त्रों का ज्ञान भी कवि के लिए आवश्यक है। जैसा कि कविता-मर्मज्ञों ने कहा है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यत्र काव्यांगमहो भारो महान् कवेः॥"

६. डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा हिन्दी के विख्यात भाषावैज्ञानिक हैं। 'ल लांग ब्रज' नामक ब्रजभाषा-सम्बन्धी फ्रेंच प्रबन्ध पर पैरिस से डाक्टरेट मिली। तत्पश्चात् आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, 'भारतीय हिन्दी परिषद्' के प्रमुख कार्यकर्ता, उसके मुखपत्र 'हिन्दी अनुशीलन' के संपादक तथा अनेक शोध-विद्यार्थियों के मार्ग-प्रदर्शक रहे हैं। आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं—'हिन्दी', 'हिन्दी भाषा का इतिहास' तथा 'विचार-धारा' में साहित्यविषयक निबन्धों का एक विवेचनात्मक संग्रह। वैसे आपने बहुत से सुन्दर लघुनिबन्ध (यथा 'भारत' में प्रकाशित 'थर्ड क्लास का सफ़र') भी लिखे हैं। साहित्य से अधिक भाषा आपके विचार का मुख्य लक्ष्य रहा है। हिन्दी की प्रादेशिक बोलियों का वर्ण-विचार, शब्द-विचार और वाक्य-विचार उनके समान बहुत कम सुधियों ने किया होगा। इधर आपके निर्देशन में काम करने वाले विद्यार्थीगण हिन्दी और अन्य प्रादेशिक भाषाओं यथा मराठी, गुजराती, तेलुगू आदि के सम्बन्धों पर विशेष कार्य कर रहे हैं। डा० धीरेन्द्र का सबसे विख्यात ग्रन्थ है 'हिन्दी भाषा का इतिहास'। इस अध्यवसायपूर्वक लिखे बृहद् ग्रन्थ में धीरेन्द्रजी ने अपने मंतव्य तर्कयुक्त और सुसंगत भाषा में प्रस्तुत किये हैं। डाक्टर सुनीति-कुमार चटर्जी से उनका जहाँ मतभेद है वह भी उन्होंने स्पष्ट और निर्भीक रूप में व्यक्त किया है, यथा स्वरपातविषयक सिद्धान्तों में और देवनागरी तथा रोमन लिपि की सापेक्ष युक्तायुक्तता के विषय में।

डाक्टर धीरेन्द्र को वैज्ञानिक समीक्षकों में रखा जा सकता है। वे हर चीज़ की नाप-जोख शास्त्रीय सत्य की कसौटी पर बावन तोला पाव रत्ती तौलकर करते हैं। वैज्ञानिक समीक्षक के लिए आवश्यक धैर्य

और संतुलन उनके अन्दर अपार मात्रा में है। और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ, विवेकयुक्त विश्लेषण का जो पथ उन्होंने प्रशस्त किया है, वह बहुत उपादेय और मूल्यवान है। आप थोड़ा लिखते हैं, पर जो कुछ लिखते हैं वह सुनिश्चित और सुव्यवस्थित होता है।

यह अवश्य है कि ठंडी, तर्कयुक्त, विश्लेषणात्मक शैली में, रस के नाम पर सस्ती भावुकता के आदी पाठकों को कहीं-कहीं नीरसता या शुष्कता धीरेन्द्र जी के लेखन में जान पड़े। परन्तु हिन्दी आलोचना की भावुक परम्परा को मोड़कर उसे अधिक आधुनिक बनाने में धीरेन्द्रजी का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। धीरेन्द्रजी की पद्धति की छाप उनके सहकारी और शिष्य अन्वेषकों पर है। जैसे डा० माताप्रसाद गुप्त, डा० रामसिंह तोमर, डा० हरदेव बाहरी, डा० ब्रजेश्वर वर्मा, डा० रामरतन भटनागर, डा० रघुवंश, डा० शैलकुमारी माथुर, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त और डाक्टर बुल्के। यह सब सज्जन अपने-अपने विषयों में उसी वैज्ञानिक मूलग्राही पद्धति से कार्य कर चुके हैं या कर रहे हैं। हिन्दी आलोचना में बहुत से झाड़-झंखाड़ होते हुए अपनी गति से, एक दिशा में सीधे चलने की धीरेन्द्र जी की विद्वज्जन-शोधन शैली बहुत प्रशंसित है।

७. डाक्टर सत्येन्द्र

डाक्टर सत्येन्द्र और गुलाबराय जी का निम्नलिखित वार्तालाप दोनों के परम्परावाद का अच्छा उदाहरण है।

सत्येन्द्र—पर बाबूजी! भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आज तक, मेरा तो विचार है कि रीतिकालीन कविता की धारा सूखी नहीं, अक्षुण्ण अभी तक वही चली जा रही है। यही नहीं, उलटे यह धारा और विशद हो गई है।

बा० गुलाबराय—आपका यह विचार निश्चय ही किसी भ्रम के

कारण हुआ है। बात बहुत स्पष्ट है; रीतिकाल एक ऐतिहासिक काल हो चुका है। प्रत्येक काल सामयिक घटनाचक्रों का परिणाम होता है। रीतिकाल में देश की जो परिस्थिति थी वह वर्तमान युग में नहीं है। अतः रीतिकाल का काव्य आज नहीं पनप सकता। न तो वे विलास-मग्न सामन्त आज हैं जो किसी फड़कती उक्ति पर उछल कर कवि को निहाल कर दें। आज का कवि अनूठी स्वच्छन्दता से काव्य प्रस्तुत करता है।

स०—यह सब तो एक दृष्टिकोण है, और प्रायः सभी इतिहास-कारों ने और नवयुग के प्रवर्तक कवियों ने भी यही कहा है, पर यह यथार्थ नहीं। हाँ, कोई भ्रम न रहे, इसलिए पहले रीतिकालीन काव्य-परम्परा का अर्थ स्पष्ट हो लेना चाहिए।

वा०—हाँ! आप ही बताइए, आप रीतिकालीन की कविता की परम्परा किसे कहते हैं?

स०—मेरी दृष्टि में पहले तो हमें 'रीति' और 'रीति सम्बन्धी कविता' में अन्तर समझ लेना चाहिए। 'रीति' को वामन ने काव्य की आत्मा बताया था।

वा०—किन्तु वामन तथा अन्य संस्कृत आचार्यों ने 'रीति' शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग किया है, उसी अर्थ में हिन्दी में उसका प्रयोग नहीं होता है।

स०—यह भी ठीक ही है। किन्तु रीति शब्द का महत्त्व पहले वामन ने ही दिया। उसने रीति की कविता को शैलियों के अर्थ में ग्रहण किया। पर आत्मा मान लेने से कविता के गुण अलङ्कार आदि सभी उससे सम्बद्ध हो गये। हिन्दी में इसी विस्तृत अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रीति' ग्रन्थ, अतः, वे ग्रन्थ हैं जिनमें काव्य अथवा साहित्य की 'रीति', दूसरे शब्दों में उसके शास्त्र का निर्देश हो। हिन्दी के रीतिकाल में हमारे आचार्य कवियों ने पहले रीति का निरूपण किया;

यह बहुधा दोहों में किया। यह तो हुई रीति—इसमें काव्य, ध्वनि, रस, अलङ्कार और उनके भेदों की परिभाषा की गई। यह रीति या लक्षण कविता नहीं हो सकती। रीतिकाल की 'कविता' तो वह है जो रीति के लक्षणों के उदाहरणस्वरूप कवि ने रची।

वा०—इसीलिए तो भूषण की कविता वीर रस की होते हुए भी रीतिकालीन ठहरती है।

स०—माफ कीजिए, मैं अभी अपनी बात पूरी कहाँ कह पाया था। भूषण ने रीति-ग्रन्थ तो लिखा 'शिवराज भूषण' किन्तु उसकी कविता रीतिकालीन परम्परा में नहीं आती। रीतिकाल की कविता की कुछ विशेष बातें हैं; एक तो यह कि वह शृङ्गार-रस के विलास की रचना होती है।

वा०—हाँ, यह विलास शब्द आपने अच्छा रखा, इससे भ्रम की गुञ्जाइश नहीं रही। 'तुलसीदास' में शृङ्गार-रस की कविता है किन्तु उसमें शृङ्गार-रस का विलास नहीं। सूर की रचनाएँ तो अति-शृङ्गार-पुष्ट हैं, फिर भी उनमें रस का विलास नहीं है।

स०—जी हाँ, तो यह 'रस-विलास' रीतिकालीन कविता की पहली चीज है। इसी शृङ्गार-रस की विलासिता से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली दो और बातें हैं। एक नायक-नायिका भेद की ओर विशेष आकर्षण और रस के उद्दीपन के लिए प्रकृति, दूती तथा चेष्टाओं का वर्णन संयोग में रतिकेलि और वियोग में तड़पन का भी विशद निरूपण होगा ही।

वा०—मेरे विचार से इन सब बातों के साथ एक और बात है रीतिकाल के काव्य में मिलती है—वह है ऊहा और उक्ति-वैचित्र्य वैसे तो मैं लक्षण देने को भी रीतिकालीन परम्परा का मुख्य मानता हूँ।

स०—पर यह तो केवल बाहरी लक्षण हैं। यथार्थ में किसी कविता की मूल प्रवृत्ति को देखने की आवश्यकता है। रीतिकालीन काव्य का मूल बिन्दु 'रति' की भावना है। इसी भावना की प्रमुखता के कारण रीतिवादी कवियों ने शृङ्गार-रस पर, नायक-नायिकाओं पर इतना अधिक ध्यान दिया है। नहीं तो रीति की प्रतिष्ठा करने में लक्षणों की परिभाषा करने और उन्हें समझाने में भूषण की भाँति किसी अन्य रस का भी सहारा ले सकते थे।

वा०—यहाँ पर आप एक बात भूले जा रहे हैं। युग का प्रभाव साहित्य पर पड़ता ही है। भूषण का वीर-रस औरङ्गजेब के शासन की प्रतिक्रिया के कारण परिपक्व हुआ। 'रीतिकाल' की लम्बी परम्परा का रहस्य मुग़ल सम्राटों की नीति में है। उन्होंने राजाओं के शौर्य को अनावश्यक कर दिया। वे विलास में डूब गये। रीतिकाल भारतीय सामन्तशाही की मध्यकालीन प्रवृत्ति पर आश्रित था। उसी में पैदा हुआ था। उसी के समस्त धर्म उसमें आ गये थे।

स०—कैसे ?

वा०—राजा अपने आश्रित कवियों में पाण्डित्य आवश्यक मानते थे, जिससे उन्हें सन्तोष हो कि उनके दरबार में भी रत्न हैं। इस प्रवृत्ति ने कवियों को शास्त्र तथा लक्षण ग्रन्थ लिखने की ओर लगाया। राजा विलासी थे ही। उन्होंने शृङ्गार की चर्चा और नायिकाओं के वर्णन को उत्तेजना दी। इस विलास को सजीव बनाने के लिए उन्हें फड़कती चीज़ की आवश्यकता थी। उसने उक्ति-वैचित्र्य और ऊहा प्रदान की। आज वह युग नहीं रहा। अतः रीतिकालीन कविता भी समाप्त हो गई।

स०—जहाँ तक साहित्य के इतिहास का प्रश्न है वहाँ तक आपको यह रीतिकालीन कविता अपने प्रत्येक रूप में आज तक अटूट मिलती है।

वा०—कैसे ? ज़रा स्पष्ट कीजिए।

स०—भारतेन्दु तक तो आप और सभी इतिहासकार मानते हैं।

आपने ऐतिहासिक तर्क में भूषण को औरङ्गजेबकालीन नीति की प्रतिक्रिया बताया। पर उसी काल में मतिराम, देव, कालिदास, त्रिवेदी, कुलपति मिश्र जैसे दिग्गज आचार्य और कवि हुए जिन्होंने रीतिकालीन काव्य की परम्परा में भूषण को केवल एक अपवाद ही कर दिया है। आचार्यत्व की दृष्टि से लाला भगवानदीन, जगन्नाथप्रसाद भानु, विनायक राव, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, केडियाजी, रसालजी और अपने 'रस-कलश' के लिए प्रसिद्ध पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय रीतिकालीन परम्परा के आचार्यत्व को आज तक बनाये हुए हैं, और जहाँ तक रीतिकालीन कविता का प्रश्न है वहाँ जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी को कौन भूल सकता है !

बा०—यह तो आप व्रज भाषा काव्य की बात कह रहे हैं। नये कवि और नये भाव क्या नहीं आये ?

स०—नये युग में भी रीतिकालीन काव्य का अभाव कहाँ हुआ है ? रीति-युग के बाद साहित्यिक युग की दृष्टि से तो छायावाद का ही युग आया है। उसमें तो रीतिकाल की समस्त प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। केवल रूप-भेद हुआ है। इस युग के प्रवर्तक प्रसाद में और पन्त में ही आप देखें, समस्त प्रवृत्ति वही रीतिकालीन काव्य की है—वही 'प्रिय और प्रिया' के संयोग, वही उनके वियोग में आहोजारी और दीर्घ उच्छ्वास, वही हाव-भाव, लुकना-छिपना, वही अलंकार-प्रियता, वही उक्ति-वैचित्र्य।

बा०—सत्येन्द्रजी, यह तो आप बहुत चलती बात कह रहे हैं।

स०—नहीं बाबूजी, उदाहरणों से पुष्ट करके यह स्थापना सिद्ध की जा सकती है। प्रसाद जी का 'आँसू' तो इन सब प्रवृत्तियों का प्रबल परिचय देता है।

जल उठा स्नेह दीपक सा,
नवनीत हृदय था मेरा।

अब शेष धूम रेखा से,
चित्रित कर रहा अँधेरा ॥

इसमें अलंकार, ऊहा और उक्ति-वैचित्र्य के साथ शृंगार रस की रति-भावना ही तो स्थायी है। पंत जी का 'पल्लव' तो समस्त रीतिकालीन रूप-विधान पर खड़ा हुआ है। उसमें उच्छ्वास, षड्ऋतु, विशेषतः पावस और वसंत, सहेट-संकेत, और विविध नायिकायें, उनकी चेष्टाएं अत्यन्त स्पष्ट देखने को मिल जायंगी।

इस युग के कवियों ने केवल एक विपर्यय कर दिया है। प्राचीन कवि नायिका के अंग-प्रत्यंगों के लिए प्रकृति से उपमान खोजते थे। आज के कवि प्रकृति में नारी का आरोप करते हैं। आज उषा अथवा चाँदनी नारी बन गई हैं और उनमें किसी न किसी नायिका का रूप दर्शन हो सकता है।

बा०—पर यह सब रीतिकालीन मनोवृत्ति से तो नहीं हुआ। एक विराट् और भव्य की भावना तो इनमें प्राचीनों से धरातल का अन्तर पैदा कर देती है।

स०—बाबू जी, वह विराट्-भावना तो केवल आड़ मात्र है। माँस की स्थूल बेचैनी आप अंचल में देखते ही हैं। प्रसाद की कामायनी में भी श्रद्धा में नायिका-भाव का उद्दीपन करने वाला प्रतिपादन हुआ है। उसमें तो कवि ने वास्तविक रति भी चित्रित कर दी है। उपाध्याय जी के 'प्रियप्रवास' से वियोग वर्णन की परिपाटी महाकाव्यों में मिलती ही है। मैथिलीशरण गुप्त जैसे राष्ट्रीय कवि की उर्मिला और यशोधरा में वियोगिनियों के वही चित्र उतरे हैं जो रीतिकालीन में मिलते हैं।

बा०—पर ठहरिये, आपने इन सब उदाहरणों में क्या यह नहीं देखा कि वह 'राधा' देश और समाज की सेवा के लिए कटिबद्ध हो जाती है? भारतेन्दु जी की रचनाओं में भी देश की आर्त अवस्था उभरी है।

आवहु सब मिलकर रोवहु भाई
हा हा !! भारत दुर्दशा न देखी जाई।

उर्मिला सैन्य-संचालन का कार्य करने को तत्पर है। मानवीय करुणा ही आज की रचनाओं में प्रतिफलित मिलती है। निरालाजी की 'तोड़ती पत्थर थी इलाहाबाद की सड़क पर' में स्त्री का चित्र होते हुए भी क्या परिपाटी-मुक्त नायिका मिलती है? छायावादी कवियों ने आज वह चोला उतार फेंका है और प्रगतिवाद के निकट आ गए हैं।

स०—हाँ, पर उससे हुआ क्या है? यह भी तो देखिये।

बा०—वही तो मैं बता रहा हूँ। प्रगतिवाद ने तो समस्त प्राचीन रूढ़ियों को एकदम धता बता दी है; न अलंकारों का आकर्षण है, न छन्दों का। विषय की दृष्टि से नारी उसमें नहीं आती। इस वाद ने तो रीतिकालीन प्रवृत्ति के मूल को ही रौंध दिया है। प्रगतिवाद के अवतरण से रीतिकालीन प्रवृत्ति के लिए अब भविष्य भी बिल्कुल अंधकारमय हो गया है।

स०—बाबूजी, किंचित् गहराई में जाकर देखिये, जिस प्रगतिवाद का आप उल्लेख कर रहे हैं वह एक सामयिक लहर है जिसने मनुष्य की शाश्वत भावनाओं, उसके मनोवेगों को साहित्य के लिये अस्वाभाविक उद्वेगों से कुछ काल के लिये दबा दिया है। पन्त जी प्रगतिवादी होकर भी 'ग्राम्या' में सौन्दर्य के मानों को नहीं त्याग सके। अंचल आदि की कविताओं में नारी का रीतिकालीन रूप छिपा हुआ है। उसकी वेशभूषा प्रगतिवादिनी हो गई है। यथार्थ यह है बाबूजी, कि रीतिकाल ने जिस 'रति-काम' को महत्व दिया वह शाश्वत मानववृत्ति है। वह किसी सामयिक आन्दोलन से, उत्तेजित विचारधारा से कुछ काल के लिए पीछे पड़ सकती है, पर टूट नहीं सकती। फ़्रायड के मनोविश्लेषण ने इस बात को वैज्ञानिक प्रमाण-पत्र प्रदान कर दिया है।

बा०—देखिये! एक बात फिर कुछ भूल की सी हो रही है। आप

जिसे शाश्वत वृत्ति कहते हैं उसे मैं भी शाश्वत मानता हूँ, पर प्रेम का वर्णन तुलसी ने भी किया है, सूर ने भी, पर वे रीतिकालीन कविता करने वाले नहीं हो जाते। भक्त कवियों ने खिले गुलाब की मादकता को लिया। रीतिकालीन कवियों ने गुलाब को सड़ा कर निकाले हुए शृङ्गारिक इत्र की मादकता में विभोरता पाई। आज आपको यह मानना पड़ेगा कि वह इत्र की मादकता हट रही है। खिले गुलाबों की ओर फिर दृष्टि जा रही है।

स०—सामयिक प्रभाव को मैंने मानने से कब इन्कार किया है बाबूजी, पर वह सब क्षणिक है। भक्तिकाल की भक्ति के अभाव होने से रीतिकाल के उदय की बात कितने ही विद्वानों ने कही है, जबकि केशवदास उसी भक्तियुग में बैठे-बैठे रीतिकाल का बीज अंकुरित कर रहे थे। यह रीतिकालीन भावना तो वेदों से लेकर आज तक उसी रूप में आई है और आगे भी रहेगी। मनुष्य के दो रूप मानने ही होंगे, एक शाश्वत जब वह 'अपने व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व' से बँध रहा हो, दूसरा संघर्ष का सामयिक रूप जब वह आन्दोलनों से आन्दोलित हो उठता है। पहला रीतिकालीन प्रवृत्ति का परिचायक है, किसी भी परिपाटी में बंधा हुआ हो, और अमर है।

और डाक्टर सत्येन्द्र की पुस्तक 'कला, कल्पना और साहित्य' पर गुलाबराय जी की सम्मति पढ़िये—

"प्रस्तुत पुस्तक में डाक्टर सत्येन्द्रजी के विविध विषयों पर लिखे हुए निबन्धों का संग्रह है। यद्यपि इसमें कुछ निबन्ध मनोविज्ञान और दर्शन—विशेषकर वल्लभ सम्प्रदाय के दार्शनिक विचारों से सम्बन्ध रखते हैं तथापि इन सब का साहित्यिक महत्व है। ये सभी निबन्ध विचारात्मक (अधिकांश में आलोचनात्मक) कोटि में आते हैं, किन्तु इनमें विभिन्न प्रकार और स्तर के निबन्ध हैं। कुछ तो शास्त्रीय हैं, जैसे—काव्य में दोष, भाषा की उत्पत्ति आदि (इनमें विषयगतता अधिक है), कुछ का सम्बन्ध व्यावहारिक आलोचना से है, जैसे—भूषण, जायसी, सूर, मीरा

पर लिखे हुए निबन्ध; कुछ सम्प्रदाय सम्बन्धी हैं, कुछ साहित्य के इतिहास से सम्बन्धित हैं और कुछ साहित्य-सृजन विषयक हैं। इनमें अपेक्षाकृत लेखक का व्यक्तित्व अधिक प्रकट होता है। इन निबन्धों में लेखक के गूढ़ चिन्तन का परिचय मिलता है। गाम्भीर्य लेखक की शैलीगत विशेषता है, और वह कहीं-कहीं दोष की तटस्पर्शिनी बन गई है। कुछ में निबन्धों की तो विषयगत प्रकृति ही रहस्यमय है। जैसे—सम्प्रदाय सम्बन्धी (मञ्जरी का मूल आदि) किन्तु कुछ में गाम्भीर्य का अंश, जैसे नरोत्तमदास के सुदामाचरित्र में, बचाया जा सकता था। यद्यपि प्रायः सभी निबन्ध ऊँचे धरातल से लिखे गये हैं तथापि कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनसे साधारण विद्यार्थी भी लाभान्वित हो सकते हैं, जैसे प्रेम पीर के प्रचारक मलिक मुहम्मद जायसी, वीर रस के उत्थापक भूषण, नरोत्तम का सुदामाचरित, प्रेम पीड़ा की प्रतिमूर्ति मीरा, अष्टछाप परिचय : सूरदास आदि। आचार्य कवि 'दास' की परख रीतिकाल की कविता के मूल्याङ्कन के लिए विशेष देन है। रीतिकाल के कवियों पर यह विशेष आरोप है कि उनमें आचार्यत्व की कमी है। यह लेख उस आरोप को किसी अंश में दूर करने में सहायक होगा। इसमें रीतिकाल सम्बन्धी दो और लेख हैं—रीतिकाल की पृष्ठभूमि में भक्तिकाल और रीतिकाल का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है और रीतिकाल की परम्परा में यह दिखाया गया है कि रीतिकाल की परम्परा इस युग में भी जीवित है। यों तो भारत में प्राचीन से प्राचीन परिपाटी आज भी जीवित है तथापि रीतिकाल को अजीवित नहीं कह सकते। शृङ्गार की प्रवृत्ति शाश्वत है। आलङ्कारिकता भी समूल नष्ट नहीं हो सकती। किन्तु रीतिकाल इतना ही नहीं है। उच्चकोटि के विद्यार्थियों के लिए और विशेषकर उन विद्यार्थियों के लिए जिनको वैष्णव साहित्य में रुचि है—ये निबन्ध विशेष रूप से उपयोगी हैं।"

इस प्रकार से 'ब्रज-संस्कृति' और 'गुप्तजी की कला' के प्रणेता सत्येन्द्र छात्रोपयोगिता का विशेष ध्यान रखते हैं।

(आ) रसवादी आलोचक

इस विभाग में हम उन-सब आलोचकों को लेंगे जिनकी समीक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिनिष्ठ (सब्जेक्टिव) है। शास्त्रीय या वैज्ञानिक आलोचना जहाँ वस्तुनिष्ठ और ताटस्थ्यपूर्ण, आत्मनिरपेक्ष और सैद्धांतिक होती है, यह आलोचना व्यक्तिगत भाव-विभावों पर आधारित, व्यक्ति-रंजन को ही शास्त्र बनाने वाली समाजनिरपेक्ष आलोचना होती है। इन रसवादी आलोचकों को इसीलिए शाश्वतवादी भी कहते हैं। ब्रह्मानन्द-सहोदर' रस इनके विचार से दुनिया के आरम्भ से अंत तक एक-सा आस्वाद्यमान रहने वाला है। मानव-विकार और मानव-हृदय इनके अनुसार पर्वत और समुद्र की तरह ऊँचे और गहरे, चिरंतन रूप में, ज्यों-के-त्यों, रहने वाले हैं। इसीलिए ये शुद्ध रसानुभूति, शुद्ध रस-दृष्टि, शुद्ध भावन पर अधिक ज़ोर देते हैं।

इस तरह की आलोचना में सबसे बड़ा खतरा यह होता है कि जिस आलोचक ने जिस रस का चश्मा पहन लिया वही उस पर हावी होगया। उदाहरणार्थ 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रंथ' में नलिनीमोहन सान्याल ने 'सूरदास का काव्य और सिद्धांत' नामक लेख में भक्ति का चश्मा चढ़ा लिया तो सूर के उत्तान शृंगारमय पद भी उसे निर्दोष रसयुक्त अंग जान पड़ने लगे। उन्हीं के शब्दों में

"नायक-नायिका के रूप-वर्णन और उसके तीव्र आवेगमय मनोभावों के विश्लेषण में भी सूरदास ने असीम पारदर्शिता दिखाई है। भरत मुनि ने कहा है—'यत्किंचित् लोके मध्यं सुन्दरं तत्सर्वं शृंगार-रसेनोपमीयते।'

'प्रकृति पुरुष एकै करि जानहुँ, बातनि भेद बनायो।
द्वै तनु, जीव एक, हम तुम दोउ, सुख कारन, उपजायो॥

"वैष्णवों ने भगवान् के एक मानवीय रूप की कल्पना कर मानवीय स्थूल प्रेम के आदर्श से अपना प्रेम व्यक्त किया है। उन्होंने जीवात्मा

और परमात्मा को मानवीय आकार देकर उन दोनों के भीतरी संबंध को प्रेमिक-प्रेमिका के आकर्षण के रूप में व्यक्त किया है। किन्तु मधुर रस के सब लक्षणों को व्यक्त करते हुए वैष्णव कवियों की अधिकांश रचनाओं में अश्लीलता का धब्बा लग गया है। इंद्रियों की भाषा के द्वारा अतींद्रिय विषयों की व्याख्या करने में यह अवश्यंभावी है। शृंगार रस के वर्णन में जो-जो कार्य व भाव आजकल अश्लील गिने जाते हैं, वे उस रंग के अंग हैं; उनको छोड़ देने से रस संपूर्णतया परिस्फुट नहीं होता। स्थान-स्थान पर सूर की कविता रुचि-विरुद्ध विवेचित हो सकती है। यथा—

'आजु नन्द नन्दन रंग भरे !
कर सों करज करयो कंचन ज्यों अंबुज उरज धरे ॥' (इत्यादि)

आजका कवि बेचारा कहीं इस प्रकार के अनुल्लेखनीय का उल्लेख कर दे तो वह जाति-बहिष्कृत हो जायगा। कविकुलगुरु ने कुमार-संभव के समग्र अष्टम सर्ग में जो हर-पार्वती का संयोग वर्णन किया है उस की बात तो क्या की जाय ?"

जैसे शृंगार-रस का वैसा मुक्त वर्णन आज औचित्यपूर्ण नहीं जान पड़ता, वही बात वीर-रस के लिए भी लागू है। पहले वीर-रस में रौद्र और बीभत्स का वर्णन अत्यन्त आवश्यक माना जाता था। परन्तु आज वह स्थिति नहीं रही। महात्मा गाँधी के अहिंसक सत्याग्रह के विराट् प्रयोग के बाद हमारी वीर-रस की कल्पना ही बदल गई। ऐसी दशा में क्या हम उसी रस के भरत-प्रणीत मृत-शिशु को बँदरिया की भाँति छाती से लिपटाये बैठे रहें ?

रस-वादी आलोचकों में हम मुख्यतः नंददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी और डा० नगेन्द्र को ले रहे हैं।

१६. नन्ददुलारे वाजपेयी

वाजपेयी जी की आलोचनाओं से परिचय हमें विद्यार्थी-काल से ही हुआ था, जब 'साहित्य-सुषमा' नामक एक निबन्ध-संग्रह के कलन में उन्होंने अपनी उदाराशय और अध्ययन-गंभीर दृष्टि से काम लिया था। नन्ददुलारे पुराने पत्रकार, परीक्षक और अध्यापक हैं। अतः 'माधुरी' या 'कल्याण' के रामचरितमानसांक आदि के सम्पादन के समय से ही आपने अपनी सूक्ष्मदर्शी प्रतिभा का परिचय हिन्दी-संसार को दिया। शान्तिप्रिय द्विवेदी और डा० नगेन्द्र जहाँ काव्य-रचना भी करते हैं, वाजपेयी जी एकमात्र ऐसे हिन्दी आलोचक हैं जिन्होंने आलोचना को छोड़ और कुछ नहीं लिखा। और सबसे आश्चर्य की बात यह है कि वाजपेयी जी पर हिन्दी में निराला जी के 'चाबुक' में एक सुन्दर आशंसात्मक निबन्ध के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं बहुत कम देखने को मिलता है।

जयशंकर 'प्रसाद' पर अपनी विशिष्ट पुस्तक के कारण वाजपेयी जी, रामचन्द्र शुक्ल के बाद उनकी परम्परा का निर्वाह करने वाले आलोचक-प्रवर गिने जाने लगे। शुक्ल जी का आग्रह जहाँ बुद्धिवाद और मर्यादावाद पर था, वाजपेयी जी रसवाद पर निर्भर रहने के कारण, या और स्पष्ट करूँ तो अन्तःप्रज्ञा (इंट्यूशन) पर अधिक निर्भर रहने के कारण सहज 'निराला' से नरोत्तम नागर तक के सब प्रकार के नूतन प्रयोगवादी साहित्य के व्याख्याकार और अनुमोदक बन गये। कुछ काल तक वे प्रगतिवादियों के साथ भी मानो चल रहे हैं ऐसा लगा, परन्तु फलतः उनकी प्रवृत्ति रोमैंटिक होने के कारण वह बात अधिक दिन तक न चल सकी। प्रगतिवाद का आंदोलन अधिकाधिक ध्वंस की ओर ज्यों-ज्यों बढ़ने लगा, नन्ददुलारे जी वैदिक काल के सद्गुणों के पुनरुज्जीवन में विश्वास करने लगे, जैसा कि उनके देवघर हिन्दी-विद्यापीठ के सन् १९५१ वाले भाषण से स्पष्ट है। यह भाषण उनके 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' लेख-संग्रह में ग्रथित है।

नन्ददुलारे जी मूलतः व्याख्याकार हैं। अतः जब आलोचक पर

व्याख्याकार अधिक हावी हो जाता है, वैयक्तिक रुचि-अरुचि अवश्यमेव उसमें बाधा देती है। वाल्टर पेटर आदि 'एस्थीट' आलोचकों के समय यानी बीसवीं सदी के आरम्भ में अंगरेज़ी-साहित्य की भी यही दशा थी। मन उनका खुला है, अतः नवीनतम प्रवृत्तियों को वे खुले मन से स्वीकार अवश्य करते हैं। परन्तु उसके साथ-साथ जो ज़िम्मेदारियाँ आ जाती हैं, उन्हें पूरी तरह वे नहीं लेना चाहते। अतः प्रसाद, पंत, निराला, जैनेन्द्रकुमार या महादेवी वर्मा पर उनके जो विचार हैं उनका पूर्ण शास्त्रीय विश्लेषण संभव नहीं है। इन सब में से कुछ उनको विशेष प्रिय हैं, कुछ नहीं हैं। यह बतलाना कि उनका अमुक दृष्टिकोण पर आग्रह है, कठिन है। क्योंकि उनका स्वयं का दृष्टिकोण परिवर्तित होता रहा है।

सन् १९४० में पूना के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में साहित्य-परिषद से जो उन्होंने अध्यक्षीय भाषण दिया था, उसके परिच्छेद-परिच्छेद का प्रत्यालोचन 'साहित्य-संदेश' में किया था, जिसका उत्तर भी आपने दिया था। उसी प्रकार से 'साहित्य-संदेश' के उपन्यास-अंक में जैनेन्द्रकुमार पर दो दृष्टिकोण प्रकाशित हुए थे: एक वाजपेयी जी का और एक मेरा। इस बात की चर्चा 'बीसवीं सदी' ग्रन्थ की भूमिका में उन्होंने की है। वैसे 'बीसवीं सदी' उनका सर्वोत्तम ग्रंथ मैं मानता हूँ। उसमें रामचन्द्र शुक्ल पर उनके निबन्धों की श्रेष्ठता की चर्चा मैं इस पुस्तक में पहले भी कर चुका हूँ। 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' उस ग्रन्थ की तुलना में उतना सुगठित नहीं है, इसमें विस्तार के साथ-साथ बिखरन भी अधिक है। उदाहरणार्थ 'कृष्णायन' पर वाजपेयी जी का लेख मेरी समझ में कम आता है।

कुल मिलाकर वाजपेयी जी का हिन्दी आलोचना को दाय बहुत अधिक है। उन्होंने हमारी आलोचना को आगे बढ़ाया है। सहृदय या भावुक की अंतःसंज्ञा को कोरे बुद्धिवाद या शास्त्रीय विवेचना से अधिक महत्व दिया है। परन्तु आज के युग में, जब समीक्षा भी अन्य भौतिक

विज्ञानों की भांति एक परीक्षणीय वस्तु बन गई है, इस अंतःसंज्ञा पर सदा अवलंबित रहना बहुत हितावह या उचित भी नहीं।

इसका मूल कारण यह है कि योरुप की साहित्य-समीक्षा में क्रोचे के अंतःसंज्ञावाद की दशा हम देख चुके हैं। अंतःसंज्ञावाद रसवाद का ही एक दूसरा नाम है। यह व्यक्तिवादी दर्शन है। परन्तु आज के युगीन प्रश्न समाजचेतना से अधिकाधिक घुलमिल गये हैं। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों का तो यहाँ तक दावा है कि हमारी व्यक्तिचेतना समाजचेतना से निर्णीत होती है। ऐसे समय नवीनतम साहित्य की प्रवृत्तियों का सहृदयतापूर्ण रस-ग्रहण करने में वाजपेयी जी उसी प्रकार से अक्षम हुए जैसे छायावादियों की रहस्यात्मक भावना को समझने में पं० रामचन्द्र शुक्ल। छायावाद के उठते हुए रोमान्सवाद की, सांकृतिक पुनरुज्जीवन के उषाकाल की अरुणाभा वाजपेयी जी अपनी आलोचना में लाये अवश्य, परन्तु उठते हुए युग-सत्य के सूर्य की प्रखरता जैसे उन्हें असह्य हुई और वे अपने नीड में लौट गये। प्रयोगवादी कविता पर उनके आक्षेप इसी कारण से चिंत्य और अंग्रेज़ी की आधुनिक यानी ईलियटोत्तर आलोचना पढ़ने वाले को वे आक्षेप बहुत बचकाने जान पड़ते हैं।

परिणाम यह हुआ कि सब व्यक्तिवादी आदर्शवादियों की भांति वाजपेयी जी एक प्रकार के आदर्शवाद के विरोध में दूसरे प्रकार का आदर्शवाद सामने लाये, और अंततः स्वयं वैदिक अध्यात्मवाद के ओर एक कुहासे में अपनी समीक्षा की दृष्टि को जैसे अनजाने में अस्पष्ट बनाते हुए शैली-रीति-अलंकरण की आलोचना में उलझ गये। इसी बात को गुलाबराय जी ने 'साहित्य-संदेश' में प्रकाशित 'आधुनिक साहित्य' पर अपनी सम्मति में कहा था।

१७. शान्तिप्रिय द्विवेदी

शान्तिप्रिय मूलतः एक भावुक व्यक्ति हैं। अतः उन्हें सुकुमार और सुकोमल अधिक प्रिय है। आज के युग में भावुकता को जब ठेस

पहुँचती है तब शान्तिप्रिय जी दिग्भ्रमित हो घबड़ा उठते हैं। शान्ति-प्रिय जी का ढंग छायावादी आलोचकों की तरह है। वे महादेवी के बारे में लिखते-लिखते पंत जी के बारे में लिखने लगते हैं। 'हमारे साहित्य-निर्माता' नामक उनकी प्रथम और बहु-आवृत्तिभूषित पुस्तक में से कुछ बानगियाँ लीजिये, जिनमें उपमाओं की अनोखी छटा है।

(१) "सन्ध्या के आकाश में जिस प्रकार एक तारिका के उदित होते ही क्रमशः अन्य तारिकाओं के दर्शन होने लगते हैं, उसी प्रकार महादेवी जी के बाद अन्य कवयित्रिओं के भी दर्शन मिलते जाते हैं।" (पृ० १९५) "महादेवी ने भी अपने हृदय की व्यथाओं को कहीं-कहीं भाषा की रंगीन साड़ी पहना दी है, मानो पावस की नीलिमा को इन्द्रधनुष से शोभित कर दिया है।" (पृ० १९९) "संगीत में टेक की तरह वे अपने वार्त्तालाप के प्रवाह को हास्य से मनोरंजक बना देती हैं।" (पृ० २००) (महादेवी वर्मा)

(२) "हां, कविता की सीता राजनीति को भी जीवन की भिक्षा दे सकती है, परन्तु अपनी कला-मर्यादा की रेखा के भीतर रहकर ही; इसके बाहर निकलते ही राजनीति कविता को हर ले जायगी और आज सचमुच राजनीति कविता को हरे लिए जा रही है। कलाकारों को इसकी रक्षा का ध्यान रखना है।" (पृ० १५५ : माखनलाल चतुर्वेदी)

(३) "बाह्य प्रयत्न हमें जीवन के आयतन के लिए नवीन समाज दे सकते हैं, किंतु साँस तो हम भीतर से ही ले सकते हैं। राजनीति में गांधीवाद और साहित्य में छायावाद वही भीतर (अभ्यन्तर) की साँस हैं।" (पृ० १०१ : जयशंकर प्रसाद)

यों सूक्तियों में अपनी बात कहने की बान शान्तिप्रिय जी को पहले से है। वे 'हिमानी' के कवि भी तो रहे हैं। इसके बाद शान्तिप्रिय जी ने एक के बाद एक पुस्तकें लिखीं : 'कवि और काव्य', 'युग और साहित्य', 'साहित्यिकी' और सबसे अन्तिम 'ज्योति-विहग'। इन आलोचना-

ग्रंथों के अलावा 'पथ-चिह्न' उनके लघु निबंधों का या आत्म-संस्मरणों का एक संग्रह और है, जो उनकी शैली को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करता है।

शान्तिप्रिय द्विवेदी छायावादी कविता की आत्मा को उसी तरह पकड़ पाये हैं जैसे नन्ददुलारे वाजपेयी रोमांटिक युग के साहित्यशास्त्र को। अतः सुमित्रानन्दन पन्त पर उन्होंने सबसे अधिक लिखा है और उसमें आशंसा का भाव ही सर्वाधिक है। जहाँ कोई भी आलोचक तटस्थता खो देता है, यानी गुणों के साथ-साथ दोष भी देखने की अपनी दृष्टि को भूल जाता है, तो वहाँ वह आलोचक न रहकर गद्य-काव्य लेखक हो जाता है। शान्तिप्रिय जी की भी बहुत अंशों में यही दशा है। वे किशोर पाठकों को अपनी मधुर, मोहक शब्दावली से भुलावे में डाल सकते हैं परन्तु परिपक्व प्रौढ़ पाठक को कई बार उनकी रचनाएं पढ़ने पर कुतूहल होगा और कभी-कभी हँसी भी आवेगी।

परन्तु उनके हक़ में जो बात कही जा सकती है वह यह है कि रसवादी आलोचकों में यह दावा भी उन्होंने कभी नहीं किया कि उनकी आलोचना शास्त्रीय है या वैज्ञानिक है। यह दावा सबसे अधिक नगेन्द्र ने और उनसे कम नन्ददुलारे वाजपेयी जी ने किया है। जब एक अशास्त्रीय वस्तु को शास्त्रीय कहकर घोषित किया जाय, तभी सबसे अधिक उसकी प्रतिक्रिया होती है। मैं उदाहरण देकर समझा दूँ। कागज़ के फूल सच्चे डाल के फूल हो नहीं सकते। परन्तु जो फूल ही न बना, किंतु कली ही बनकर रह गया, उस पर आक्रोश व्यर्थ है। शान्तिप्रिय जी और उनके आराध्य सुमित्रानन्दन पन्त इस प्राकृतिक सत्य के प्रमाण हैं कि वे दोनों कली की अवस्था में ही यानी अविकच और अस्फुट अवस्थाओं में ही अपना सौरभ बिखेरते रहे हैं। परिणाम यह हुआ है कि वह अविकसन मनोविज्ञान की भाषा में एक आदत, एक 'फिक्सेशन' बन गया। अतः ही चीज को अति सरलीकृत, अति बाल-सुलभ भाव से ग्रहण करने की शान्तिप्रिय जी की प्रवृत्ति

हो गयी है। वे प्रतिभा के कणमात्र से चकित और स्तम्भित हो जाते हैं। वहीं ठिठककर उस चमकीले कण को प्लेटिनम, रेडियम और युरेनियम कहने लगते हैं। सब इतिहास का सत्य, ज़ोर से आनेवाली घटना-घटाटोप की आंधी वे नज़र-अन्दाज़ कर देते हैं। हिन्दी के सभी आलोचकों में इतिहास और ऐतिहासिक विचार-प्रवाहों की शक्ति से अनभिज्ञ और निरीह श्री शान्तिप्रिय जी हैं। अतः उनकी समीक्षा की तुला के केवल दो पलड़े रह गये हैं: एक गांधी, दूसरे रवीन्द्र। और दोनों के बीच में धर्मकांटे की तरह सुमित्रानन्दन पन्त हैं।

परन्तु इतने सब वैयक्तिक रुचि के आग्रह के बाद शान्तिप्रिय द्विवेदी की आलोचना का हिन्दी-समीक्षा में योग भुलाया नहीं जा सकता। मन की निश्छल सहज-ग्राह्यता के कारण यशपाल के साहित्य का रस भी वे उतनी ही ललक के साथ उपलब्ध कर सके हैं। प्रगतिवादी आलोचक प्रकाशचन्द्र गुप्त ने 'नया हिंदी साहित्य' में उनकी प्रशंसा में लेख लिखा है और शमशेरबहादुर सिंह ने अपनी आलोचना-पुस्तक 'दो अब' उन्हें अर्पित की है। साहित्य में ऐसा बहुत कम बार होता है कि वस्तु और विधान एक ही कोटि के हों। जहाँ वस्तु अधिक सघन होती है, शैली के बन्धन टूट जाते हैं; जहां वस्तु विरल होती है, शैली अधिक सुन्दर होती जाती है। शान्तिप्रिय जी द्विवेदी की शैली बहुत प्रसन्न और मनोहारिणी है। उसमें गद्यकाव्य के से गुण हैं। परन्तु बहुत सा पढ़ जाने के बाद भी आपको लगेगा कि इससे आनन्द तो हुआ, परन्तु आप ज्ञान की दृष्टि से शायद वहीं के वहीं खड़े हैं। आलोचना आपके ज्ञान को सदा बढ़ावे ही, ऐसा आवश्यक नहीं है, परन्तु कम से कम आपकी रुचि का संस्कार तो उससे अपेक्षित है। शान्तिप्रिय जी की आलोचना भावुक को अधिक भावुक, संवेदनशील को और संवेदनशील बनाने की क्षमता रखती है। रसवादी आलोचकों में शान्तिप्रिय द्विवेदी का मन सबसे कम पूर्वग्रहदूषित और खुला हुआ है। उन्होंने नगेन्द्र की भांति रसवाद को शाश्वतवाद बनाकर 'शिलाकृत' नहीं कर दिया है।

शान्तिप्रिय जी आलोचना से व्यक्ति-निबन्ध अधिक अच्छे लिख सकते हैं। उनकी रुचि परिष्कृत और सूक्ष्म-सौन्दर्यदर्शिनी प्रतिभा से युक्त है। अतः उनके आरम्भिक ग्रंथ यथा 'कवि और काव्य' अधिक रोचक बन पड़े हैं। 'युग और साहित्य' आदि के बाद तो वे 'युटोपिया' के चक्कर में पड़ गये जान पड़ते हैं। समन्वाय की दृष्टिमात्र से समन्वय नहीं हो जाता; प्रकृति का नियम अधिक कठोर है, वहां विरोधों के अविरोध से विकास होता है। इस अबाधित नियम को भुला देने से शान्तिप्रिय जी, हिन्दी समीक्षा में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रथम उद्गाता होकर भी, सौंदर्यदर्शी मात्र बने रहे हैं। सौन्दर्य अकेले नहीं बढ़ता, उसके पीछे शक्ति और शील का संयोग भी आवश्यक होता है, यह वे भूल गये। और नारंगी के रंग को या गोलाई को या खट्ठे-मीठेपन को जैसे नारंगी से अलग करके नहीं सोचा जा सकता, वैसे केवल अमूर्त और अतीन्द्रिय की चर्चा आधुनिक आलोचना में नहीं हो सकती, वह प्राथमिक गुणों की उद्धरणी मात्र होगी। वही बात 'ज्योतिविहग' में हो गयी है।

वैसे पैनी सूक्ष होने के कारण वे कभी-कभी बहुत पते की या मार्के की बात कह जाते हैं। सूत्र रूप में बात कहने की उनकी हिन्दी समीक्षा शैली को देन अप्रतिम है। परन्तु आलोचना केवल सुन्दर-सुन्दर वाक्य और सूत्र नहीं है, वह कुछ और श्रम और अध्ययन साध्य वस्तु है। शान्तिप्रिय जी उसका निषेध करके केवल सहज, मधु-ग्रहण तक सीमित रहना चाहते हैं।

१८. डा० नगेन्द्र

'विचार और अनुभूति' के लेखक डॉ० नगेन्द्र की तीन नयी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं—विचार और विवेचन, रीतिकाव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता। इनमें पहली में तेरह निबन्ध, दूसरी में रीतिकाव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन तथा पांचों साहित्य-शास्त्र के संप्रदायों की विस्तृत चर्चा है, तीसरी में देव का जीवन-चरित,

देवरचित ग्रंथ, देव की कला तथा देव पर और देव के प्रभावों को व्याख्या है। दूसरी और तीसरी पुस्तकें नगेन्द्र जी के डाक्टरेट के प्रबन्ध हैं और उनमें परिश्रम भो अधिक है। तीनों पुस्तकें पढ़कर मुझे बहुत कुछ जानकारी मिली; एक सुपठित, रसज्ञ आलोचक की प्रसन्न निबंध-कला के वाचन का आनन्द मिला; परन्तु सौन्दर्यशास्त्र के चिरंतन प्रश्नों का जहाँ तक सम्बन्ध है, मेरा समाधान बहुत कम हुआ। सम्भव है इसका कारण लेखक के व्यक्तिनिष्ठ, अभिजात, विशुद्ध-सौन्दर्यवादी दृष्टि-कोण में मौलिक मतभेद हो।

'विचार और विवेचन' के एक-एक निबन्ध को लेकर मैं अपनी बात स्पष्ट करूँ। भूमिका में नगेन्द्र अपने दृष्टिकोण को 'रसात्मक' कहते हैं। स्पष्ट है कि रस की स्थिति केवल 'आत्म' से संभव नहीं। उसमें आत्म-अनात्म (सब्जेक्ट-आब्जेक्ट) की पारस्परिकता आवश्यक है। पहिले निबन्ध 'भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र' में नगेन्द्र वैदिक कवियों में वाणी की शक्ति और श्रृङ्गार के प्रति सचेत ज्ञान मानते हैं। एक ओर वे वाणी को दिव्य और अलौकिक स्रोत से उद्भूत, ब्रह्मानन्द-सहोदर मानते थे—यह भी कहा गया है। आदि-कवि के प्रथम अनुष्टुप् पर भी नगेन्द्र अपनी ही मान्यताएँ आरोपित करते हैं कि काव्य की मूल प्रेरणा भावातिरेक है, इत्यादि। क्या गीति-काव्य के विषय में लागू होने वाले ये उनके मत महाकाव्यों पर भी घटित हो सकते हैं? वहाँ तो आत्मा-भिव्यक्ति ही काव्य का मूल रूप स्पष्टतः नहीं है। इससे उलटे नगेन्द्र यूनानी काव्य की मूल प्रेरणा दैवी प्रतिभा मानते हैं और वहाँ भी अपना वही दंडक लगाते हैं कि कविता का प्रयोजन आनन्द है, शिक्षण नहीं। एस्काईलीस के नाटकों में जो बार-बार निर्मम नियति का उल्लेख आया है, क्या वह केवल आनन्द-दान के लिए है?

यहाँ से नगेन्द्र जिन भारतीय और पश्चिमी काव्यशास्त्र के समान और विरोधी तत्वों की विवेचना पर आये हैं वे तो एकदम तर्काभास से हैं। वे कहते हैं, दोनों काव्यों का दृष्टिकोण ऐहिक है। (तभी तो इतने

चमत्कार प्राचीन काव्य में भरे पड़े हैं!) अन्तर केवल इस बात का बताया गया है कि भारत में कविता कला नहीं मानी जाती थी, यूनान में वह कला थी। भारत में आलोचक की दृष्टि कविता पर अधिक थी, कवि पर नहीं (अर्थात् 'आत्म' पर नहीं—वस्तु पर)। परन्तु पश्चिमी आलोचना से प्रभावित नगेन्द्र 'साहित्य में आत्माभिव्यक्ति' और 'रस का स्वरूप' (प्रतीक में पहले प्रकाशित) निबन्धों में 'आत्म' पर ही अधिक प्राधान्य देते हैं। यहाँ तक कि जब विदेशी आलोचना भी टी० एस० इलियट आदि में अधिक वस्तु-परक, निर्वैयक्तिक और अनासक्त हो चली है तो नगेन्द्र उसका भी विरोध करते हैं। नगेन्द्र की स्थिति उस मधु-लुब्ध मधुमक्षिका की-सी है जिसकी पाँखें शहद में इतनी भीग गई हैं कि वह उड़ नहीं सकती और फूल, शहद, अपने पाँख, सुरभि सबको एकाकार ही मान लेती है। इसीलिए वह सुख और आनन्द में भेद नहीं करती। पृष्ठ २० पर वे हिडॉनिस्ट (भोगवादी या सुखवादी) को आनन्दवादी कहते हैं। रिचर्ड्स से प्रभावित होकर वे आनन्द की छटाएँ व्यक्त करते हैं: शारीरिक या ऐंद्रिक संवेदनाजन्य, मानसिक—काल्पनिक, आत्मिक आदि। परन्तु संवेदना और प्रत्यभिज्ञा में केवल छटा का नहीं वरन् संगठन का भी भेद है, यह नगेन्द्र सहज भूल जाते हैं।

परिणामतः नगेन्द्र कलाकार को एक विशिष्ट गुणवाला अभिजात, दुर्मिल, अलौकिक प्रतिभासंपन्न, व्युत्पन्न, साधारण मानवों से ऊपर एक व्यक्ति मानते हैं। यह नीत्शे की वैचारिक श्रीमन्तता (एरिस्टाक्रसी आफ़ आइडियाज़) का पोषक विचार है। 'साधारणीकरण' निबन्ध के अन्त में वे लिखते हैं—"यह शक्ति उसी व्यक्ति में होगी जिसकी भाव-शक्ति विशेषरूप से समृद्ध हो। ऐसा ही व्यक्ति भाषा का भावमय प्रयोग कर सकता है।...ऐसा ही व्यक्ति कवि है।" और 'आत्माभिव्यक्ति' में—"मुझ जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे कुछ और पूछना नहीं रह जाता।" (पृ० ४४)। मुझे, कोई व्यक्ति जीवन का लक्ष्य आनन्द ही माने इसमें कोई आपत्ति नहीं है;

परन्तु फिर वह किन मूल्यों से रीतिकाल की विलास-प्रवणता की बुराई कर सकता है ? (पृ० ४८-४६ पर 'शृंगार रस' निबन्ध में)। यदि किसी आदर्शवाद को लेकर चलना है तो सकाम आनन्द का आदर्श से कोई मेल नहीं है ?

यही सैद्धांतिक कठिनाई उनकी अन्य सभी आलोचनाओं में मूल वस्तु तक नहीं पहुँचने देती। एक ओर पृ० ५७ पर वे कहते हैं कि "लेखक में साधारण व्यक्ति की अपेक्षा प्रतिभा अधिक है, अतएव उसका अनुपात भी अधिक है।......समाज का ऋण-शोध करना उसका धर्म है (आदि) तर्क नैतिक हैं, साहित्यिक नहीं। उपर्युक्त कर्तव्य-निर्माण सामाजिक का है, लेखक का नहीं।" नगेन्द्र के अनुसार, "नैतिक और सामाजिक मूल्य से स्वतन्त्र लेखन का एक महत्व है, जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।" अपनी स्थूल बुद्धि स्वीकृत करके मैं निवेदन करना चाहता हूं कि लेखक भी एक सामाजिक व्यक्ति है। उससे उठकर अलग उसका रहना निरा कल्पनालोक में संभव है। नगेन्द्र के अनुसार युग के मूल्य सामाजिक-राजनैतिक-नैतिक हैं; युग-युग के मूल्य मानवीय हैं। 'निश्छल आत्माभिव्यक्ति' ही मानवीय होती है। वह सदा श्रेष्ठतर है। यहाँ 'नैतिक' शब्द के नगेन्द्र के अनुसार क्या अर्थ हैं, मैं नहीं समझ सका। क्या मानवीयता कोई नैतिकता नहीं ? क्या वह अ-सामाजिक है ? और क्या वह युगीन, क्षण-खंडों से बंधी हो जाने से कम मानवीय हो जाती है ? इसी कारण से टी० एस० इलियट का काव्यगत अव्यक्तिवाद इस संग्रह का सबसे कमज़ोर निबन्ध है। नगेन्द्र 'इलियट की कला-सृजन की कल्पना' को एक ओर 'सर्वथा अवैज्ञानिक' कहते हैं (पृ० ६८) और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "जहाँ चरम सिद्धान्तों का विवेचन किया जायगा वहां केवल काव्यशास्त्र ही नहीं जीवन का कोई भी शास्त्र दर्शन मनोविज्ञान को कैसे दूर रख सकता है ?" (पृ० ७०)। यह अन्तिम वाक्य नगेन्द्र के इसके पूर्व और पश्चात् लिखे सभी वाक्यों का स्वयमेव एक उत्तम खंडन है।

इस संग्रह का सबसे अच्छा निबन्ध है हिन्दी में हास्य की कमी (एक संवाद)। 'विचार और अनुभूति' में भी ऐसे एक दो निबन्ध बड़े सुन्दर थे जिनमें स्वप्न में उपन्यासकार अपनी सफ़ाई देते थे और आलोचकों की आलोचना की गई थी। नगेन्द्र वस्तुतः इसी प्रसन्न शैली के लेखक हैं। उन्हें दार्शनिक शब्दावली वाली काव्य-शास्त्र-मीमांसा की वैज्ञानिक विवेचना का मुखौटा नहीं पहनना चाहिये, क्योंकि वहाँ रसज्ञता काफी नहीं, बहुत अधिक सूक्ष्मता और पारिभाषिक शब्दों के सही प्रयोग की आवश्यकता होती है। उतना गंभीर टीम-टाम धारण कर अंततः नगेन्द्र कह बैठते हैं—"निरछल आत्माभिव्यक्ति के दो रूप हैं : एक निश्छल, दूसरी आत्म की अभिव्यक्ति।" ऐसी निरी शब्दों के लिए प्रतिशब्द वाली प्राध्यापकी मनोवृत्ति का परिचय दिया है। इस प्रकार हम बजाय आलोचना के निरे पर्यायों (प्लेटिट्यू् स) में भटकते हैं। विचार क्षेत्र में इसे विवर्त्तवाद कहते हैं।

आगे श्यामसुन्दर दास, प्रेमचन्द, पन्त, दिनकर, राहुल आदि पर कुछ बहुत उपयोगी निबन्ध हैं। साहित्य के विद्यार्थी के लिए प्रेमचन्द और राहुल वाले लेख बहुत ही अच्छे हैं। पन्त के नवीन जीवन-दर्शन में यदि अरविंद के दर्शन का भी उल्लेख अधिक होता तो और अच्छा होता। अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी की प्रयोगवादी कविता' पर मुझे बहुत आपत्ति है, क्योंकि नगेन्द्र ने प्रयोगशील कविता के पीछे की मनोभूमिका को नहीं समझा है। वे जानबूझकर जीवन की समग्रता को ग्रहण नहीं करना चाहते, केवल सुन्दर मसृण-मृदुल-मधुर पक्ष को ही देखना चाहते हैं। उनके मत से नवीन कविता में रसहीनता या रसाभास के कारण हैं "रागात्मकता की अपेक्षा बुद्धिगत सम्बन्ध, साधारणीकरण का त्याग और उपचेतन मन के अनुभव खंडों के यथावत् चित्रण का आग्रह तथा काव्य के उपकरणों एवं भाषा का एकान्त वैज्ञानिक और अनर्गल प्रयोग'''तथा नूतनता का सर्वग्राही मोह !" (पृ० १४७)। ये सब के सब आरोप गलत हैं। यदि बुद्धिगत सम्बन्ध उत्तम काव्य को निर्मित नहीं

कर सकते होते तो देव और उनकी कविता में पृ० २५० पर नगेन्द्र क्यों लिखते—"कवि के लिए शक्ति के उपरान्त सबसे अधिक स्पृहणीय गुण साहित्यिक व्युत्पन्नता है। वास्तव में कवि की शक्ति का संस्कार अपने प्राचीन तथा समसामयिक साहित्य के अध्ययन और मनन से होता है।" और पृ० १६५ पर "केशव ने जहाँ अपने पांडित्य और कल्पना-वैभव के आधार पर रीतिकाल की अलंकरण-सामग्री की श्रीवृद्धि की है।" यदि नगेन्द्र के विलक्षण साधारणीकरण का ही आधार सदा रखा जाता तो विश्व में कोई मौलिक, असाधारण रचना ही नहीं होती। नगेन्द्र ने एक ओर उपचेतन की व्यंजना को ग़लत बतलाते हुए देव की कविता की प्रशंसा में उनकी प्रतीक-योजना तीन प्रकार की बतलाई है: 'सृजन के प्रतीक, नाश के प्रतीक, काम के प्रतीक'। (पृ० १६४)।

एक ओर तो नगेन्द्र ने आज के युग को कुंठा और यौन विकृतियों का युग कहा है, दूसरी ओर रीति-काल के खुले शृंगार रस-रास को नैतिक ह्रास भी कहा है। एक ओर रीति-काल के रसीलेपन को 'रीति-काव्य की भूमिका' में (पृष्ठ २६ पर) 'स्त्रैण शृंगारिकता' कहा है, दूसरी ओर अपने दृष्टिकोण को रसात्मक कहते हैं। यह सब तार्किक परस्पर-विरोध छोड़ भी दें फिर भी नगेन्द्र आखिर सब मिलाकर क्या कहना चाहते हैं? वे सामान्य जन की उपेक्षा कर सामान्यीकरण (मीडिओक्रसी) को पुनःप्रतिष्ठित करते हैं। यदि शृंगार आज का कुंठित है तो चलो उसके तर्कान्त रसल की भांति यौन स्वेच्छाचार का, मुक्त मैथुन का समर्थन करो। नगेन्द्र को वहां लोक-मंगल का नैतिक आदर्श भंग होता हुआ दीखेगा। फिर क्या आज की स्थिति वांछनीय है? नहीं, वह भी पन्त के शब्दों में—'धिक् रे मानव! तू अंकित कर सकता नहीं निश्छल चुंबन।' वस्तुतः मुझे आपत्ति इस बात पर है कि नगेन्द्र एता-दृशत्व के पोषक हैं। वे सुधारवाद को बुरा कहते हैं, वे क्रांति और प्रगति को विकारग्रस्त बतलाते हैं; रीतिकालीन सामंती विलासिता भी बुरी थी। फिर अच्छा क्या है? उसका उत्तर देना नगेन्द्र ज़रूरी नहीं

समझते, क्योंकि वह साहित्य के क्षेत्र से बाहर की बात हो जायगी।

पृ० ३८ पर नगेन्द्र कहते हैं—जीवन की एक प्रमुख प्रवृत्ति है काम-मिलनेच्छा! परन्तु वैदिक वाणी है—'सतोविदं बन्धुमसति निरविंदन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा', और आधुनिकतम मनोवैज्ञानिक भी काम को केवल 'सेल्फ-रिकग्निशन' ही मानते हैं। ऐसी दशा में नगेन्द्र अभी फ्रायड के समय के मनोविज्ञान के आसपास ही मँडरा रहे हैं, जबकि मनोविज्ञान शास्त्र बहुत आगे बढ़ चुका है।

अन्त में मैं नगेन्द्र की शैली की प्रशंसा करता हूँ। आचार्य शुक्ल के बाद ऐसी गहन शैली आलोचना में हिन्दी में उन्हीं की है। शैली का गहन होना विषयानुसार स्वाभाविक ही है। परन्तु गहनता के साथ ही वह कहीं भी उबा देनेवाली, कर्कश या क्लिष्ट-कर्णकटु नहीं होती (जैसी मेरी लेखन शैली कभी-कभी हो जाती है।) दूसरी अच्छी चीज़ है देवविषयक सामग्री का इतना एक साथ एकत्रित करना। हिंदी में देवविषयक आलोचना ग्रंथों में नगेन्द्र की पुस्तक निस्संदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होगी। सिद्धांतों में तो मतभेद के लिए स्थान रहता ही है। मैंने अपने दृष्टिकोण से नगेन्द्र के काव्य-शास्त्र-विषयक मतों की आलोचना की है। परन्तु नगेन्द्र के पांडित्य, अध्यवसाय और सुदीर्घ परिश्रम की मैं पुनः भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूं। वह इसलिए और भी कि आजकल डाक्टरेट के थीसिसों में पानी मिला दूध ही ज्यादह होता है।

(इ) मनोवैज्ञानिक आलोचक

इस कोटि के अन्तर्गत वे सब आलोचक आते हैं जिन्होंने मनोविज्ञान को अपनी आलोचना का प्रधान आधार बनाया। वैसे मोके-बेमौके मनोविज्ञान की दुहाई और भी आलोचकों ने दी अवश्य है परन्तु उन्हें इस अर्थ में मनोविज्ञानवादी आलोचक नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने मनोविज्ञान को साधनमात्र माना है, साध्य नहीं। मेरे मत से हिन्दी में मनोवैज्ञानिक

आलोचकों की परम्परा में इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय, डा० देवराज, नलिनविलोचन शर्मा आदि आते हैं। इन सबकी विशेषता यह है कि वे आलोचक के अतिरिक्त कवि और उपन्यासकार भी हैं।

१६. इलाचन्द्र जोशी

इलाचन्द्र जोशी मुख्यतः पत्रकार, सम्पादक, उपन्यासकार, कहानी-लेखक और 'विजनवती' के कवि के नाते विख्यात हैं। साथ ही 'साहित्य-सर्जना' और 'विवेचना' में उनके समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह भी प्रकाशित हुआ था। पाश्चात्य मनोविश्लेषणशास्त्रियों का अध्ययन इलाचन्द्र जोशी जी ने बहुत किया है और फ्रांस के आरम्भिक प्रकृतिवादियों की भांति अपनी कथाओं और उपन्यासों में भी मनुष्य की ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों को खुले, मुक्त और अनिर्बन्ध छोड़ने का समर्थन भी। अतः साहित्य में प्रवृत्तियों के दमन से जो समस्याएं निर्मित होती हैं, जो कुण्ठा और गतिरोध उत्पन्न होता है, उसका पूरा भान इलाचन्द्र जी को है। विदेशी साहित्य में विशेषतः गोएटे के विराटवाद से और स्वदेशी साहित्य में बंगला से प्रभावित होने के कारण इलाचन्द्र जोशी एक प्रकार के 'निओ-रोमैंटिक' हैं। 'निओ-रोमैंटिक' शब्द मैं उस अर्थ में प्रयुक्त कर रहा हूं जिस अर्थ में विदेशी दर्शन में नीत्शे और शौपेनहाउर के लिए वह प्रयुक्त किया जाता था। 'विजनवती' की भूमिका के काल से ही स्वप्न और कलाप्रणयन की समानता के विषय में वे आश्वस्त थे। परन्तु मनोविज्ञान की भाषा में परपीडन और स्वपीडन के दो मार्गों में से एक के चुनाव का जहाँ प्रश्न आता है, जैनेन्द्रकुमार और अज्ञेय ने 'व्यथा का दर्शन' अपनाया (जो कि यह आक्षेप लगाने वाले नरोत्तम नागर की रचनाओं में वह कुछ कम नहीं है) तो इलाचन्द्र जोशी और उन्हीं के स्कूल के अन्य आलोचकों ने प्रथम मार्ग को उचित समझा। यह बात मार्के की है कि आरम्भ में जोशी-बन्धु निराला के बड़े कटु आलोचक थे, और निराला ने इस विषय पर 'कला के विरह में जोशी-बन्धु' नामक

सदीर्घ लेख भी लिखा था—परन्तु दोनों के मार्ग भिन्न होने पर भी शायद गन्तव्य एक ही था। दोनों भारतीय संस्कृति की महानता के प्रशंसक, आधुनिक प्रगतिवादी दृष्टिकोण के आलोचक होने पर भी पुनः उसके साथ चलने को उत्सुक तथा विज्ञान की अपेक्षा मनोविकार और मनः शक्ति को अधिक मानने वाले हैं।

अब इन मनोवैज्ञानिक आलोचकों में अन्तर इतना ही है कि इलाचन्द्र जी आरम्भिक मनोविज्ञान यानी 'फैकल्टी साइकौलोजी' के मानने वाले हैं, तो 'अज्ञेय' फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद और बाद में डी० एच० लारेंस-इलियट के प्रभाव में 'हार्मिक साइकौलोजी' को मानने वाले। उससे आगे बढ़कर डाक्टर देवराज एडलर-युंग और उनके बाद के मनोवैज्ञानिकों से प्रभावित हैं। इलाचन्द्र जी का पुराने यानी आरंभिक मनोविज्ञान पर विश्वास के कारण उनका शरच्चन्द्र के प्रति प्रेम, पन्त में अन्तश्चेतनावाद खोजना और उसे आणविक पदार्थविज्ञान के तुल्यबल मानना आदि बातें समझ में आती हैं। इलाचन्द्र जी का फ्रेंच और बँगला साहित्य से प्रेम बार-बार दिखाई देता है और यद्यपि उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण में केन्द्रैक्य का अभाव है, फिर भी प्रगतिवादी आलोचकों (विशेषतः प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा) की जो प्रत्यालोचना उन्होंने की है, वह मनोरंजक और पठनीय है।

वस्तुतः यह सब मनोवैज्ञानिक आलोचक अपने आप में कटे हुए, कई परस्पर-विरोधों के पुंज से, द्वन्द्वपीड़ित हैं। इलाचन्द्र जी में भी ऐसे कई उदाहरण मिल जायेंगे जिनमें लेखक के सर्जक और आलोचक व्यक्तित्व के बीच में अन्तःसंघर्ष स्पष्ट हो उठा है; अतः परस्पर विरोधी विधान भी कई मिलेंगे। मान्यताओं के इस प्रकार के 'निओ-क्लासिकल' (यह शब्द भी मैं पुनः पश्चिमी दार्शनिक इतिहास की शब्दावली में से ले रहा हूँ) रुख के बाद भी इलाचन्द्र जी की आलोचना हिंदी समीक्षा में एक महत्वपूर्ण कड़ी का काम करती है; वह शान्तिप्रिय द्विवेदी से रामविलास शर्मा तक हिंदी समीक्षा की प्रगति के बीच की महत्वपूर्ण

शृंखला है। रोमैंटिक आलोचना के प्रातःकालीन कुहरे से निकल कर हिन्दी आलोचना प्रखर ज्येष्ठ-तपन के मध्यदिन तक पहुँचने से पहले यह मन्ज़िल पार करती है।

२०. अज्ञेय

अज्ञेय का केवल एक आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रह है 'त्रिशंकु'। इस पर विस्तार से मैं 'हंस' में लिख चुका हूँ और बता चुका हूँ कि एक व्यक्तिवादी आतंकवादी जिन परिणामों पर पहुंचता है वे समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकते। और इलियट की ताटस्थ्य-प्रधानता वहां वैसे खण्डित हो जाती है। उसके बाद इधर 'दूसरा सप्तक' की उनकी भूमिका बहुत कुछ विवाद-विषय बनी। परन्तु मनोवैज्ञानिक आलोचकों की श्रेणी में हम उन्हें इसलिए गिनते हैं कि लेखन-प्रक्रिया का मानसिक हेत्वितिहास और कारण-परम्परा का विश्लेषण वे अधिक करते हैं, नैतिक मूल्यों का विचार उतना नहीं। मार्क्सीय चिन्ता का भी उन पर प्रभाव था, किन्तु उससे भी अधिक मानवमात्र की जैविक परम्परा को वैज्ञानिक दृष्टि से देखने के वे आदी हैं। अतः आधुनिक हिंदी साहित्य के समीक्षण में (जैसे 'प्रेमचन्द और परवर्ती उपन्यास' या 'परिस्थिति और साहित्यकार' या 'आधुनिक हिन्दी कविता' आदि लेखों में) वे आर्थिक कारणों की अपेक्षा काम-प्रेरणा और उसकी कुण्ठा का उल्लेख करते हैं। कुण्ठा विकृत है, यह उनकी मान्यता रही है। परन्तु उससे जैसे निस्तार भी नहीं है, ऐसी अगतिकता उनके दृष्टिकोण को रंजित करती है।

इधर उनकी आलोचना-दृष्टि में प्रगतिवादी 'रेजिमेंटशन' के विरुद्ध कलाकार के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का आग्रह और 'केस्लर-सात्र' आदि के विचारों का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे 'आधुनिक योरपीय उपन्यास', 'उपन्यासकार और दृष्टिकोण', 'नदी के द्वीप' आदि लेखों में उनके आलोचक को भी इलाचन्द्र की ही भाँति उनका सर्जक व्यक्तित्व अत्यधिक प्रभावित करता रहा है। और वस्तुतः आलोचक अज्ञेय को

लेखक अज्ञेय से काटकर देखा भी नहीं जा सकता। उनकी आलोचना का एक प्रमुख महत्व यह है कि योरपीय चिंताधारा के आधुनिकतम प्रवाहों को वे हिंदी के निकट लाये हैं। परन्तु साथ ही एक विचारणीय बात यह है कि वह दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण है। अपने युग में अपने मर्यादावादी आग्रह के कारण रामचन्द्र शुक्ल क्रोचे के प्रति अन्याय कर गये; हमें भय है कि इस युग में प्रगतिशील दृष्टिकोण के प्रति अपने पूर्वग्रहों से अज्ञेय भी वही कर रहे हैं। रस की शाश्वत स्थिति से भिन्न वे उसका परिवर्तित रूप, उसकी गत्यात्मकता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु पता नहीं क्यों, साहित्य को केवल साहित्य के मानों से परीचित करने के आग्रह में वे प्रच्छन्न रूप से साहित्य के सामाजिक परिणामों की ओर से उदासीन जान पड़ते हैं।

२१. डाक्टर देवराज

लखनऊ के इस दार्शनिक, कवि, उपन्यासकार और आलोचक की पुस्तक 'साहित्य चिन्ता' की आलोचना करते हुए मैंने लिखा था कि रामचन्द्र शुक्ल, टी० एस० इलियट और इर्विंग बैबिट की आलोचना दृष्टि से प्रभावित श्री देवराज के १७ निबन्धों का यह संग्रह है। जैसा कि स्वयं आलोचक ने बड़ी प्रामाणिकता से स्वीकार किया है, इन निबन्धों में कई बार अपनी पुरानी मान्यताओं को सुधारने या दुहराने की आवश्यकता लेखक को जान पड़ी है। अतः समीक्षक ने उन निबन्धों को पूरा दुबारा लिखने की अपेक्षा अपने मन्तव्य अंत में जोड़ दिये हैं। आत्मालोचन की यह जागरूक पद्धति इस बात की द्योतक है कि लेखक सामाजिक परिवर्तनों के प्रति तथा स्वयं के विकसित अध्ययन के कारण परिवर्तित या विशदतर दृष्टि के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझता है।

अन्तिम दस निबन्धों में तो आलोचना, मानदंड, कलागत सौन्दर्य

और महत्ता, कल्पना, वास्तविकता, साहित्य, संस्कृति, प्रयोग आदि शब्दों की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न है। लेखक अभिजात (क्लासिकल के लिये मराठी में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द) संस्कृत ग्रन्थों का बड़ा विवेक-पूर्ण अध्येता है; पर साथ ही नवयुग की नवीन विचारधाराओं से भी अपने आपको सम्पृक्त रखता है, यह इन निबन्धों से स्पष्ट है। 'आलोचना का अधिकार', 'साहित्य का प्रयोजन' ये निबन्ध हमें ज्यादा अच्छे लगे। "कलागत सौन्दर्य और महत्ता" में कुछ व्याख्या के मोह में मौलिक सिद्धान्त-चर्चा कम हो गयी है और टिप्पणियाँ अधिक। कुल मिलाकर इस प्रारम्भिक खंड में लेखक बोध-तत्त्व के प्रति पर्याप्त जागरूक है। यह हिन्दी समीक्षा को उनका बहुत बड़ा दान है। पृ० १११ पर उन्होंने बहुत सही लिखा है—"मुझे भय है कि उक्त दृष्टियों से परीक्षा करने पर हम रवीन्द्र की कलात्मक संवेदना में जागरूक नैतिक चेतना को नहीं पा सकेंगे। हिन्दी के छायावादी कवियों में भी इस चेतना का अभाव है। रवीन्द्र का काव्य कुछ अधिक धार्मिक है, अधिक मध्ययुगीन; उनका मानववाद प्रायः दार्शनिक-आध्यात्मिक है, नैतिक और ऐहलौकिक नहीं। इसके दूसरे छोर पर हैं प्रगतिवादी जो केवल मार्क्सवाद की जानकारी को साहित्यसृष्टि के लिये पर्याप्त साधन या तैयारी समझते हैं। प्रतिभा-शाली कलाकार वाद-विशेष का अनुशीलन, उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के लिए नहीं करता, उसके लिये सिद्धान्त-विशेष दृष्टि-प्रसार का साधन मात्र होता है।"

इस पुस्तक में सबसे मनोरंजक है 'किरण-संचय' नाम से सात सूक्ति-संग्रह जो ३२ पृष्ठों तक हैं। इनमें कई विचार-सूत्र हैं। नये लेखकों को सलाह देते हुए वे कहते हैं—"आप इस भयंकर भूल से बचने की कोशिश करें कि प्रतिभाशाली को शिक्षण और नियन्त्रण (डिसिप्लिन) की जरूरत नहीं है। यदि प्रतिभाशाली ही अतीत संस्कृतियों के उत्तराधिकार को न सम्भालेगा तो फिर दूसरा कौन सम्भालेगा?" (पृ० १५८)। हमें देवराज जी की यह एक सलाह बहुत

अच्छी लगी, पर उसका टोन कुछ गुरुत्वपूर्ण है जो अच्छा नहीं लगता। क्या देवराज जी अपने आपको इतना इतिकर्तव्य से अथ सम्पूर्ण, वीतकाम, वयोवृद्ध समझने लगे हैं कि बैठे-बैठे सूत्र झाड़ने लगें? अधिक अध्ययन और पौस्तिक ज्ञान का एक बहुत बड़ा खतरा यह है कि वह हमें अकाल वृद्ध बना देता है। मैं स्वयं कुछ-कुछ अपने बारे में यही सोचता हूँ। देवराज जी को इतनी बुजुर्गी की कोई जरूरत नहीं। वे दार्शनिक हैं, जिज्ञासु हैं, पर कृतविद् क्यों अपने को मान लें?

'उर्दू गज़ल के चमत्कार' व्यर्थ का लेख है। वह इस पुस्तक की प्रकृति के साथ 'फिट' नहीं बैठता। आगे के रामचन्द्र शुक्ल, जैनेन्द्र, दिनकर, पन्त, महादेवी, प्रसाद पर लिखे निबन्धों में रामचन्द्र शुक्ल और जैनेन्द्र वाले लेख ही हमें सबसे अच्छे लगे। जैनेन्द्र वाले लेख में उनका आत्म-मन्थन बहुत स्पष्ट हो गया है। जैनेन्द्र की कला पर 'बीसवीं सदी' में नन्ददुलारे वाजपेयी ने जो कुछ लिखा है उसकी तुलना में ये निबन्ध पढ़ने पर लगेगा कि हमारी आलोचना कितनी विकसित हो गयी है। रामचन्द्र शुक्ल और जैनेन्द्र वाले निबन्धों में मैं देवराज जी से सर्वथा सहमत हूँ, यद्यपि शुक्ल जी ने क्रोचे के प्रति जो रिचार्ड्स के समर्थन के आवेश में अन्याय किया था उस पर देवराज जी से मैं कुछ चाहता था।

डा० देवराज का सबसे उत्तम निबन्ध यदि कोई है तो 'प्रयोगशील साहित्य' पर। परन्तु उस पर आरा-सम्मेलन में पढ़ने के लिए भेजे निबंध 'हिन्दी कविता में आधुनिक प्रयोग' लेख में मैंने विस्तार से लिखा है, सो क्यों दुहराऊँ?

यह पुस्तक हिन्दी समीक्षा साहित्य में एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। देवराज जी की यह पुस्तक 'चिन्तामणि' और 'विचार और वितर्क' की कोटि के चिन्तन-प्रेरित निबन्ध हैं। उनमें वह गहन अध्ययन, धैर्य, सन्तुलन और स्पष्टवादिता है जो आधुनिक हिन्दी आलोचकों में बहुत कम होता

जा रहा है। देवराज जी के अगले समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह मैं शीघ्रातिशीघ्र पढ़ना चाहूँगा।

२२. नलिनविलोचन शर्मा

आपकी 'दृष्टिकोण' पुस्तक पर मैंने 'हंस' में लिखा था कि हिन्दी आलोचना क्षेत्र, हिंदी लेखकों और पाठकों के बढ़ते हुए दायरे और अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिवाद की सत्यता के कारण, बराबर बढ़ रहा है। इधर निकले हुए ग्रन्थ 'समाज और साहित्य' (अंचल), 'विचार और अनुभूति' (नगेंद्र), 'विचार और वितर्क' (ह० द्विवेदी), 'मिट्टी की ओर' (दिनकर), 'सिद्धांत और अध्ययन' (गुलाबराय), 'त्रिशंकु' (अज्ञेय) और 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (दोनों भाग) इस कथन के पुष्ट प्रमाण हैं। इन सभी ग्रंथों को हम प्रगतिशील आलोचना न भी कह सकें, तो भी पर्याप्त वैचारिक खाद्य इन्होंने हिंदी पाठक को दिया है। ऐसी ही साहित्य-विषयक सिद्धांत-चर्चा का एक 'दृष्टिकोण' नलिनविलोचन शर्मा की यह सद्यः प्रकाशित पुस्तक प्रस्तुत करती है। बिहार प्रांत में जहाँ बेनीपुरी, राधाकृष्ण जैसे कहानीकार और दिनकर, जानकीवल्लभ, आरसी आदि अनेक सुकवि हैं, वहां हर्ष का विषय है कि एक नवीन और प्राचीन साहित्य-परंपराओं का सम्यगध्ययन करने वाला आलोचक भी अब निकल आया है। दिनकर की आलोचना-पद्धति में 'मिट्टी की ओर' में एक पांडित्यपूर्ण तटस्थता थी, ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर आग्रह था, किन्तु नलिनविलोचन जी में हिन्दी आलोचकों में पाया जानेवाला शुष्क रसग्रहण (हजारीप्रसाद द्विवेदी इसके अपवाद हैं) नहीं, wit भी है, बात कहने का एक खास अंदाज भी है—जो कभी-कभी बहुत ज्यादा उलझा हुआ और चकरीला हो जाता है, और आधुनिक पश्चिमी आलोचना तथा कलाक्षेत्र से घनिष्ठ परिचय भी। इस कारण कभी-कभी वे बड़ी अच्छी बात कह जाते हैं। जैसे :

(१) "साहित्यालोचन में विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना ही असंगत है।" (पृ० ५)

(२) "यदि कलाकार और डाक्टर अपनी ओर से निर्लिप्त हैं तो अपने-अपने ढंग से मनुष्य के शरीर या मन का चित्रण-परीक्षण करने का उन्हें पूरा अधिकार है। पाठकों को तो होना ही चाहिए।" (पृ० १६)

(३) आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बारे में—"स्थितप्रज्ञ आचार्य अतीत के अध्ययन के लिए अधिकारी होते हैं; लड़खड़ाते वर्तमान की गति को दौड़ने और गिरने वाले ही जान सकते हैं, समझ सकते हैं।" (पृ० २३)

(४) "हिंदी में, आँसू पोछने के लिए, अब तो पारसी मंच भी नहीं रह गया।...हिंदी के नाटककार पढ़े जाकर ही संतुष्ट हो गये।...यों तो चलचित्रों के घातक प्रभाव के कारण रंगमंच की दशा, हिंदी-प्रदेश या हिंदुस्तान में ही क्यों, रूस को छोड़कर किसी भी देश में सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।" (पृ० ४१-४२)

(५) "हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि मथुरा-अमरावती के मूर्ति-निर्माताओं के वंशधरों में कोई एप्स्टाइन का प्रतिरूप नहीं है। अजंता-बाग के चित्रकारों के उत्तराधिकारियों में कोई पिकासो और मातिस का समकक्ष नहीं दीख पड़ता, और न बाण और हर्ष जैसे प्रकाण्ड बुद्धिवादी पूर्व-पुरुषों का दावा करने वालों में कोई जेम्स ज्वायस या टी. एस. ईलियट के साथ का साहित्य-स्रष्टा ही है।" (पृ० ७८-७९)

पूरी पुस्तक में पश्चिमी साहित्यकारों, विशेषतः आधुनिकों के उदाहरण अत्यधिक हैं— जैसे 'अंग्रेजी गल्प और भारत' जैसे निबंध, जिनमें नामावलियाँ ही दी गयी हैं, हिंदी पाठकों के उस स्तर की अपेक्षा रखते हैं जिसका इन सब कृतियों से पूर्व-परिचय हो। यह अपेक्षा साहित्यालोचक के नाते वांछनीय नहीं। इस कारण से, 'प्रेमचंद और जैनेंद्र' और 'तुर्गनेव और दास्तावस्की' (जो दोनों लेख 'हंस' में पहिले छप चुके हैं) यह जो दो तुलनात्मक आलोचना पर उत्तम

जा रहा है। देवराज जी के अगले समीक्षात्मक निबन्धों का संग्रह मैं शीघ्रातिशीघ्र पढ़ना चाहूँगा।

२२. नलिनविलोचन शर्मा

आपकी 'दृष्टिकोण' पुस्तक पर मैंने 'हंस' में लिखा था कि हिन्दी आलोचना क्षेत्र, हिंदी लेखकों और पाठकों के बढ़ते हुए दायरे और अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिवाद की सफलता के कारण, बराबर बढ़ रहा है। इधर निकले हुए ग्रन्थ 'समाज और साहित्य' (अंचल), 'विचार और अनूभूति' (नगेंद्र), 'विचार और वितर्क' (ह० द्विवेदी). 'मिट्टी की ओर' (दिनकर), 'सिद्धांत और अध्ययन' (गुलाबराय), 'त्रिशंकु' (अज्ञेय) और 'आधुनिक हिंदी साहित्य' (दोनों भाग) इस कथन के पुष्ट प्रमाण हैं। इन सभी ग्रंथों को हम प्रगतिशील आलोचना न भी कह सकें, तो भी पर्याप्त वैचारिक खाद्य इन्होंने हिंदी पाठक को दिया है। ऐसी ही साहित्य-विषयक सिद्धांत-चर्चा का एक 'दृष्टिकोण' नलिनविलोचन शर्मा की यह सद्यः प्रकाशित पुस्तक प्रस्तुत करती है। बिहार प्रांत में जहाँ बेनीपुरी, राधाकृष्ण जैसे कहानीकार और दिनकर, जानकीवल्लभ, आरसी आदि अनेक सुकवि हैं, वहाँ हर्ष का विषय है कि एक नवीन और प्राचीन साहित्य-परंपराओं का सम्यगध्ययन करने वाला आलोचक भी अब निकल आया है। दिनकर की आलोचना-पद्धति में 'मिट्टी की ओर' में एक पांडित्यपूर्ण तटस्थता थी, ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर आग्रह था, किन्तु नलिनविलोचन जी में हिंदी आलोचकों में पाया जानेवाला शुष्क रसग्रहण (हजारीप्रसाद द्विवेदी इसके अपवाद हैं) नहीं, wit भी है, बात कहने का एक खास अंदाज भी है—गो कभी-कभी वह बहुत ज्यादा उलझा हुआ और चकरीला हो जाता है, और आधुनिक पश्चिमी आलोचना तथा कलाक्षेत्र से घनिष्ठ परिचय भी। इस कारण कभी-कभी ये बड़ी अच्छी बात कह जाते हैं। जैसे :

(१) "साहित्यालोचन में विषय की अश्लीलता का प्रश्न उठाना ही असंगत है।" (पृ० ५)

(२) "यदि कलाकार और डाक्टर अपनी ओर से निर्लिप्त हैं तो अपने-अपने ढंग से मनुष्य के शरीर या मन का चित्रण-परीक्षण करने का उन्हें पूरा अधिकार है। पाठकों को तो होना ही चाहिए।" (पृ० १६)

(३) आचार्य रामचंद्र शुक्ल के बारे में—"स्थितप्रज्ञ आचार्य अतीत के अध्ययन के लिए अधिकारी होते हैं; लड़खड़ाते वर्तमान की गति को दौड़ने और गिरने वाले ही जान सकते हैं, समझ सकते हैं।" (पृ० २३)

(४) "हिंदी में, आँसू पोछने के लिए, अब तो पारसी मञ्च भी नहीं रह गया।...हिंदी के नाटककार पढ़े जाकर ही संतुष्ट हो गये। ...यों तो चलचित्रों के घातक प्रभाव के कारण रंगमंच की दशा, हिंदी-प्रदेश या हिंदुस्तान में ही क्यों, रूस को छोड़कर किसी भी देश में सन्तोपजनक नहीं कही जा सकती।" (पृ० ४३-४४)

(५) "हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि मथुरा-अमरावती के मूर्ति-निर्माताओं के वंशधरों में कोई एप्स्टाइन का प्रतिरथ नहीं है। अजंता-बाग के चित्रकारों के उत्तराधिकारियों में कोई पिकासो और मातिस का समकक्ष नहीं दीख पड़ता, और न बाण और हर्ष जैसे प्रकाण्ड बुद्धिवादी पूर्व-पुरुषों का दावा करने वालों में कोई जेम्स ज्वायस या टी. एस. ईलियट के साथ का साहित्य-द्रष्टा ही है।" (पृ० ७८-७६)

पूरी पुस्तक में पश्चिमी साहित्यकारों, विशेषतः आधुनिकों के उदाहरण अत्यधिक हैं— जैसे 'अंग्रेजी गल्प और भारत' जैसे निबंध, जिनमें नामावलियाँ ही दी गयी हैं, हिंदी पाठकों के उस स्तर की अपेक्षा रखते हैं जिसका इन सब कृतियों से पूर्व-परिचय हो। यह अपेक्षा साहित्यालोचक के नाते वांछनीय नहीं। इस कारण से, 'प्रेमचंद और जैनेंद्र' और 'तुर्गनेव और दास्तावस्की' (जो दोनों लेख 'हंस' में पहिले छप चुके हैं) यह जो दो तुलनात्मक आलोचना पर उत्तम

अध्ययन हैं, वे और 'हिंदी का रंगमंच', 'आज की छोटी कहानी' और पहिला 'पोर्नोग्राफी' पर 'साहित्य में 'ग्राम्यता और अश्लीलता' नामक निबंध के अंश मुझे अधिक अच्छे लगे। 'हिंदी का रंगमंच' सबसे बढ़िया और उपादेय निबंध है। आलोचना यहाँ निरी सिद्धांत-चर्चा ही न रहकर कुछ व्यावहारिक भी बनी है : उसमें बम्बई-कलकत्ते-आगरे के जननाट्य संघ के कार्य की प्रशंसा और आदर्श के रूप में उन्हें रखने का निर्देश भी है।

मगर जैसे 'निवेदन' में कहा गया है, पत्र-पत्रिकाओं के आदेशानुसार लिखे अक्सर निबन्ध जो 'साहित्यिक' अंश में हैं, उनमें दृष्टिकोण बहुत ऊपरी-ऊपरी रह गया है। अच्छा होता यदि उनमें शीर्षक और उसके नीचे दी गयी वस्तु में तारतम्य रहता—कई बार अपेक्षा-भंग हो जाता है—उदाहरणार्थ 'गाथा' की भूमिका जो इसमें 'यथार्थवाद और आधुनिकहिंदी कविता' के नाम से दी गयी है—उस में न 'गाथा' के उद्धरण हैं, न आधुनिक हिंदी कविता के कोई प्रमाण हो—मगर उग्र के 'चाकलेट' और 'न्यू सिग्नेचर्स' और किप्लिंग की ही चर्चा अधिक है। पुस्तक में फ्रायड और परवर्ती जेम्स ज्वायस, वर्जीनिया वूल्फ, डी० एच० लारेंस आदि नामों की 'परेड' बहुत ज्यादा की गयी है। दृष्टिकोण की मौलिकता और नवीनता कहीं-कहीं झलकने पर भी यथा 'आधुनिक कला और भारत'—सर्वत्र विचारों की समतोलना नहीं है। हैज़लिट की भाँति ये निबन्ध भी आलोचक के सैरसपाटे के उद्गार हैं, जिनमें अन्य बातें भी प्रसंगवशात् आती-जाती ही हैं। एक बहुश्रुत, बहुपठित, सुसंस्कृत, स्वस्थ मन के रसज्ञ के साथ हम भी विचार-विनिमय कर रहे हैं। वह अपनी प्रसन्न शैली में कहीं चिकोटी काटता हुआ, कहीं परिहास करता हुआ अपने मत कहते जा रहा है। ऐसा इस पुस्तक को पढ़कर जान पड़ता है। स्वाभाविक बात है कि ऐसी संभाषणात्मक (कन्वर्सेशनल) शैली के कारण उसमें कई पुनरुक्तियाँ (जैसे उग्र की असफलता की मीमांसा दो बार उसी रूप में), कई बार

निरा 'कैटेलौगिंग' और कई वार विषय छोड़कर दूसरी ही चर्चा (डाइग्रेशन) इस पुस्तक में आगया है। इस दृष्टि से अधिक मजेदार निबन्ध है 'नारी' जो पुस्तक के अन्त में है। वहाँ विषय की मर्यादा न होने से लेखक अपनी कल्पनाशक्ति को स्वैर चला सका है। 'धर्म और प्राचीन भारतीय कला' तथा 'भारतीय मूर्त्तिकला में 'ध्यान'की अभिव्यक्ति' तथा 'मनःसमीक्षण' ये निबन्ध इस संग्रह में लेखक की अध्ययनशीलता के द्योतक हैं। 'युद्ध और अहिंसा' निबन्ध बहुत ही 'सुपरफीशियल' (ऊपरी-ऊपरी) बनकर रह गया है। इतना अवश्य जान पड़ता है कि आलोचक ऊँची कला के महत्व को गुनता जरूर है, चाहे उसमें उस 'गुनने' को वह प्रेषणीय नहीं बना पाता हो। इसका एक कारण है कुछ दुरूह भाषा शैली। कहीं संस्कृत के सामासिक कठिन शब्द हैं तो कहीं उर्दू के और कहीं अँग्रेजी की आधुनिकतम आलोचना शैली के। उस शब्दावली में समतोलना नहीं आ पायी है। कहीं विशेष नामों के उच्चारणसुलभ लेखन और 'डीटेल्स' में कुछ गौण गलतियाँ भी रह गयी हैं: यथा प्रूस्त को सर्वत्र 'प्रू' ही लिखा गया है। यदि 'तुर्गनेव और दास्तावस्की' यह रूसी उच्चारण लेने हों तो अँग्रेजी उच्चारण टालस्टाय गलत है, 'तोल्स्तोय' ही लिखा जाना चाहिए। शिल्पालोचक इतिहासज्ञ फर्ग्यूसन बेर्गसाँ की तरह फरासीसी नहीं है कि उसे फर्ग्यूसाँ लिखा जाय। 'बोकैचिओ' का 'डेकेमेरन' (पृ० ८) लिखना भी सही नहीं, 'बोकेशियो' का 'डेकेमेरॉन' अधिक उपयुक्त है। और यदि चित्रकार मातिस का उच्चारण फरासीसी शैली से लिखें तो 'रोदें' लिखेंगे, न कि 'रोदिन'। वॅन गॉग को वॉन गाग गलत लिखा गया है। इनमें से कुछ तो छापे की भूलें भी हो सकती हैं। मगर हिन्दी में "स्ट्राबेरी और क्रीम शैली के कवि" जैसे पूरे वाक्यांश अँग्रेजी से ले लेना खतरे से खाली नहीं।

समासतः नलिनविलोचन का दृष्टिकोण यह है कि हमें पाश्चात्य कला-प्रयोगों तथा नवीनतम शास्त्रों (विशेषतः मनोविश्लेषण) से बहुत

कुछ सीखना है। हम रूढ़िवादी न बने रहें। यह दृष्टिकोण (यद्यपि कोणता इस में कम है, गोलाई ही अधिक) प्रगति का हिमायती है।

प्रगतिवादी आलोचक

एक थे बादरायण, जिनके ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या करने में शांकर, रामानुजीय, माध्व पन्थों में वह सूक्ष्म तार्किक वितंडा हुई कि क्या पूछिये! एक हैं आधुनिक युग के मनीषी मार्क्स-ऐन्गेल्स, जिनकी शब्दावली की विविध व्याख्याएँ, टीकाएँ और निगमनात्मक निरूपण इतने भिन्न-भिन्न प्रकारों से हुआ है कि मूल सिद्धान्त कहीं ओझल हो गये हैं, और बेचारा साधारण नागरिक, सामान्य पाठक बादलों की इन बहुरङ्गी वर्ण-छटाओं से ही चकित और दिग्भ्रमित है। मार्क्सवाद का साहित्यिक संस्करण—या संस्कार तो मार्क्सवाद पर मार्क्स भी नहीं कर सकता, अतः कहें—रूपावतरण प्रगतिवाद है। प्रस्तुत लेख में हिन्दी में प्रगतिवाद के आरम्भ, विकास या विभिन्न लेखकों के सहसा प्रगतिवादी बन जाने या होते-होते रुक जाने या प्रगतिवादी करार दिये जाने पर सहसा अप्रगतिशील बनाये जाने की चर्चा नहीं होगी। परन्तु प्रगतिवाद पर जो समीक्षात्मक साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हुआ है उसका परिचय और उसे समझने का प्रयत्न यहाँ किया जा रहा है। हो सकता है कि अपनी समझ की गगरी छोटी होने से यह प्रगतिवादरूपी नानारूपधारिणी अब्धितरंगावली का आकलन पूरी तरह न हो पाया हो। और लेख का एक उद्देश्य यह भी है कि अन्ततः प्रगतिवाद को 'समझने' का यत्न करना विफल है, चूँकि वहाँ समझने से अधिक अन्धी श्रद्धा का महत्व है। यों, प्रगतिवाद जो सम्प्रदायवाद के विरोध में खड़ा हुआ था अपने आप में एक सम्प्रदाय बन गया, और सो भी पुराने सम्प्रदायों से भी अधिक कट्टर और गुरुडम-प्रधान।

प्रगतिवाद को हिन्दी में समझाने का सबसे पहिला बड़ा यत्न 'हंस' के विशेषांकों ने किया था। फरवरी-मार्च १६४२ और अप्रैल-मई

१९४३ के दो संयुक्त-विशेषांक 'हंस' ने प्रगति-अंक भाग १ और प्रगति-अंक भाग २ के नाम से प्रकाशित किये। उन २८३ पृष्ठों को पढ़कर अब हिन्दी के प्रगतिवाद की यदि परिभाषा जानने का यत्न किया जाय तो बहुत आश्चर्य होगा। उसमें प्रधान प्रगतिवाद-समर्थकों में से सर्वश्री अंचल, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', गुलाबराय, सत्येंद्र, देवेंद्र सत्यार्थी और रामविलास शर्मा को आज के प्रगतिवादी कहाँ तक प्रगतिवादी मानते हैं यह विचारणीय विषय है। यदि तर्क के लिए यह भी मान लें कि उस समय उन्होंने प्रगतिवाद का समर्थन अपनी कृतियों से किया और अब वे सब प्रतिगतिवादी हो गये, तो भी प्रश्न यह है कि ऊपर दिये नामों में आखिरी नाम छोड़कर—जिन्होंने प्रगतिवादी साहित्य का विपुल अनुवाद हिन्दी को दिया और भारतेन्दु, प्रेमचन्द्र, निराला पर एकांगी 'मोनोग्राफ़' लिखे, अन्य सभी रचयिताओं के साहित्य का कुल जमा प्रभाव उस अर्थ में क्रांतिकारी या 'प्रगतिपूर्ण' नहीं है, यह स्पष्ट है। व्यक्ति लेखकों की बात हम छोड़ दें। वैसे रामविलास जी की 'प्रगति'-सेवा का उत्तम मूल्यांकन अमृतराय जी की नयी पुस्तक 'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' में मिल ही जाता है।

इसी 'हंस' के प्रगति अंक (१) के अन्त में सौ प्रगतिवादी पुस्तकों की जो सूची दी है (जिसमें सिर्फ छः हिन्दी की और अन्य अंग्रेजी की हैं) उससे भी काम नहीं चलता। क्योंकि उसमें काडवेल, लेहमान, लुई मैकनीस, स्टीफैन स्पेण्डर, अप्टन सिंक्लेअर, वर्जीनिया वूल्फ़, ऑडैन, टी० एस० ईलियट, पर्ल बक, क्रिस्टोफर ईशरवुड, जेम्स जौइस, आन्द्रे मालरों, स्टाइनबेक, सिलोनी आदि विदेशी आलोचक, कवि, उपन्यास-कार आदि और स्वदेशी पन्त और नरेन्द्र प्रगतिवादियों की कठोर प्रत्यालोचना के लक्ष्य बन चुके हैं। अतः अब प्रगतिवादी कौन बचे हैं यह जानना बहुत कठिन है। सोवियत रूस के १९१८ के बाद के सब लेखक और चीन के १९४९ के बाद के सब लेखक तो प्रगतिवादियों के आदर्श लेखक हैं ही। भारत में भी वे सब लेखक जो प्रच्छन्न-अप्रच्छन्न रूप

से रूस और अब चीन की राजनीति के पृष्ठपोषक हैं वे भी प्रगतिवादी हैं ही। (लेखक फिर वे चाहे जैसे हों!) यों, साहित्यालोचन का कार्य और भी कठिन हो जाता है, क्योंकि प्रगतिवादी-अप्रगतिवादी साहित्य की सही परख के पहिले राजनैतिक दल के गुप्त या प्रकट आदेशों, फ़तवों तथा दंडाज्ञाओं को जानना ज़रूरी हो जाता है। इन पंक्तियों का लेखक इस विषय में अल्पज्ञ है, अतः साहित्य की ही दृष्टि से इन आलोचनाओं को देखने का यत्न कर रहा है। कट्टर मार्क्सवादी शायद इस बात से नाराज होगा और कहेगा कि इस तरह से आलोचना हो ही नहीं सकती। उसके लिए इस या उस खेमे में होना ज़रूरी है। हम शान्ति चाहते हैं; सो खेमों और मोर्चों की भाषा कम समझ में आती है।

शिवदानसिंह चौहान की 'प्रगतिवाद' पुस्तक इस विषय में सबसे अच्छी और स्पष्ट और अधिकारपूर्ण पुस्तक है। पर सुना है कि वे स्वयं अपनी पुस्तक के कुछ अंशों से अब सहमत नहीं हैं और उसे परिशोधित करने जा रहे हैं। उनके बाद एक पुस्तक शिवचन्द्र शर्मा की 'प्रगतिवाद' पर छपी है जो समाजवाद-साम्यवाद का एक संमिश्र रूप प्रस्तुत करती है और उनके अनुसार 'दिनकर' सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी हैं। चूंकि इस किताब का आधा हिस्सा समाजवाद-मार्क्सवाद का निरा सिद्धान्त-निवेदन है, उसमें कोई साहित्यिक विशेषता नहीं है।

अब इस समय हमारे सामने विवेच्य तीन ग्रंथ हैं :

१. हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद, लेखक—विजयशंकर मल्ल
२. प्रगतिवाद : एक समीक्षा, लेखक—धर्मवीर भारती
३. साहित्य में प्रगतिवाद, लेखक—सोहनमल लोढा एम० ए०

शिवदानसिंह चौहान और शिवचन्द्र शर्मा की 'प्रगतिवाद' नामक दो पुस्तकें हिन्दी में इस आंदोलन की आरम्भिक पुस्तकें मान लें तो यह तीन पुस्तकें उनकी शाखा-प्रशाखाएँ या कहें धारा-प्रतिधाराएँ हैं। पहिले विजयशंकर मल्ल जी की पुस्तक लें। इन्होंने प्रगतिवाद को

बहुत सहानुभूतिपूर्वक समझने का और तटस्थता से वैज्ञानिक विश्लेषण करने का यत्न किया है। परन्तु काशी के आलोचकों की परम्परा में उनका लेखन बहुत रूखा और पौस्तक या शालेय (एकडेमिक) हो गया है। पूर्वपीठिका अच्छी तरह समझाई है, परन्तु पुस्तक में अधिक विस्तार में नहीं लिखा गया है। प्रगतिवाद के इतिहास में रूसी साहित्य के ही विशेष उदाहरण दिये हैं। और आलोचकों में भी जो उदाहरण दिया है ङ्किवाटर का या हर्बर्ट मार्शल के अनुवाद का या ए० सी० वार्ड का सो प्रगतिवाद के प्रति समूचा न्याय नहीं कर सकता।

'काव्यसिद्धान्त' इस पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है। परन्तु यहां भी लेखक अपने पूर्व-ग्रह के कारण प्रगतिवादी दृष्टिकोण के प्रति पूर्ण न्याय नहीं कर पाया है। काडवेल की 'इल्यूजन एण्ड रियालिटी' की भी व्याख्या परिचयात्मक मात्र है। और इस कारण से मल्ल जी की ऐसी स्थापनाओं से सहसा सहमत नहीं हुआ जा सकता।

१. "भाव-क्षेत्र वर्ग-युद्ध की द्वन्द्व-भूमि नहीं बन सकता।" (पृ० ६६)

२. "व्यवहार में चाहे मार्क्सवाद के सिद्धान्तों से कोसों दूर हों पर वहीं से खड़े-खड़े मार्क्सवाद की जय मनाना आजकल का एक फैशन हो गया है। आजकल के नए कविगण प्रायः आलोचक भी होते हैं, या आलोचक कहलाने के लिए उत्सुक रहते हैं। पर उनकी रचनाओं को देखिए तो परिमाण में अधिकांश ऐसी ही रचनाएँ मिलेंगी जिनमें नई रङ्गत के प्रेम की विवृति, रोमाँस की सुनहली दुनिया, वासना के कुत्सित चित्र और तज्जन्य आकुलता का प्रदर्शन आदि भरे मिलेंगे। सारे प्राचीन साहित्य की निन्दा करने का चलन घोर असाहित्यिकता का द्योतक है। इस प्रकार का अनावश्यक मन्तव्य-प्रकाशन छोड़कर सत्साहित्य की सृष्टि में संलग्न होना ही कवियों का साध्य होना चाहिए।" (पृ० ८४-८५)

३. "सच पूछिये तो व्यंग के विकास के लिए गद्य का ही क्षेत्र अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।" (पृ० १२८)

और इन स्थापनाओं से भी कुछ नहीं होता, यदि उसमें उपदेशा-

त्मक वृत्ति लाकर, नए कवियों को क्या करना चाहिए या क्या नहीं करना चाहिए, इसकी गुरु-चर्चा वे नहीं छेड़ते। कुल जमाकर प्रगतिवाद के विश्लेषण का यह प्रयत्न बहुत संतुलित बन पड़ा है।

धर्मवीर भारती की पुस्तक अधिक आवेशपूर्ण, छलछलाती और प्रगतिवाद के विरोध से भरी है। यद्यपि 'हंस' (जून १९५१) के अंक में धर्मवीर भारती का प्रथम स्थान पर लेख उन्हें प्रगतिवादियों की पाँत में ला खड़ा करता है, पर यह पुस्तक लिखी गयी थी १९४९ में। उनकी शैली काव्यमयी है : "हमारी निगाहें क्षितिजों की सीमा के परे देखती हैं, हमारे कदमों ने सूर्य से जलन छीन ली है, हमारी सांसों ने आकाश से तूफान छीन लिये हैं" (पृ० २२०)। इस तरह भावुकता से काम लेने से प्रगतिवाद को समझने में मदद नहीं मिलेगी। सिर्फ उसका विरोध ही हो सकेगा। धर्मवीर जी की बौद्धिक सतह इस प्रकार की वृथा भावुकता से रंगी होने के कारण वे कभी-कभी कठोर, वैज्ञानिक, बुद्धिवादी स्तर छोड़कर आध्यात्मिक बातें भी बघारने लगते हैं और छायावाद को उजियारा मानते हैं; यथा :

"प्रगतिवाद और रोमांटिक प्रेम के अन्त में यथार्थवाद के बाद छायावाद उतना ही अवश्यंभावी है जितना उमस के बाद बारिश, या अंधेरे के बाद उजियाला।" (पृ० १३२)

और एक उदाहरण देखिये :

"क्या व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं ?" के अन्त में कहते हैं—"नये युग के मन्दिर में मार्क्स के बगल में राम, कृष्ण या ईसा की मूर्ति भी स्थापित करनी होगी, तभी मानव समाज के बाह्य और अन्तर दोनों पक्षों का पूर्णतः विकास हो सकेगा और एक स्थायी प्रगतिशील जीवन-दर्शन हमारे सामने आ सकेगा और हम आगे आने वाली दुनिया का वह ढांचा तैयार कर सकेंगे जिसमें न शोषण होगा, न खूंरेजी, न नफरत और न गरीबी !" (पृ० १४६)। यह कुछ-कुछ इसी तरह से कहना हुआ कि

जयप्रकाश का सिर और नेहरू का हृदय और गोलवलकर के हाथ तथा पैर जोड़कर एक मूर्ति तैयार की जाय। इसी से नागार्जुन के "रतिनाम की चाची" का पृ० १८० पर विश्लेषण मैं बिल्कुल नहीं समझ सका। कम-से-कम 'गुनाहों के देवता' के लेखक तथा डोरियन ग्रे के अनुवादक को तो प्रेम-वासना, रूप-चित्रण, स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के विषय में अधिक उदारता से सोचना चाहिये था।

उसी प्रकार से मानवेन्द्रनाथ राय की विचारशैली से प्रभावित तीसरी पुस्तक में लेनिन और हिटलर की समानता (पृ० ३३) भी बहुत अयुक्तिसंगत लगती है। लोढा जी भी मूलतः रोमांटिक होने के कारण उपन्यास के नायकों की पुंस्त्वहीनता से चिढ़ने वाले भारती की भांति ग्रांटी की "Waking Nights" में प्रगति का ही नहीं जीने का मंत्र भी आपके अर्धचेतन मस्तिष्क में फूंक देती है" (पृ० १४) लिखते हैं। हमारे मस्तिष्क में या तो कोई विकार है या ऐसा जीने का प्रगतिशील मन्त्र उससे पाने में हम असमर्थ ही रहे।

इस पुस्तक में तथ्यों का भी कहीं निरूपण अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए सही तौर से नहीं हुआ है। जैसे यह कथन—"श्री यशपाल वर्षों से कम्यूनिस्ट पार्टी के सदस्य रहे हैं" (पृ० ४९) सत्य नहीं है। यशपाल हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन आर्मी के सदस्य थे, आतंकवादी थे। कम्यूनिस्टों के वे सहानुभूतिक हो सकते हैं। वे कम्यूनिस्ट दल के सदस्य न थे, न हैं, न होंगे।

"ओ विशाल हृदयों के आलोचको, तुम हीरे का मूल्यांकन चन्द कांच के टुकड़ों के आधार पर करना चाहते हो! धन्य तुम्हारा मापदण्ड, धन्य तुम्हारा सांस्कृतिक डंडा''''(पृ० ८९)। इस प्रकार की शब्दावली स्पष्टतः विचारों का कचपन दरसाती है। पन्त, अज्ञेय आदि के साहित्य के समर्थन में यह कथन कि "अज्ञेय के बारे में प्रगतिवादियों ने अपनी चालों को बदला (पृ० ९९)" सही नहीं है। कुछ और अध्ययन के साथ

और विस्तृत रूप में प्रगतिवाद के विरोध में धर्मवीर भारती से अधिक ठोस और मतलब की यह किताब सिद्ध होती।

संक्षेप में तीनों पुस्तकें प्रगतिवाद के हिमायती आलोचकों को जरूर पढ़नी चाहिएं और सोचना चाहिए कि वे साहित्य में, दर्शन में, राज-नीति-विज्ञान में कहां खड़े हैं। इन तीन किताबों के कई तर्क अकाट्य हैं।

'साहित्य में संयुक्त मोर्चा' में अमृतराय ने पृ० १६-१७ पर लिखा है—"इस गलती की जड़ में यह बात है कि हम मार्क्सवाद के इस बुनियादी सिद्धान्त को भूल गये कि मार्क्सवाद किताबी सिद्धान्तों का ढेर नहीं, क्रांतिकारी कार्य के लिए, आन्दोलन के लिए राह दिखाने वाली चीज़ है। किताबी कठमुल्लेपन से उसे कोई वास्ता नहीं।...और यही वह सबसे खतरनाक गलती है जो हमने की और जिससे अभीतक हमारा पीछा नहीं छूटा है। उससे भी ज्यादा चिंता की बात यह है कि अब इस दौर में भी, जब सभी अपनी समझ को ठीक करने की कोशिश कर रहे हैं, हमारे कुछ मित्र इसकी कोशिश भी नहीं कर रहे हैं।" और आगे उन्होंने रामविलास शर्मा का उदाहरण दिया है।

माओ-त्से-तुंग ने इस बात को समझा और अपने साहित्य-विषयक भाषण में उसने स्पष्ट कहा कि जनता के सांस्कृतिक स्तर का प्रतिबिंब साहित्य-प्रणयन में अवश्य पड़ेगा—

"No matter what their level, works of literature and art are the result of the artistic work of the human mind as it reflects and portrays the life of the people." (Mao-tse-tung)

इस पुस्तक के लिखे जाने के बाद मन्मथनाथ गुप्त की एक संतुलित पुस्तक 'प्रगतिवाद की रूपरेखा' छपी है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है।

२३. राहुल सांकृत्यायन

वैसे राहुल जी ने अपने विश्व-भ्रमण से समय निकालकर ३२ वर्षों में १०० से ऊपर ग्रंथ हिन्दी, संस्कृत, तिब्बती, भोजपुरी आदि में लिखे हैं। परन्तु यात्रा, राजनीति, इतिहास, संस्कृति, कहानी, उपन्यास, भाषाविज्ञान, पुरातत्व आदि विविध विषयों को छोड़कर जो विशुद्ध साहित्य-समालोचनात्मक ग्रंथ कहे जा सकते हैं, वे हैं :—

१. हिन्दी काव्य-धारा (अपभ्रंश-युग) भूमिका

२. दक्खिनी काव्य-धारा (प्रकाशन के मार्ग पर)

३. साहित्य-निबन्धावली (प्रकाशन १९४९)

वैसे 'रूसी साहित्य' (केसरीनारायण शुक्ल तथा श्रीमती फिलिस मेरी केम्प) की भूमिका, 'शेखे-सखुन' की भूमिका और ऐसी अनेकानेक ग्रंथों की महत्वपूर्ण भूमिकाएं हैं।

साहित्य-निबन्धावली के प्राक्कथन में राहुल जी ने बताया है कि उनका पहला साहित्यिक निबन्ध १९१५ में मेरठ से निकलने वाले मासिक 'भास्कर' में निकला था। वैसे निबन्धावली में मुंगेर में, बलिया में, बिहार प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन में, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन में, प्रगतिशील-साहित्य-संघ के अध्यक्षपद से और भोजपुरी साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से तथा सारन में और वैशाली में दिये भाषण ही हैं। १६ निबन्धों में आधे से अधिक तो यही भाषण हैं। अन्य कुछ खोज सम्बन्धी और कुछ जानकारी देनेवाले निबन्ध हैं।

'हिंदी भाषा की प्राचीनता' १९३३ में इंडियन ओरिएंटल कान्फ्रेंस के सभापति पद से दिया भाषण था। इसमें चौरासी सिद्धों के काल के सम्बन्ध में अपनी खोज को राहुल जी ने प्रस्तुत किया था। उसी समय उन्होंने हिन्दी के अन्वेषक लेखकों को चेतावनी दी थी कि अपने निबन्ध वे अंग्रेज़ी में न लिखकर हिंदी में लिखें। हस्तलिखित ग्रंथों के पुस्तकालय निर्माण का भी सुझाव दिया था।

दूसरा भाषण १९३९ में हिन्दी साहित्य-गोष्ठी रंगून के प्रथम वार्षिक अधिवेशन में दिया था। बर्मा के भारतीय साहित्यिकों के प्रादेशिक रंग में अधिक लिखने के कर्तव्य पर उन्होंने ज़ोर दिया था।

तीसरा भाषण १९३६ में मुंगेर जिला साहित्य-सम्मेलन के सभापति पद से दिया था। उसमें उन्होंने कहा था—"हिन्दी की साहित्यिक गति में तीव्रता है, इसका मतलब यह नहीं कि हिंदी साहित्य सर्वांगपूर्ण है।" व्याकरण के संबंध में उन्होंने कहा था—"हिंदी व्याकरण को भी अब हमें भाषा के सार्वदेशिक रूप को ध्यान में रखकर कुछ जोड़ना-घटाना होगा। पाणिनि ने भी अपने व्याकरण में उदीची (पंजाब), प्रतीची (युक्त प्रांत, बिहार) के खयाल से कितने ही इस तरह के मतभेदों को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह नहीं कि गलत-सही जैसे भी लिंग या उच्चारण किये जा रहे हैं, उन सभी को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। हां, जिसके लिए हमें संस्कृत, प्राकृत तथा अनेक स्थानीय भाषाओं में उदाहरण मिलता है, उसे स्वीकार कर लेने में कोई हर्ज नहीं।" (पृ० १२)। इसी भाषण में उर्दू लिपि और मुसलमानों के भारतीय संस्कृति-स्वीकार में आनाकानी पर स्पष्ट रूप से राहुल जी ने कहा है।

१९३६ में बलिया हिंदी प्रचारिणी सभा के भाषण में भोजपुरी की विशेषताओं का राहुल जी ने जिक्र किया है और आगे चलकर मातृभाषाओं के प्रश्न में उसका स्वतन्त्र रूप से विवेचन हुआ है। हिंदी की प्रगति के सम्बन्ध में राहुल जी सदा आश्वस्त रहे हैं। हिंदी में "उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में चाहे प्रेमचंद की टक्कर का दूसरा आदमी भले ही न हो, किंतु आज हिंदी की ऐसी अवस्था हो गई है कि हम ऐसे एक दर्जन नामों को आसानी से अंगुलियों पर गिन सकते हैं जिनकी लेखनी में काफी जोर है। इस क्षेत्र के लेखकों में हमें एक चीज़ की कुछ कमी मालूम होती है; वह है देश और काल के संबंध से संसार के

आभ्यन्तरिक और बाह्य रूपक विस्तृत ज्ञान की कमी। कभी-कभी हमारे ऐतिहासिक कहानी और उपन्यास लेखक इतिहास के बहुत ही अधूरे ज्ञान से घटनाओं तथा पात्रों का चित्रण करते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि लोग बड़ी भूलें कर बैठते हैं।" (पृ० २१)

कविता के संबंध में राहुल जी ने तब कहा था—"मैंने इधर एक ही कविता पढ़ी है, जिसमें एक दूर देश के रीतिरिवाज़ तथा प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने की सफलतापूर्वक चेष्टा की गई है। मैं पिछले साल ही ईरान से लौटा था और 'नूरजहां' में उसका वैसा सुन्दर तथा प्राकृतिक वर्णन पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।...यदि 'नूरजहां' की जगह कवि ने किसी भारतीय नायिका को चुना होता, अथवा चन्द्रगुप्त की रानी हेलेन या बप्पा रावल की ईरानी रानी को अपने काव्य का विषय बनाया होता तो लोगों के हृदय को वह अधिक ग्राह्य होती।" (पृ० २२)

१६३८ में रांची के भाषण में भी हिंदी-उर्दू पर ही अधिक कहा गया है। वही हाल सारन वाले भाषण में है। वे हिंदी पर उर्दू के अनावश्यक आक्रमण को सहन नहीं करते। साहित्य-चर्चा में अवधी के ग्रामीण अपढ़ स्वर्गीय कवि विसराम की जिन रचनाओं को परमेश्वरी-लाल गुप्त ने जमा किया था उन पर लिखते हुए राहुल जी ने प्रादेशिक बोलियों—जिन्हें वे मातृभाषाएं कहते हैं—का प्रश्न उठाया और ऐसी ३० मातृभाषाएं देकर आज के हिंदीभाषी प्रदेश को तीस जनपदों में बांटने का प्रस्ताव रखा था। इस प्रस्ताव पर आगे कार्य नहीं हुआ, यह खेद का विषय है।

'संन्यासी अखाड़ों की जनतन्त्रता' साहित्यविषयक निबन्ध नहीं है। परंतु १६४७ में दिया प्रगतिशील साहित्य-विषयक भाषण बहुत महत्त्वपूर्ण है। साहित्यिक का जनता के प्रति कर्तव्य और उसमें सच्चे जन-संपर्क की आवश्यकता पर राहुल जी ने बहुत मार्मिक विचार व्यक्त

किये हैं जो आज पांच वर्ष बाद भी कठमुल्ला प्रगतिवादियों को ध्यान में लेने योग्य हैं।—

"प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण संप्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रुंधे रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतन्त्रता का नहीं, परतन्त्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम-रोम में भींग गई है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गई है, वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है।...प्रगतिवाद कला की अवहेलना नहीं कर सकता। वह तो कला और उच्च साहित्य के निर्माण में बाधक रूढ़ियों को हटाकर सुविधा प्रदान करता है। वह रूढ़िवाद और कूप-मंडूकता दोनों का विरोधी है। हमारे लिए देश और काल दोनों के लिए विस्तृत दृष्टि रखना सबसे अधिक आवश्यक है।" (पृ० ११५)

भोजपुरी, उसी भाषा में छपरा में १९४७ में दिया भाषण है। १९४७ में बम्बई में ३५ वें हिंदी साहित्य-सम्मेलन में दिया भाषण सबसे महत्वपूर्ण है। पृ० १२७ से १६२ तक 'हमारा साहित्य', नाम से वही छपा है। इस भाषण का भी बड़ा हिस्सा भाषा-विवाद को दिया गया है। फिर भी पारिभाषिक शब्दों में अन्तर्राष्ट्रीयता के नाम पर जो अंग्रेज़ी शब्दों को ज्यों का त्यों लेने के पक्ष में हैं, उन्हें रूस का उदाहरण देकर राहुल जी ने बताया है—"रूसी भाषा ने साइन्स की जगह 'नाउक', ओरियण्टलिस्ट की जगह 'वोस्तोकोवेद' (प्राच्य-विद) और भाषा-शास्त्र की जगह 'यज़ीकोज्नानेनिया' (भाषाज्ञान) को अपनाया। स्मरण रखना चाहिए कि 'वेद' और 'ज्नानेनिया संस्कृत के 'विद्' और 'ज्ञा' धातुओं की ही परम्परा के हैं। तो भी रूसी भाषा ने बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों के बायकाट करने की आवश्यकता नहीं समझी। हमारे यहां भी इसकी ज़रूरत नहीं है कि हम रेडियो, टेलीफोन, इंजन या आक्सीजन, हाइड्रोजन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शब्दों का बायकाट करें। हां, ऐसे शब्दों का परिमाण कम अवश्य होना चाहिए।" (पृ० १४३-१४४)

समालोचना साहित्य के विषय में राहुल जी ने तब कहा था—"साहित्यकार की बहुधा एकांगीन प्रवृत्ति होती है। समालोचक उसके सामने तस्वीर का दूसरा पहलू रखकर साहित्यकार की कमी को दूर कर सकता है। आज का साहित्यकार अपनी रचनाओं में एक पक्ष पर प्रहार करते हुए बहुत अति में चला जाता है और उसे उसके कोई गुण नहीं दिखाई देते, दूसरा साहित्यकार दूसरे पक्ष की ओर जाता है। इस तरह दोनों ही वास्तविकता से बहुत दूर हो जाते हैं। समालोचक ही उनके इस अविचार को दिखलाते हुए वास्तविकता के पास ला सकता है।" (पृ० १४८)

श्चेरवास्की और वारान्निकोफ़ पर उनका निबन्ध जानकारी की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है! 'वैशाली का गणतन्त्र' इतिहासविषयक और "युरोप के 'रोमनी' भारतीय" समाजवैज्ञानिक-भाषाविज्ञान के निबन्ध हैं। अन्य चीज़ें भाषाविषयक वक्तव्य हैं जिनमें आचार्य रघुवीर का 'परिभाषा-निर्माण' जैसा लेख भी आ जाता तो बड़ा अच्छा होता।

सितम्बर १६५१ में नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स से छपे 'रूसी साहित्य की भूमिका' में उन्होंने लिखा है—"किसी देश की संस्कृति का बहुत पुराना होना केवल लाभ ही लाभ की बात नहीं है, बल्कि उससे घाटा भी काफी होता है। भारतीय संस्कृति दुनिया की एक प्राचीनतम संस्कृतियों में से है, इसमें किसी को संदेह नहीं हो सकता, किंतु इसके कारण हमारे देश में मिथ्याभिमान भी अपनी चरम सीमा तक पहुंचा।·· नौ वर्ष पहले मृत डा० श्चेरबास्की रूसी संस्कृतज्ञ थे जिनके बराबर संस्कृत भाषा और भारतीय दर्शन का प्रकांड विद्वान आजतक युरोप में पैदा नहीं हुआ। लेकिन उन्हीं रूसियों के बारे में हमारा ज्ञान १६१७ ई० के पहले शून्य सा था।...नवीन रूसी साहित्य के आरंभिक युग पर यदि हम दृष्टि डालें तो मालूम होगा कि १८ वीं सदी के रूसी साहित्य ने

अपनी नींव जिन साहित्यकारों की सहायता से डाली, उनमें सबसे बड़े सहायक केवल ग्रीस के होमर और सोफ़ोकील तथा मध्यकालीन इताली के दान्ते ही नहीं बल्कि शेक्सपीयर, सरवान्ते, मोलिये, वोल्तेर, गेटे, शिलर भी हुए। १८वीं सदी के अन्त तक रूसी साहित्य पर विदेशी साहित्य, विशेषतः फ्रेंच साहित्य की धाक बहुत अधिक थी। रूसी भाषा के कालिदास पुश्किन ने अपने छोटे से उपन्यास 'कप्तान की कन्या' में ऐसे लोगों का बहुत अच्छा व्यंग-चित्र खींचा है। लेकिन १९वीं शताब्दी के आरम्भ में ही जब ग्रिबोयदोफ, पुश्किन, लेर्मेन्तोफ़ जैसे सरस्वती के वरद पुत्र पैदा हो गये, तो रूसियों के ऊपर से फ्रेंच का झूठा रौब हट गया। गोगोल, बेलिन्स्की, गोंचारोफ़, उस्पेन्स्की जैसे कितने ही अमर साहित्यकारों का हमें नाम तक मालूम नहीं है। तुर्गेनियेफ, ताल्सतोय, चेखोफ और गोर्की से हमारे हिन्दी-साहित्यप्रेमी कुछ अवश्य परिचित हैं, लेकिन उनकी कृतियों में से बहुत कम का हिंदी में अनुवाद हो सका है। अभी तक जो अनुवाद होते रहे हैं वे सीधे रूसी से हिंदी में न होकर अंग्रेजी से हुए हैं। आशा है, रूसी भाषा के जानकार लेखक रूसी-साहित्य की अनमोल निधियों को हिंदी में लाने की कोशिश करेंगे। (४-६-५१)

भाषा और साहित्य को जनता के निकटतम लाने के विचारों का ऐतिहासिक समर्थन राहुल जी की हिंदी काव्यधारा की भूमिका और शेरो शायरी की भूमिका और ब्रजभाषा काव्य में ऋतु-सौंदर्य की भूमिका में बहुत अच्छी तरह मिलता है।

वस्तुतः हिंदी में प्रगतिशील समालोचना के प्रथम उद्गाता और तर्कयुक्त प्रधान समर्थक महापण्डित त्रिपिटकाचार्य साहित्य-वाचस्पति राहुल सांकृत्यायन ही हैं। उनके ऐतिहासिक कार्य को हिंदी साहित्य के निर्माणेतिहास में नहीं भुलाया जा सकता।

२४. डा० रामविलास शर्मा

डाक्टर रामविलास शर्मा के आलोचना-ग्रंथ हैं—'भारतेन्दु और उनका युग', 'प्रेमचंद', 'निराला', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रगति और परंपरा' आदि। डाक्टर रामविलास से बहुत कुछ मतभेद होते हुए भी उनकी लेखन-शक्ति का लोहा सभी ने माना है, उनके विरोधियों ने भी। बहुत सा प्रगतिशील साहित्य रामविलास ने हिन्दी में अनूदित किया। व्यंग के तो वे उस्ताद हैं; 'निरंजन' और 'आगिया वैताल' नाम से उनकी रचनाएँ इसके प्रमाण हैं।

रामविलास शर्मा की दृष्टि शुद्ध साहित्यिक आलोचक दृष्टि नहीं है। उसमें राजनैतिक मतवाद का दुराग्रह स्पष्ट है। अतः कभी-कभी वे बहुत विचित्र परस्पर विरोधी विधानों में फँस जाते हैं। 'सतरंगीनी' की आलोचना में उन्होंने बच्चन को प्रगतिशील माना था और उसी प्रकार से 'गिरिजाकुमार माथुर' लेख में भी। 'ब्रह्मानन्द सहोदर' लेख में और 'रूपाभ' में 'निराला की राम की शक्ति पूजा' पर नोट में वे शैली शिल्प के प्रशंसक जान पड़ते हैं। उन्हें अधिकाधिक सैद्धान्तिक लेख लिखने चाहिये थे; वे इधर दो एक वर्ष से फतवे देने और साहित्य के क्षेत्र से उनके मत में अनावश्यक तत्वों को खदेड़ने के काम में अपनी शक्ति नष्ट कर रहे हैं, ऐसा हमें लगता है। साहित्य के क्षेत्र में न किसी के (चाहे वह एक सुसंगठित दल या संस्था ही क्यों न हो) उठाये से कोई उठता है, न गिराये से गिरता है। लेखक में जितना दम-खम होता है उतना ही वह उड़ सकता है। वह स्वयं अपनी करनी से ही गिरता है। पाठक का प्रबुद्ध मन जनतन्त्र में एक बहुत बड़ा आलोचक या पारखी है। उसे चिल्ला-चिल्ला कर रास्ता दिखाना बहुत आवश्यक नहीं। डाक्टर रामविलास ध्वंसवाद के विरोध में स्वयं ध्वंसवादी टेकनीक अपनाने लगे, यह बहुत दुःख का विषय है। उनकी शैली का एक नमूना हम नीचे दे रहे हैं। वैसे 'साहित्य-दर्शन' अध्याय में भी उनकी शैली का एक नमूना दिया गया है।

प्रगतिवाद जब तक छायावाद-युगीन प्रवृत्तियों के विरुद्ध लोहा लेता रहा, उसका स्वरूप ध्वंसात्मक और आन्दोलनकारी था। किन्तु जब वह स्वस्थ विचारधारा के रूप में प्रतिष्ठित हो चला, इसके दायरे में विचार-विभेद और स्वस्थ मतान्तरों का उठ खड़ा होना स्वाभाविक था। प्रगतिवाद के प्रचलित स्वरूप की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराते हुए श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'साहित्य की परख' शीर्षक लेख लिखा था। प्रगतिवादी आलोचना में आमतौर से जो स्थूल समाज-शास्त्रीय विश्लेषण पर अत्यधिक जोर रहता है, उसकी चौहान ने निन्दा की थी और कहा था कि साहित्य की कुछ स्वतन्त्र सौन्दर्यमूलक वृत्तियाँ भी रहती हैं, जो साहित्य को स्थायी बना पाती हैं, अन्यथा रचना सामयिक जीवन का इतिहास होकर रह जायगी। चौहान जी के प्रधान आक्षेपों का उत्तर देते हुए डा० रामविलास शर्मा लिखते हैं :—

'अमर' कलाकारों के लिए साहित्य और सामयिकता की समस्या नयी नहीं है। समाज की अवस्था बदलती रहती है और इसी परिवर्तन क्रम के बीच में साहित्यकार भी रहता है। उसे भय होता है कि बदलती हुई अस्थायी चीजों के बारे में लिखने से कला की अमरता में बट्टा न लग जाय। इसलिए साहित्य के धुरंधर आचार्य उन तत्त्वों को ढूँढ निकालने की कोशिश करते रहते हैं जिनसे अमर पद प्राप्त करने में कोई दुविधा न रह जाय। इसके लिए वे बड़े-बड़े लक्षण-ग्रन्थों की सृष्टि करते हैं, कविता-कामिनी को नियम-उपनियमों से यों बाँध देते हैं कि पहचानने में भूल की गुंजाइश ही न रहे। वे और सब बातें तो देखते हैं, भूत और भविष्य उनके लिए हस्तामलकवत् होता है; वे केवल एक चीज नहीं देखते—समय के प्रवाह को, समाज की गति को। इसका परिणाम यह होता है कि शाश्वत सौन्दर्य की खोज करने वाले ऐसी अशाश्वत कौड़ी लाते हैं कि कुछ निठल्ले लोगों के सिवाय और कोई भी उनकी रचनाएँ नहीं पढ़ता। यह स्पष्ट है कि यदि शाश्वत साहित्य की रचना करना है तो सामयिकता में गहरे पैठना

होगा। हम टिकाऊ और प्रभावशाली साहित्य की रचना तभी कर सकेंगे जब समाज की गतिविधि को पहचानेंगे, समाज के प्रगतिशील वर्ग से नाता जोड़ेंगे, प्रतिक्रियावादी शक्तियों का विरोध करेंगे और अपनी रचना द्वारा समाज की प्रगति में सहायक होंगे। लेखक के लिए जरूरी है कि वह समय के प्रवाह के आगे ही न बढ़े बल्कि उसपर हावी भी हो, जानबूझ कर प्रयत्न द्वारा उसे सही दिशा में ले चले।

हिन्दी-साहित्य में जब से प्रगतिवाद की चर्चा शुरू हुई है तब से लोगों ने इस समस्या की ओर विशेष ध्यान दिया है। अधिकांश लेखकों ने अनुभव किया है कि वे सामयिक घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनों पर लेखनी न उठायेंगे तो पीछे रह जायेंगे और उनका साहित्य निर्जीव हो जायगा। इस चेतना के फलस्वरूप कल्पना-लोक के निवासी भी संघर्ष की धरती पर उतर पाये हैं। पिछले दस साल में जो साहित्य रचा गया है, वह अपने समय की प्रमुख घटनाओं और सामाजिक परिवर्तनों का अच्छा-खासा प्रतिबिम्ब है। जो कलाकार समुद्र के किनारे शाश्वत सौन्दर्य के पत्थरों से खेलते रहे, उनकी बुरी दशा हुई। उनकी मिसाल से यह साबित होगया कि तमाम लक्षण-ग्रन्थ रट लेने और कला की बारीकियाँ समझ लेने पर भी कोई लेखक महान् कलाकार नहीं हो सकता जब तक कि सामाजिक गतिविधि से उसके साहित्य का गहरा सम्बन्ध न हो।

....लेकिन इसी समय कुछ संशय के स्वर भी सुनाई पड़ते हैं। हिन्दी-साहित्य को ही नहीं, प्रगतिवाद को भी 'सामयिकता के दलदल' से निकालने की भगीरथ चेष्टा दिखाई देती है। मार्क्सवादी आलोचक श्री शिवदानसिंह चौहान ने 'साहित्य-सन्देश' में प्रकाशित 'साहित्य की परख' नाम के लेख में कुछ इस तरह की बातें कहीं हैं। उनकी समझ में प्रगतिशील साहित्य का आन्दोलन कुत्सित समाज-

शास्त्र से प्रभावित रहा है। इसलिए वह कोरा सामयिक साहित्यिक आन्दोलन बनकर रह गया है। इसलिए उसका मूल्य भी नगण्य है। किसी संकट या संघर्ष के समय जैसे कोई पार्टी प्रचार-साहित्य लिखाती है, वैसे ही पिछले दिनों का प्रगतिशील साहित्य विशेष घटनाओं से जुड़ा हुआ है। अगर इन घटनाओं से अलग करके उसे देखा जाय तो उसे साहित्य नहीं कहा जा सकेगा। "प्रगतिवाद की विचारधारा भी उन्हीं परिस्थितिजन्य अपीलों के समान है।" मुसीबत यह है कि यह अपील साहित्य हिन्दी या हिन्दुस्तान तक सीमित नहीं है। दुनिया के जाने-माने क्रान्तिकारी कलाकार भी इसकी चपेट में आकर अमर कीर्ति से हाथ धो बैठते हैं। मिसाल के लिए दुनिया की दो बड़ी फ्रान्सीसी और सोवियत क्रान्तियों से वोल्तेयर और गोर्की का सम्बन्ध रहा है। ये दोनों कलाकार क्रान्ति के समर्थक होने के नाते संसार में पूजे जाते हैं। लेकिन आलोचक चौहान का कहना है--"उदाहरण के लिए रूसो और वोल्तेयर ने अथवा आधुनिक काल में ही गोर्की ने फ्रान्स और रूस की क्रान्तियों के अवसर पर तत्कालीन प्रश्नों को लेकर जो रचनायें कीं या आयर्लैंड की क्रान्ति के अवसर पर शेली ने जो अपीलें छपवा कर बाँटीं, आज उनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा है।"

आलोचक को बताना चाहिये कि रूसो, वोल्तेयर और गोर्की की इन क्रान्तिकारी रचनाओं का महत्व नहीं है तो उनकी किन रचनाओं में 'सौन्दर्यनिरूपक दृष्टिकोण परिलक्षित' होता है। सोवियत रूस के कुछ मार्क्सवादी गोर्की को इसलिए भी महान् साहित्यिक मानते हैं कि उसने अपने साहित्य द्वारा सोवियत-क्रान्ति में मदद दी थी। इस तरह के मार्क्सवादियों में मोलोतोव भी हैं। उन्होंने गोर्की के बारे में कहा था, "हमारी क्रान्ति पर अन्य सभी लेखकों से गोर्की की कलात्मक रचनाओं का प्रभाव अधिक शक्तिशाली और प्रत्यक्ष हुआ है। और यही कारण है कि हमारे देश में और सारी दुनिया की श्रमिक-जनता की दृष्टि में ... सर्वहारा-साहित्य, समाजवादी साहित्य का सच्चा जन्मदाता

है।······कलाकार और साहित्यिक लोग गोर्की से सीख सकते हैं कि शब्दों में कौन-सी शक्ति आ जाती है जब वे मनुष्य के सुख के लिए संघर्ष में काम आते हैं और जन-साधारण के हृदय तक पहुँचते हैं। ······गोर्की श्रमिक जनता का सबसे बड़ा मित्र था। समाजवाद लाने के लिए जो संघर्ष होता था, उसे वह प्रेरणा देता था······ लेनिन के बाद गोर्की की मृत्यु हमारे देश और मानवता की सबसे बड़ी क्षति है।"

······सभी लोग जानते हैं कि लेनिन ने ऐसे साहित्य की माँग की थी जो मजदूर-आन्दोलन को आगे बढ़ाये। उन्होंने कहा था— "साहित्य के लिए ज़रूरी है कि वह सर्वहारा-लक्ष्य का एक अङ्ग बने। मज़दूर-वर्ग के सचेत अग्रदल ने तमाम सामाजिक ढाँचे में जो गति पैदा कर दी है, साहित्य को उसका अभिन्न अङ्ग बनना चाहिए।" इससे स्पष्ट है कि रूसो, गोर्की या क्रान्तिकारी साहित्य के बारे में चौहान ने जो शंकाएँ या संशोधन पेश किए हैं, वे भ्रामक हैं और मार्क्सवाद से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सौन्दर्य-निरूपक दृष्टिकोण के नाम पर कोई भी साहित्यकार समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व से बरी नहीं हो सकता।"

२५. श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त

आपके दृष्टिकोण को स्पष्ट करने वाला आपका एक लेख है जो सन् १६४७ की इलाहाबाद के प्रगतिशील लेखक संघ की बैठक में पढ़ा गया था। विषय है—'आलोचना में नई प्रवृत्तियाँ।' आपने लिखा:—

"हिन्दी साहित्य के अन्य रूपों की भाँति आलोचना में भी काफ़ी विकास हो चुका है और प्रौढ़ता आ गई है। जो दो प्रवृत्तियां हिन्दी आलोचना में क्रियाशील हैं उनमें एक प्राचीन रस-शास्त्र पर आश्रित है, और दूसरी नवीन पाश्चात्य पद्धतियों को अपनाती है। आज हिन्दी के प्रमुख आलोचकों में शुद्ध रस-पद्धति का कोई अभिव्यक्ता नहीं है।

रस-शास्त्र जिस कला और सामाजिक परम्परा पर आश्रित था, वह अब काल-कवलित हो चुकी है। अतएव नवीन साहित्य की परख के लिए नई कसौटियाँ भी गढ़ना ज़रूरी हो जाता है। साहित्य एक बहती नदी के समान है; उसकी संपूर्ण गति का अनुभव एक घाट पर खड़ा व्यक्ति नहीं कर सकता। नए सामाजिक विधान ने नए साहित्य को जन्म दिया है और इस नए साहित्य को परखने के लिए उसके अन्दर से ही नियम निकालने होंगे। साहित्य के विकास के साथ-साथ आलोचना-शास्त्र का भी विकास अवश्य होता है।

हिन्दी के आलोचकों में आज शुद्ध रसवादी कोई नहीं बचा है। पुराने आलोचना-शास्त्र से हमारे प्रमुख आलोचक काफ़ी प्रभावित हुए हैं। यह उचित भी है, क्योंकि जहाँ साहित्य का रूप निरन्तर बदला करता है वह प्राचीन के विशिष्ट अवशेषों का उत्तराधिकार लेकर ही आगे बढ़ता है। जिन धुरन्धर आलोचकों के नाम इस श्रेणी में आते हैं, उनमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, बा० गुलाबराय और श्री नन्ददुलारे वाजपेयी मुख्य हैं। इन महारथियों के आलोचना-शास्त्र का आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास से अंतरंग संबन्ध है। ये आलोचक भारत के प्राचीन रसवाद से अच्छी तरह परिचित हैं, साथ ही उन्होंने पाश्चात्य आलोचना-ग्रन्थों का भी गहरा अध्ययन किया है। जिस साहित्यिक धारा के प्रतिनिधि ये आलोचक हैं, उसे शास्त्रीय पद्धति कह सकते हैं।

किन्तु आजकल हिन्दी साहित्य में अनेक नई प्रवृत्तियाँ भी गतिशील हैं, जिनको समझना ज़रूरी है। जिन दो विशेष धाराओं में नया साहित्य बट रहा है उन्हें हम (१) मनोविज्ञान की धारा और (२) समाजवाद की धारा भी कह सकते हैं। पहली धारा मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से प्रभावित हुई है और दूसरी मार्क्सवाद से। इन धाराओं का प्रभाव हिन्दी साहित्य के सभी अवयवों पर पड़ा है। उपन्यास,

कहानी, कविता, आलोचना सभी साहित्य के रूपों में इस संघर्ष का प्रतिबिम्ब है।

हिन्दी के जो साहित्यकार मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों से विशेष प्रभावित हुए हैं उनमें श्री इलाचन्द्र जोशी का उल्लेख आवश्यक है। आप सबसे पहले आस्कर वाइल्ड के प्रभाव से कलावादी बने और "कला कला के लिए" सिद्धान्त में आपकी बड़ी आस्था थी। उसके बाद आडलर के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर आपने नया मत स्थिर किया, जिसके अनुसार हिन्दी के छायावादी और प्रगतिवादी लेखक हीनता की भावना के शिकार हैं और अपने साहित्य में उसी भावना की क्षति-पूर्ति के साधन खोजते हैं। आपने यह खोजबीन करने की चेष्टा नहीं की कि क्यों हमारे लेखक इस भावना के शिकार हैं, किन सामाजिक परिस्थितियों ने उनके अन्तर्मन में यह गुत्थियाँ डाली हैं, और किस प्रकार नई समाज व्यवस्था इसका प्रतिशोध कर सकती है। 'प्रेत और छाया' की भूमिका में जोशी जी ने मनोविश्लेषण के अन्य पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया है। आपने इन नए ज्ञान-चक्षुओं से, इतिहास का विकास इस प्रकार देखा है: "आदि-काल से, जब मनुष्य इस पृथ्वी पर पशु की अवस्था में चार पांवों के बल चला-फिरा करता था तब से, बल्कि इससे भी पहले से लेकर आज तक के विकास-काल में सृष्टि के एक अज्ञात रहस्य-मय नियम के क्रम से जो-जो वृत्तियाँ मानव अथवा पूर्व-मानव के भीतर बनती और बिगड़ती चली गई, उनमें समयानुक्रम से (और सृष्टि के उसी अज्ञात रहस्यमय नियम के क्रम से) संस्कार-परिशोधन होते चले गये। पर जिन प्रारम्भिक वृत्तियों का संस्कार हुआ, वे नष्ट न होकर उसके अज्ञात चेतना लोक में सञ्चित होती चली गईं। विकास की प्रगति के साथ ही साथ परिशोधित वृत्तियों का भी पुनः परिशोधन हुआ और इस नए परिशोधन के पूर्व की वृत्तियाँ भी अज्ञात चेतना के उसी अतल लोक में छिप कर अज्ञात ही रूप से सञ्चित हो गईं। यह क्रम आजतक बराबर प्रवर्तित होता चला गया है। इस अपरिमित

दीर्घकाल के भीतर असंख्य मूल पशु-प्रवृत्तियाँ और उनके संस्कार उस अगाध अज्ञात चेतना-लोक में दबे और मरे पड़े हैं ।

उपरोक्त सिद्धान्तों को आज हिन्दी के अनेक पुरातनपन्थी मानने लगे हैं। इस दिशा में श्री नगेन्द्र का मत-परिवर्तन—जो एक दीर्घकाल से रसवादी और शाश्वतवादी रहे हैं—एक निर्देशमात्र है। छायावादी काव्य के अनन्य उपासक रह कर आज आप उसकी विवेचना फ्रायड और उसके शिष्यों की शब्दावली में करते हैं। 'दीपशिखा' के सम्बन्ध में आप लिखते हैं— "वास्तव में सभी ललित कलाओं के—विशेषतः काव्य के और उससे भी अधिक प्रणय-काव्य के—मूल में अतृप्त काम की प्रेरणा मानने में आपत्ति के लिए स्थान नहीं है।" इस प्रकार छायावादी काव्य को आप अतृप्त काम-वासना की अभिव्यक्ति मानते हैं। किन सामाजिक परिस्थितियों ने हमारे कलाकार के अहं को कुचला है और उसके काव्य को अरण्यरोदन में परिणत किया है, इसका कोई परिचय नगेन्द्र जी नहीं देते। आप इतना कह कर ही सन्तोष कर लेते हैं कि कला 'अहं' का विस्फोट है। साहित्य की सृजन-प्रक्रिया से स्पष्ट है कि वह जीवन की भावगत व्याख्या है। वह जीवन की अन्तर्मुखी साधना है। अतः स्वभाव से ही साहित्यकार में अन्तर्मुखी वृत्ति का ही प्राधान्य होता है। वह जितना महान् होगा उसका अहं उतना ही तीखा और बलिष्ठ होगा, जिसका पूर्णतः समाजीकरण असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य हो जायगा।······संसार में ऐसा साहित्यकार विरला ही होगा जिसने किसी अपरागत उद्देश्य से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित कर लिया हो। गोर्की, इक़बाल, मिल्टन आदि के व्यक्तित्व का विश्लेषण असन्दिग्ध रूप से सिद्ध कर देगा कि उनके भी साहित्य में जो महान् है वह उसके दुर्दमनीय अहं का ही विस्फोट है, साम्यवाद, इस्लाम या प्यूरिटन मत की अभिव्यक्ति नहीं।"

इसी सिलसिले में हिन्दी साहित्य के एक परम प्रतिभावान् व्यक्ति

'अज्ञेय' का उल्लेख आवश्यक है। आपके आलोचना निबन्धों 'त्रिशंकु' का प्रकाशन अभी हाल में हुआ है, किन्तु इस संग्रह के अनेक निबन्ध पहले भी प्रकाश में आ चुके हैं। 'अज्ञेय' इलियट की काव्य-परिभाषा को स्वीकार करते हैं, यानी "कविता निजी अनुभूति की मुक्ति—अभि-व्यक्ति—नहीं, वह अनुभूति से मुक्ति है; व्यक्तित्व का प्रकाशन नहीं, व्यक्तित्व से छुटकारा है।"

हिन्दी आलोचना में इस प्रकार मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों की स्थापना तो छुटपुट रूप से हुई है, किन्तु हिन्दी साहित्य की व्याख्या इस दृष्टिकोण से बहुत कम हुई है, इसके अलावा कि आज का साहित्य-कार कुण्ठाओं का शिकार है, और यही मन की गुत्थियाँ उसके साहित्य का रूप निर्दिष्ट करती हैं।

हिन्दी आलोचना की दूसरी बलवती धारा मार्क्सवादी है। इसके प्रमुख अन्वेषक सर्वश्री शिवदानसिंह चौहान, नरेन्द्र शर्मा, रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध आदि हैं। एक हद तक हिन्दी के अनेक लेखक इस विचार-धारा से प्रभावित हुए हैं। व्यक्ति को सामा-जिक परिस्थितियों से अलग काट कर देखने का प्रयत्न अब हिन्दी साहित्य में कम हो रहा है। मार्क्सवादी आलोचक कला को सम्पूर्ण सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था और उसके विकास का अङ्ग मानते हैं। वे कला को एक ऐतिहासिक ढाँचे में रख कर देखते हैं। व्यक्ति की प्रतिभा को स्वीकार करते हुए वे उन परिस्थितियों की विवेचना करते हैं जो कलाकार के व्यक्तित्व को अनुप्राणित करती हैं अथवा कुण्ठित करती हैं। साहित्य को सामाजिक विकासक्रम का दर्पण मानते हुए वे यह भी स्वीकार करते हैं कि कला समाज और राजनीति की गति को प्रभावित कर सकती है। अतएव वे कला को समाज की प्रगतिगामी शक्तियों में परिणत करना चाहते हैं। इस ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टिकोण से मार्क्सवादी आलोचकों ने हिन्दी साहित्य का निरन्तर

मूल्यांकन किया है। इस प्रयास में शिवदानसिंह चौहान के निबन्ध-संग्रह 'प्रगतिवाद' का विशेष उल्लेख जरूरी है। यह समाजवादी आलोचना शैली हिन्दी साहित्य में एक अभिनव प्रयास है। चौहान अपनी आलोचनाओं में कला और साहित्य के मूल स्रोत तक पहुँचना चाहते हैं; संस्कृति और कला का निर्माण और विकास किन परिस्थितियों में हुआ, इसकी परीक्षा करते हैं और गहरी पैनी दृष्टि साहित्य के रूपों पर डालते हैं। आपने आलोचना-शास्त्र और छायावाद की सामाजिक पृष्ठभूमि का विशेष अध्ययन किया है।

नरेन्द्र शर्मा ने समाजवादी दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डाली है और विशेष रूप से आधुनिक हिन्दी कविता का अध्ययन किया है।

रामविलास शर्मा ने प्रेमचन्द, भारतेन्दु युग और विशेषकर आजकल के साहित्य पर लिखा है। आप अपनी आलोचना में विषय-वस्तु पर निर्ममता से दृष्टि केन्द्रित करते हैं। आपके व्यंग और तीखी शैली से आपका शिकार तिलमिला उठता है।

मार्क्सवादियों ने आलोचना-शास्त्र और आधुनिक साहित्य पर ही अधिकतर लिखा है। इस दृष्टिकोण से पुराने साहित्य की विवेचना अभी बहुत कम हुई है।

इन्हीं दिशाओं में हिन्दी के आलोचक आजकल बढ़ रहे हैं।

२६. शिवदानसिंह चौहान

चौहान जी के आलोचनात्मक ग्रंथ हैं 'साहित्य की परख', 'प्रगतिवाद' और 'हिन्दी का गद्य साहित्य'। इनके अलावा 'काश्मीर : देश और संस्कृति' में भी कुछ साहित्यविषयक सामग्री है। 'हंस' के संपादन काल में और अब 'आलोचना' त्रैमासिक के संपादन काल में हिन्दी समीक्षा को उनकी देन अद्वितीय है। शिवदानसिंह चौहान का सबसे

बड़ा कार्य यह है कि उन्होंने भी हिंदी की प्रगतिवादी समीक्षा को संतुलन की दृष्टि दी है। इस पुस्तक में अन्यत्र रामचन्द्र शुक्ल पर शमशेरबहादुरसिंह के 'दो अथ' पर उनकी आलोचना के उद्धरण देकर उनकी शैली के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

शिवदान जी की 'साहित्य की परख' पुस्तक में प्रथम बार हिंदी की आधुनिक समीक्षा में मार्क्सवादी, फ्रायडवादी तथा अन्य पद्धतियों का सूक्ष्म और गम्भीर विवेचन मिलता है। उनकी दृष्टि के पीछे मार्क्स के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के दर्शन और तर्कवाद का परिपक्व अध्ययन तथा उसके साथ ही-साथ कोरी राजनैतिक मतावली की साहित्य में पुनःस्थापना नहीं, बल्कि साहित्य और समाज-जीवन के अन्योन्याश्रय का विशद और मूलग्राही विवेचन पाया जाता है। यह सच है कि निषेध के सिद्धान्त के प्रयोग में वे कहीं-कहीं चूक गये हैं। परन्तु कला-सृजन की प्रक्रिया में जो द्वंद्वात्मकता निहित है, वे ठीक ठीक समझते हैं।

चौहान का 'प्रगतिवाद' उनका सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। इसमें ही उनके दृष्टिकोण का सर्वोत्तम परिपाक हुआ है। यद्यपि इसमें कहीं-कहीं राज-नैतिक मताग्रह तीव्र हो उठा जान पड़ता है। कुछ स्थानों पर कुछ नेता-गिरी का सा अनावश्यक दंभ भी दिखाई देता है। फिर भी हिंदी समीक्षा में इस विषय की यह सर्वोत्तम प्रामाणिक पुस्तक है। इसी लिए हिंदी की समीक्षा को प्रगति की दिशा दिखाने का सर्वाधिक श्रेय जिन दो व्यक्तियों को है, यानी रामविलास शर्मा और चौहान जी, उनका इधर आकर वितंडा में उलझना और परस्पर के प्रति अनावश्यक कटुता व्यक्त करना साहित्य-समीक्षा की प्रगति के विस्तृत परिपार्श्व में हितावह घटना नहीं है। प्रश्न मूलतः यह नहीं है कि दोनों में से त्रातस्कीवादी कौन है या नहीं है? (शायद दोनों ने ही त्रातस्की के 'लिटरेचर एंड रिवोल्यूशन' को पढ़ा है और प्रेरणा भी ली है)—अराजकता-

वाद के प्रश्न को साहित्य में राजनीति से भिन्न ढंग से सोचना होगा। मेरा अपना मत यह है कि कलाकार आज की समाज की परिस्थितियों में कुछ अंशों में अराजकतावादी (शुद्ध दार्शनिक अर्थ में) अवश्य होगा। विशेषतः भारतीय परंपरा से टूटकर यदि वह एकदम अस्तित्ववादी अथवा किसी राजनैतिक मतवाद के चक्र से बँधा हुआ क्रीतदास नहीं है तो अराजकतावाद के कुछ बीज तो उसकी रचना में मिलेंगे ही। अब आलोचक का कर्तव्य क्या हो जाता है ? क्या वह उसकी उपेक्षा करे ? या उसको अनुल्लेख से टाले ? या उस पर आक्रोश करे ? या 'मया जितं, मया जितं' चिल्लाये ?

काडवेल के मार्क्सवाद के अतिरिक्त जान डिवी के 'आर्ट एंड एक्स्पीरियन्स' से शिवदानसिंह प्रभावित हैं। सार्त्र के 'वाट इज़ लिटरेचर ?' के विषय में भी वे अपने मंतव्य कभी प्रकाशित करेंगे, ऐसी आशा है। चौहान जी हिंदी समीक्षा के भविष्य के आलोकसंपन्न प्रकाश-स्तंभ हैं।

है, उसका आनन्द निराला होता है। क्योंकि तब आँवला आँवला न रहकर मुरब्बा का रूप धारण कर लेता है। इसी से भरत कहते हैं कि अनेक भावों और अभिनयों से व्यंजित स्थायी भावों का आनन्द सहृदय दर्शक लूटते हैं, और प्रसन्न होते हैं (नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्च गच्छन्ति।—नाट्यशास्त्र)

मानस शास्त्र भी इसे मानता है और इसको आदर्श-निर्माण (ideal construction) कहता है। मिल्टन का इस सम्बन्ध में कहना है कि मैं तो आघातमात्र करता हूँ। संगीत-निर्माण का कार्य तो श्रोता पर ही छोड़ देता हूँ। यह उपर्युक्त विचार की ही विदेशी ध्वनि है।

अभिनवगुप्त कहते हैं :—'काव्य वृक्ष-रूप है, अभिनय आदि नट का व्यापार पुष्प-स्थानीय है और सामाजिकों का रसास्वाद फलस्वरूप है।' भाव यह कि काव्यगत रूप तक रस निर्माण नहीं होता, होता है रसिकों के हृदय में। विचेस्टर भी यही बात कहते हैं कि 'पहले तो कवि-निर्मित काव्य में भावात्मक साधन होते हैं। फिर उसको पढ़कर हम समझते हैं कि वह हम में कहाँ तक भावों को जागृत करता है। काव्य-गत सामग्री का प्रयोजन पाठकों के लिए रसोदय होना है। अभिप्राय यह कि कवि रसानुकूल पात्रों का निर्माण करता है। अनन्तर वह काव्य के पात्रों में भावों को भरता है, जिससे हम कहते हैं कि काव्य में रस है। किन्तु उसका परिणाम काव्य तक ही सीमित नहीं। वह सहृदयों के हृदय में ही उमड़ कर विश्रान्ति पाता है। सारांश यह कि इस अवस्था को पहुँचने पर ही वह अलौकिकता को प्राप्त करता है। कवि और काव्य तक उसका रूप लौकिक ही रहता है।

दर्पणकार ने रस के अलौकिकत्व के नीचे लिखे अनेक कारण दिये हैं :—

(१) लौकिक पदार्थ ज्ञाप्य होते हैं, अर्थात् दूसरी वस्तुओं के द्वारा

उनका ज्ञान होता है। पर रस ज्ञाप्य नहीं होता। क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित—प्रतीति के अयोग्य नहीं होता। अर्थात् जब होता है, तब अवश्य प्रतीत होता है। घट, पट आदि लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक अर्थात् ज्ञान कराने वाले दीपक आदि से प्रकाशित होते हैं, वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखा सकता। परन्तु रस ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रतीति के बिना रस की सत्ता ही नहीं रहती। इससे रस अलौकिक है।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है। क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान के पूर्व रस-संवेदना होती ही नहीं, और नित्य वस्तु असंवेदन काल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, तब भी नष्ट नहीं होती। रस ज्ञानकाल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। अतः उसे नित्य भी नहीं कह सकते। अतः लोक-वस्तु भिन्न-धर्मा है, अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ कार्य-रूप होते हैं पर रस कार्यरूप नहीं है। क्योंकि रस विभावादिसमूहालंबनात्मक होता है। अर्थात्, विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभाव आदि का ज्ञान होता। कारण यह कि विभावादि के ज्ञान के बाद ही रस-निष्पत्ति होती है। लौकिक कार्य में कारण और कार्य एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभाव आदि को कारण मानें और रस को कार्य, तो इनकी प्रतीति एक साथ न होनी चाहिए। किन्तु रस-प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अतः विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नहीं, और इसके अतिरिक्त अन्य कारण संभव नहीं। अतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि रसास्वाद के समय विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही स्थायी भाव रस-रूप में प्रतीत होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस

अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं, पर रस न तो भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है? पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान है। क्योंकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएं इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जब कि वह आनन्दघन और प्रकाश रूप साक्षात्कार अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अतः रस अलौकिक है।

इस प्रकार दर्पणकार ने रस की अलौकिकता के अन्य अनेक कारण दिये हैं। उनकी जटिलता के कारण यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि काव्यानुभूतिरस एक विलक्षण अनुभूति है। रिचर्ड्स ऐन्द्रिय ही क्यों न कहें, परन्तु ऐन्द्रिय ज्ञानों की अपेक्षा असाधारण है। क्योंकि यह भावना से प्राप्त भावित (Contemplated) अनुभूति होती है। ऐन्द्रिय ज्ञान की स्थूलता प्रत्यक्षता इसमें अधिकतर नहीं रहती। रस आत्मानन्द रूप होता है। 'रसो वै सः'। अनुभूति वा संवेदन सूक्ष्म रूप से होता है, पर चित्तद्रुति के कारण वह व्यापक और विस्तृत होता है। साधारणतः ऐन्द्रिय ज्ञान का यह रूप नहीं होता। यद्यपि इस अनुभूति के लिए रिचर्ड्स के कथनानुसार इन्द्रिय-विशेष का निर्माण नहीं है, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता है कि रसानुभूति अमुक इन्द्रिय से होती है। हमारे यहाँ मन को भी इन्द्रिय माना गया है और रस मानस-प्रत्यक्ष होता है। सहृदयता ही इस अनुभूति में सहायक है। यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि रस लौकिक सुख की अपेक्षा असाधारण सुख है और एक मात्र अन्तःकरण की वृत्ति है। इसकी तह में पैठना साधारण नहीं। इसकी अनिर्वचनीयता मान्य है।

अन्त में अभिनव गुप्त की यही बात कहनी है कि रसना आस्वाद-

उनका ज्ञान होता है। पर रस ज्ञाप्य नहीं होता। क्योंकि अपनी सत्ता में कभी व्यभिचरित—प्रतीति के अयोग्य नहीं होता। अर्थात् जब होता है, तब अवश्य प्रतीत होता है। घट, पट आदि लौकिक पदार्थ अपने ज्ञापक अर्थात् ज्ञान कराने वाले दीपक आदि से प्रकाशित होते हैं, वैसे ही उनके विद्यमान रहने पर भी कभी-कभी ज्ञान नहीं होता। ढके हुए पदार्थ को दीपक नहीं दिखा सकता। परन्तु रस ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रतीति के बिना रस की सत्ता ही नहीं रहती। इससे रस अलौकिक है।

(२) लौकिक वस्तु नित्य होती है पर रस नित्य नहीं है। क्योंकि विभाव आदि के ज्ञान के पूर्व रस-संवेदना होती ही नहीं, और नित्य वस्तु असंवेदन काल में अर्थात् जब वस्तु का ज्ञान नहीं रहता, तब भी नष्ट नहीं होती। रस ज्ञानकाल में ही रहता है, अन्य काल में नहीं। अतः उसे नित्य भी नहीं कह सकते। अतः लोक-वस्तु भिन्न-धर्मा है, अलौकिक है।

(३) लौकिक पदार्थ कार्य-रूप होते हैं पर रस कार्यरूप नहीं है। क्योंकि रस विभावादिसमूहालंबनात्मक होता है। अर्थात्, विभाव आदि के साथ रस सामूहिक रूप से एक ही साथ प्रतीत होता है। यदि रस कार्य होता तो उसका कारण विभाव आदि का ज्ञान होता। कारण यह कि विभावादि के ज्ञान के बाद ही रस-निष्पत्ति होती है। लौकिक कार्य में कारण और कार्य एक साथ नहीं दीख पड़ते। अब यदि विभाव आदि को कारण मानें और रस को कार्य, तो इनकी प्रतीति एक साथ न होनी चाहिए। किन्तु रस-प्रतीति के समय विभाव आदि की भी प्रतीति होती रहती है। अतः विभाव आदि का ज्ञान रस का कारण नहीं, और इसके अतिरिक्त अन्य कारण संभव नहीं। अतः रस किसी का कार्य नहीं हो सकता। कहने का अभिप्राय यह कि रसास्वाद के समय विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के साथ ही स्थायी भाव रस-रूप में व्यक्त होता है, जो लौकिक कार्य के विपरीत है। इससे रस

अलौकिक है।

(४) लौकिक पदार्थ भूत, वर्तमान या भविष्यत् होते हैं, पर रस न तो भूत, न वर्तमान और न भविष्यत् ही होता है। यदि ऐसा होता तो जो वस्तु हो चुकी उसका साक्षात्कार आज कैसे हो सकता है? पर ऐसा होता है। ज्ञाप्य और कार्य न होने के कारण रस वर्तमान है। क्योंकि वर्तमान में लौकिक वस्तुएं इन्हीं दो रूपों में होती हैं। भविष्यत् भी उसे कैसे कहें जब कि वह आनन्दघन और प्रकाश रूप साक्षात्कार अनुभव का विषय होता है। भविष्यत् की वस्तु वर्तमान में नहीं देखी जाती। अतः रस अलौकिक है।

इस प्रकार दर्पणकार ने रस की अलौकिकता के अन्य अनेक कारण दिये हैं। उनका जटिलता के कारण यहाँ उल्लेख अनावश्यक है।

मनोवैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि काव्यानुभूतिरस एक विलक्षण अनुभूति है। रिचर्ड्स ऐन्द्रिय ही क्यों न कहें, परन्तु ऐन्द्रिय ज्ञानों की अपेक्षा असाधारण है। क्योंकि यह भावना से प्राप्त भावित (Contemplated) अनुभूति होती है। ऐन्द्रिय ज्ञान की स्थूलता प्रत्यक्षता इसमें अधिकतर नहीं रहती। रस आत्मानन्द रूप होता है। 'रसो वै सः'। अनुभूति वा संवेदन सूक्ष्म रूप से होता है, पर चित्तद्रुति के कारण वह व्यापक और विस्तृत होता है। साधारणतः ऐन्द्रिय ज्ञान का यह रूप नहीं होता। यद्यपि इस अनुभूति के लिए रिचर्ड्स के कथनानुसार इन्द्रिय-विशेष का निर्माण नहीं है, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता है कि रसानुभूति अमुक इन्द्रिय से होती है। हमारे यहाँ मन को भी इन्द्रिय माना गया है और रस मानस-प्रत्यक्ष होता है। सहृदयता ही इस अनुभूति में सहायक है। यह डंके की चोट कहा जा सकता है कि रस लौकिक सुख की अपेक्षा असाधारण सुख है और एक मात्र अन्तःकरण की वृत्ति है। इसकी तह में पैठना साधारण नहीं। इसकी अनिर्वचनीयता मान्य है।

अन्त में अभिनव गुप्त की यही बात कहनी है कि रसना आस्वाद-

बोध रूप होती है। किन्तु लौकिक अन्य बोधों की अपेक्षा विलक्षण है। क्योंकि विभाव आदि उपाय लौकिक उपायों से विलक्षण होते हैं। विभाव आदि के संयोग से रसास्वाद है। अतः उस प्रकार रसास्वाद के गोचर होने के कारण रस लोकोत्तर या अलौकिक है। "रसना बोधरूपैव। किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैवबोपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना, यतो निष्पद्यतेऽतः तथाविधरचनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य।
—भरतसूत्र टीका"

इसी रस की अलौकिकता और साथ ही लौकिकता में से साधारणीकरण की समस्या उत्पन्न होती है। 'साधारणीकरण : क्या और किसका ?' लेख में प्रो० अम्बाप्रसाद 'सुमन' ने 'रस-निष्पत्ति' पर चारों प्राचीन आचार्यों का और आधुनिक हिन्दी समीक्षकों का सुन्दर विवेचन किया है। 'हिन्दी अनुशीलन' में छपे उनके लेख का यह अवतरण इस समस्या को बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट करेगा—

आचार्य भरत मुनि के सूत्र—विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्तिः—में 'रस-निष्पत्ति' की व्याख्या करने के लिए जो चार आचार्य (लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त) उठे, उनमें रस-विवेचन के साथ-साथ साधारणीकरण के स्वरूप को समझाने वाले प्रथम आचार्य भट्टनायक ही हैं।

लोल्लट दर्शक में रस की उत्पत्ति मानते हैं। वे 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' करते हैं। उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहलाता है। भट्ट लोल्लट के मतानुसार विभावादि और रस में कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

शंकुक दर्शक में रस की अनुमिति (अनुमित) मानते हैं। वे निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमति' करते हैं। उनका मत अनुमितिवाद कहलाता है। शंकुक के मतानुसार विभावादि और रस में अनुमापक-अनुमाप्य सम्बन्ध है।

भट्टनायक दर्शक में रस की भुक्ति मानते हैं। उनका मत 'भुक्तिवाद'

कहलाता है। भट्टनायक के अनुसार विभावादि और रस में भोजक-भोज्य सम्बन्ध है। अपने मत को सिद्ध करने के लिए आचार्य भट्ट-नायक ने शब्द-शक्तियों में अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व को भी स्वीकार किया है।

अभिनवगुप्त व्यक्तिवादी (अभिव्यक्तिवादी) हैं। उनका मत मनो-वैज्ञानिक है। उनका कथन है कि समस्त स्थायीभाव वासना रूप से सब सहृदयों के हृदयों में विद्यमान रहते हैं। विभावादि के द्वारा वे निष्क्रिय अथवा सुप्त स्थायीभाव जाग्रत् रूप में अभिव्यक्त होकर रसरूप को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार पीली मिट्टी में पानी पड़ते ही उसकी गन्ध अभिव्यक्त होने लगती है, ठीक उसी प्रकार दर्शक के हृदय-स्थित स्थायी-भाव दृश्य विशेष के दिखने पर रस रूप में उद्बुद्ध हो जाते हैं।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद ही इस युग में सर्वमान्य है। वैसे शेष तीन आचार्यों के वाद भी अपना बहुत-कुछ महत्व रखते हैं।

आचार्य भट्टनायक का कथन है कि दर्शक अभिधा शक्ति से नायक-नायिका (नट-नटी) के संवादों का अर्थ ग्रहण करता है और फिर भावकत्व शक्ति से उनका भावन (मनन-चिन्तनपूर्वक आत्मरमण) होता है। अर्थात् जो भाव काव्यगत नायक-नायिका में व्यक्तिगत सम्बन्ध के कारण होते हैं, वे नाटक देखने अथवा काव्य-पठन से सहृदय पाठक में साधारणीकृत हो जाते हैं। उनमें से ममत्व तथा परत्व की भावना निकल जाती है। वे भाव सभी सहृदय पाठकों के लिये सामान्य रूप धारण कर लेते हैं। भट्टनायक के अनुसार हम कह सकते हैं कि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' पढ़ते समय दुष्यन्त का शकुन्तला के प्रति जो रतिभाव है, वह सहृदय पाठक के लिये शुद्ध सात्विक रतिभाव बन जायगा। उस भाव की अनुभूति सभी पाठकों में उसी रूप से होगी। प्रत्येक पाठक के लिये शकुन्तला केवल स्त्री मात्र होगी। वहाँ दुष्यन्त-शकुन्तला का पारस्परिक सम्बन्ध तो बिल्कुल निकला हुआ होगा। भट्ट नायक के इस मत का समर्थन करते हुए "काव्य-प्रकाश टीका" में

प्रदीपकार लिखते हैं कि भावकत्व का अर्थ ही साधारणीकरण है। इसी भावकत्व नाम के व्यापार से विभावादि तथा स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है। सीता आदि विशेष पात्रों को साधारण स्त्री समझ लेना ही साधारणीकरण है। प्रदीपकार के शब्दों में :—

"भावकत्वं साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादीनां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीनां सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन"—का० प्र० टीका।

'अभिनव भारती' के लेखक आचार्य अभिनवगुप्त का मत भी भट्टनायक के मत से मिलता है। वे आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, स्थायी और सञ्चारीभाव आदि सबका साधारणीकरण मानते हैं।

'रस गंगाधर' के रचयिता पं० जगन्नाथ साधारणीकरण को नहीं मानते। उनका मत भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त से भिन्न है। उनका कथन है कि पाठक या दर्शक दुष्यन्त आदि के साथ अपनी आत्मा का अभेद तभी समझता है जब कि शकुन्तला आदि की विशेषता निवृत्त करने के लिये किसी दोष की कल्पना कर ली गई हो।

साधारणीकरण क्या है और किसका होता है इसके सम्बन्ध में हिन्दी के कुछ विद्वानों के मत पठनीय हैं।

आचार्य शुक्ल आलम्बन का साधारणीकरण मानते हुए पाठक या दर्शक का आश्रय के साथ तादात्म्य भी मानते हैं। शुक्ल जी समन्वयवादी थे। वे अपनी आलोचना-पद्धति में पूर्व के स्थान पश्चिम को लेकर भी चले हैं। वे जहाँ अभिनवगुप्त और विश्वनाथ से प्रभावित हैं, वहाँ पाश्चात्य समीक्षकों से भी। पाश्चात्य समीक्षकों ने आश्रय के साथ पाठक के तादात्म्य वाली बात पर अधिक जोर दिया है। अतः तादात्म्य की बात भी शुक्ल जी ने आलम्बन के साधारणीकरण के साथ कही है।

साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में

जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भावों का आलम्बन हो जाती है (चिन्तामणि, भाग १ में "साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद" से)।

इसी सम्बन्ध में शुक्लजी ने आश्रय के साथ तादात्म्य और आलम्बन के साथ साधारणीकरण की बात कही है। वे रसात्मकता में मध्यकोटि भी निश्चित करते हुए उसी निबन्ध में एक स्थल पर इस प्रकार लिखते हैं :—

"कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र यदि किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध रसात्मक संसार न होगा बल्कि क्रोध प्रदर्शित करने वाले उस पात्र के प्रति अश्रद्धा, घृणा आदि का भाव जगेगा। ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शील द्रष्टा या प्रकृति द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा। और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे।" (चिन्तामणि, भाग १ से)

यहाँ शुक्ल जी का विचार है कि आश्रय के साथ पाठक का तादात्म्य जहाँ होता है, वहाँ तो उत्तम कोटि की रसात्मकता होती है, और जहाँ आश्रय के साथ तादात्म्य या सहानुभूति नहीं होती वहाँ मध्यम कोटि की रसात्मकता होती है। शुक्लजी की 'आश्रय के साथ तादात्म्य' वाली बात कुछ समझ में नहीं आती है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में 'तादात्म्य' शब्द का प्रयोग भी अनुपयुक्त तथा भ्रमात्मक सा है। यदि साधारणीकरण की अवस्था में पाठक आश्रय के साथ तादात्म्य करेगा तो 'रामचरित मानस' में 'पुष्पवाटिका' के प्रसङ्ग को पढ़कर प्रत्येक सहृदय पाठक सीता को पत्नी के रूप में देखने लगेगा। परन्तु ऐसा होना असम्भव ही है। राम के साथ पाठक तादात्म्य नहीं कर सकते। कंगला तेली राजा भोज कभी नहीं बन सकता। राम राम ही रहेंगे,

और मानव मानव ही।

डा० श्यामसुन्दरदास जी भावक या पाठक का साधारणीकरण मानते हैं। उनके मत से साधारणीकरण की अवस्था योग की मधुमती भूमिका के समान है। उनका कथन है कि पाठक का हृदय साधारणीकरण करता है। साधारणीकरण की अवस्था में प्राणी या वस्तु के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसका नितान्त अनस्तित्व रहता है। मधुमती भूमिका क्या है? इसे पंडित केशवप्रसाद जी ने अपने 'मेघदूत' (कालिदासकृत 'मेघदूत' के हिन्दी पद्यानुवाद की भूमिका) में इन शब्दों में स्पष्ट किया है :—

मधुमती भूमिका चित्त की वह विशेष अवस्था है जिसमें तर्क की सत्ता नहीं रह जाती। वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों के भेद का अनुभव करना ही वितर्क है।

योग की मधुमती भूमिका साधनात्मक है। उसमें काव्य की सी रागात्मकता एवं सरसता कहाँ है? काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर होते हुए भी इसी लोक से सम्बद्ध है कि मधुमती भूमिका यदि नितान्त अलौकिक नहीं तो पारलौकिक अवश्य है। अतः साधारणीकरण की अवस्था को मधुमती भूमिका के समान बताना उसकी खींचतान ही करना है।

बाबू गुलाबराय जी आश्रय का साधारणीकरण मानते हैं। परन्तु उनका कथन है कि आलम्बन और आश्रय सापेक्ष हैं। एक भाव के आधार पर जो आश्रय होगा, वह दूसरे भाव के दृष्टिकोण से नहीं होगा। इसके अतिरिक्त वे सम्बन्ध, पाठक, कवि, भाव आदि का भी साधारणीकरण मानते हैं :—

'साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। ....., कवि भी अपने निज व्यक्तित्व से उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व

के क्षुद्र बन्धनों को तोड़कर लोकसामान्य भावभूमि पर आ जाता है। . . . . . . भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनमें भी 'अयं निजः परो वा' की भावना आ जाती है।" ('सिद्धान्त और अध्ययन' से)

अब प्रश्न उठता है कि वास्तव में साधारणीकरण किसका होता है? साधारणीकरण न आलम्बन का होता है और न आश्रय का। वह तो कवि के भावों का हुआ करता है। इसमें भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों का खंडन नहीं होता।

संस्कृत के आचार्यों ने जिसे रसाभास अथवा भावाभास कहा है, उसे शुक्लजी रसात्मकता की मध्यम कोटि मानते हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी निरपराध दीन पर क्रोध करता है, तो उसके क्रोध का आलम्बन उचित एवं उपयुक्त नहीं। अतः ऐसे स्थलों पर काव्य में रौद्ररस न होगा, बल्कि रौद्ररसाभास होगा। 'रामचरितमानस' का 'लक्ष्मण-परशुरामसंवाद' रौद्ररसाभास का ही एक उदाहरण है। वहाँ परशुराम के क्रोध के आलम्बन (लक्ष्मण) उपयुक्त नहीं। ऐसी परिस्थिति में शुक्लजी ने जो रसानुभूति की मध्यम कोटि मानी है, वह उचित नहीं है। रसानुभूति में कोटियाँ कहाँ? रस तो ब्रह्मानन्द-सहोदर है। अतः अखण्ड, अविभक्त और अभेद्य है।

साधारणीकरण की अवस्था उत्पन्न करने में कवि की अनुभूति की गहराई और अभिव्यंजना का कौशल बहुत काम करते हैं। जो कवि मानव-जगत् के परमप्रिय, व्यापक एवं सर्वसाधारण-गृहीत भावों को लेकर कविता की सृष्टि करेगा अर्थात् जिसे लोकहृदय की पहिचान होगी, वही कवि अपनी कविता में साधारणीकरण की शक्ति रख सकेगा। अस्थायी एवं परिवर्तनशील भावनाओं पर आश्रित काव्य में शाश्वत रूप से साधारणीकरण की शक्ति नहीं आ सकती। आज गाँधीवाद के प्रभाव से अछूतोद्धार सम्बन्धी कविताओं में साधारणीकरण भले ही मिल जाय, परन्तु आज से सौ-दो-सौ वर्ष उपरान्त जब कि देश की दशा बिल्कुल

परिवर्तित हो जायगी, उनमें साधारणीकरण का नाम तक नहीं मिलेग

काव्यों में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ किसी पाठक का आश्र के साथ और किसी का आलम्बन के साथ साधारणीकरण होता है एक बार श्रद्धेय बाबू गुलाबरायजी से साधारणीकरण के सम्बन्ध में लेखक का वार्तालाप हुआ था। प्रसङ्गवश रामचरितमानस में 'रावण-मन्दोदरी संवाद' पर बातचीत होने लगी। बाबूजी ने कहा—"यहाँ रावण के साथ साधारणीकरण होता है।" परन्तु मैंने कहा—"मेरे विचार से मन्दोदरी के साथ साधारणीकरण हो रहा है।" इस मतभिन्नता का कारण बाबूजी ने रुचि एवं संस्कारों की भिन्नता बताई।

मैं समझता हूँ कि महात्मा तुलसीदास स्वयं ऐसे स्थलों पर तटस्थ बन गये हैं। यदि कवि चाहता तो वह किसी एक (रावण अथवा मन्दोदरी) को ऐसे रूप में अभिव्यञ्जित कर सकता था कि एक विशिष्ट भाव का ही साधारणीकरण हो जाता। सभी सहृदय पाठकों की भाव-भूमि में या तो रावण ही विराजता या मन्दोदरी ही सुशोभित होती है। अतः सिद्ध है कि कवि के भावों का ही साधारणीकरण होता है।

: ३ :

अन्त में प्रश्न उठ सकता है कि बाबू गुलाबराय की समालोचना कौन सी श्रेणी में आती है ? यह स्पष्ट है कि उनकी आलोचना अधिकतर व्याख्यात्मक होती है। वे सिद्धान्तों का भी परिचय देते जाते हैं और मूल्यों का भी वैसे ध्यान रखते हैं; फिर भी उनका प्रधान उद्देश्य साहित्यिक विद्यार्थियों को साहित्य-समालोचना विषयक समस्याओं की जानकारी देना और विभिन्न मतों का यथासम्भव समन्वय प्रस्तुत करना होता है। उन्हीं के शब्दों में, वे 'समालोचना के मान' में पृ० २४६ से २५२ तक कहते हैं—

"लक्ष्य ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण ग्रन्थों का निर्माण होता है। अरस्तू ने अपने समय के नाटकों के आधार पर ही नियम बनाये थे। यदि उसके नियमों पर शेक्सपीयर के नाटकों की परीक्षा की जाय तो वे

.. न उतरेंगे। यूनानी नाटकों के सङ्कलन-त्रय (Three Unities) नियम का निर्वाह शेक्सपीयर के 'टेम्पेस्ट' और शायद एक और नाटक ही हो सका था। इस कारण शेष हेय नहीं कहे जा सकते। आजकल .. त्रय (काल-सङ्कलन, स्थल-सङ्कलन और कार्य-सङ्कलन) की ओर .. ों का फिर झुकाव हो चला है। डाक्टर रामकुमार वर्मा के .. नाटकों में इनका अच्छा निर्वाह है। भरतमुनि और धनञ्जय ने नियम बनाये थे उनका पालन भवभूति के उत्तररामचरित में ही नहीं .; उसमें दो अङ्कों के बीच का समय बारह वर्ष का कर दिया गया। (नियम एक वर्ष से अधिक के समय की आज्ञा नहीं देते) भवभूति समय से तो अब गङ्गाजी में बहुत पानी बह गया है। अब न तो .. का वह मान रहा (प्राचीन आदर्शों के अनुकूल नायक का .. होना आवश्यक था) और न सुखान्त होने का आग्रह। अब .. ों और अवस्थाओं तथा प्रस्तावना आदि का भी बन्धन नहीं रहा। .. साहित्य को नियमों की लौह-शृङ्खला में बाँधने की कठिनाई कारण आलोचना के मान लचीले बनाये गये। आलोचना का आदर्श .. नियमों के आधार पर निर्णय देने का न रहकर कवि के आदर्शों ही प्रधानता देना हो गया। आलोचक के सामने अब यह प्रश्न है कि . का क्या उद्देश्य था, वह क्या कहना चाहता था, और उसने अपने .ेश्य का किस प्रकार निर्वाह किया। जो कुछ वह कहना चाहता था, कहाँ तक कहने योग्य था, इसका भी उल्लेख हुआ किन्तु इस पर .. पीछे ही दिया गया। इस प्रकार की आलोचना को व्याख्यात्मक वैज्ञानिक (Inductive) आलोचना कहते हैं।

व्याख्यात्मक आलोचना का विशेष विवेचन मोल्टन (Moulton) किया है। उन्होंने निर्णयात्मक आलोचना और व्याख्यात्मक आलोचना तीन भेद बतलाये हैं। पहला भेद तो यह है कि निर्णयात्मक .. । उत्तम-मध्यम का श्रेणी-भेद (जैसा ध्वनिकाव्य और गुणीभूत में है) स्वीकार नहीं करती है। व्याख्यात्मक आलोचना केवल

प्रकार-भेद मानती है। वह वैज्ञानिक की भाँति वर्गभेद तो करती है किन्तु उनमें ऊँच-नीच का भेद नहीं बतलाती। वैज्ञानिक लोग मञ्जरी वाले नाज (जैसे गेहूँ, जौ आदि) फली वाले नाज (जैसे चने, मटर, उरद) की विशेषताएँ बतला देंगे किन्तु उनके आधार पर किसी को नीचा और किसी को ऊँचा नहीं ठहरायेंगे।

निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना का दूसरा भेद यह है कि निर्णयात्मक आलोचना नियमों को राजकीय नियमों की भाँति किसी अधिकार से दिया हुआ मानती है और उसका पालन अनिवार्य समझती है किन्तु व्याख्यात्मक आलोचना उन नियमों को अधिकार द्वारा आरोपित नहीं मानती, वरन् वे उसकी ही प्रकृति के नियम हैं। पृथ्वी अपनी ही गति और नियम से चलती है, किसी बाहरी अधिकारी के बनाये नियम पर वह चक्कर नहीं काटती। नियम बाहर से लगाये हुए नहीं हैं वरन् गति की एकाकारिता के सूत्र हैं, इसलिए सब कवियों को एक लाठी से नहीं हाँका जा सकता। हर एक कवि के उसकी प्रकृति और आत्म-भाव के अनुकूल पृथक्-पृथक् नियम होंगे। इस बात को हम यों कह सकते हैं कि व्याख्यात्मक आलोचना लेखक और कवि के आत्मभाव की विशेषताओं को स्वीकार करती है और निर्णयात्मक आलोचना उसे नियमों की निर्जीव पत्थर की कसौटी पर कसना चाहती है।

तीसरा भेद दूसरे भेद का फलस्वरूप है। वह यह कि निर्णयात्मक आलोचना नियमों को अगतिशील मानती है और व्याख्यात्मक आलोचना नियमों को प्रगतिशील बतलाती है।

व्याख्यात्मक आलोचना के सबसे बड़े प्रचारक शुक्लजी हैं, किन्तु उनकी आलोचना में व्याख्या के साथ मूल्य का भी प्रश्न लगा हुआ है। लोक-संग्रह के आधार पर ही उन्होंने तुलसी, सूर और जायसी को श्रेणीबद्ध किया है।

वास्तव में निर्णयात्मक और व्याख्यात्मक आलोचना बहुत अंश में एक दूसरे पर निर्भर रहती है। बिना व्याख्या के निर्णय में यथार्थता

आती है। व्याख्या में भी थोड़ा-बहुत शास्त्रीय नियमों का सहारा पड़ता है और किसी अंश में श्रेणी-विभाजन भी हो जाता है। वैज्ञानिक भी जहाँ चने, गेहूँ, टमाटर या पालक में जाति-विभाग है वहाँ यह भी बतला देता है कि किसमें जीवन के पोषक-तत्व हैं। यही मूल्य-सम्बन्धी आलोचना है। इसमें श्रेणी-विभाजन जाता है किन्तु परीक्षक-के से नम्बर देना आलोचक का ध्येय न चाहिए।

प्रभाववादी आत्म-प्रधान आलोचना और निर्णयात्मक आलोचनाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। स्पिन्गार्न ने इन्हें आलोचना के दो लिङ्ग है।

मूल्य-सम्बन्धी आलोचना के विवेचन से पूर्व हम व्याख्यात्मक की सहायिका रूप से उपस्थित होवे वाली आलोचना-पद्धतियों उल्लेख कर देना चाहते हैं। वे हैं ऐतिहासिक (Historical) मनोवैज्ञानिक (Psychological) आलोचना और (Comparative) आलोचना। ऐतिहासिक आलोचना का फ्रांसीसी आलोचक टेन (Taine) से हुआ। उसने बतलाया कवि या लेखक अपनी जातीय मनोवृत्ति (Race), परिस्थिति और (Milieu) और समय (Moment) का अर्थात् जातीय के उस रूप का जो उस समय विकसित होकर व्याप्त हो जाता फल होता है। लेखक या कवि अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों से तो प्रभावित होता है और जातीय मनोवृत्तियों को भी पैतृक सम्पत्ति के रूप में ग्रहण करता है किन्तु वह स्वयं भी कुछ विशेषता रखता है। यह मनोवैज्ञानिक आलोचना का विषय बन जाता है। इस प्रकार ऐतिहासिक आलोचना जहाँ बाहरी परिस्थितियों का विवेचन करती है वहाँ मनोवैज्ञानिक आलोचना आन्तरिक प्रेरक शक्तियों का उद्‌घाटन करती है। आचार्य श्यामसुन्दरजी तथा आचार्य शुक्लजी के इतिहास इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कवि और लेखक पर बहुत कुछ समय और परिस्थिति की ०
रहती है, वह अपने समय की उपज होता है किन्तु वह समय की गति
विधि में भी योग देता है। कवि यदि केवल अपने समय की ही उप
हो तो विचार-धारा आगे ही न बढ़े। हमें कवि के अध्ययन में उस प
के बाहरी प्रभावों के साथ यह भी देखना चाहिए कि उसने समाज से
क्या लिया और स्वयं उसने समाज को क्या दिया। कोई-कोई कवि
अपने समय से आगे भी होते हैं और ये लोग ही इतिहास बनाते हैं।
साहित्य के इतिहास में देश के राजनीतिक इतिहास और जाति के
मानसिक विकास की झलक रहती है। वीर-गाथा-काल का साहित्य उस
समय की परिस्थितियों का ही फल था। कबीर, जायसी आदि में हिन्दू-
मुसलिम-संघर्ष और उनके शमन के उद्‌गारों की झलक है। सूर,
तुलसी में मुसलिम तथा नाथपंथ द्वारा आई हुई बौद्ध विचारधाराओं
से पृथक् हिन्दू विचारधारा का निजत्व बनाये रखने की प्रवृत्ति है।
रीतिकालीन कवियों में तत्कालीन विलास-भावना और भक्ति-काल के
धार्मिक प्रभाव की झलक है। भूषण में महाराष्ट्र-जागृति की
प्रतिध्वनि है।

इन आलोचनाओं के साथ कवि के जीवन के सम्बन्ध में ऐतिहासिक
खोज भी आलोचना का अङ्ग है। वह वास्तव में ध्येय नहीं है, साधन-
रूप है। यह खोज मनोवैज्ञानिक आलोचना में सामग्री रूप में सहायक
होती है। जब हम किसी कवि के पारिवारिक जीवन के बारे में कुछ बातें
जान लेते हैं, तो उसकी मनोवृत्ति पर भी प्रकाश पड़ जाता है। कबीर
में जुलाहेपन की सगर्व चेतना थी। जायसी में अपनी कुरूपता की
हीनताग्रन्थि थी। तुलसीदासजी में भी रत्नावली की 'लाज न आवत
आपको' वाली बात की प्रतिक्रिया देखी जा सकती है। कविवर सत्य-
नारायण के "भयो क्यों अनचाहत को संग" अथवा "अब नहिं जाति
सही" आदि पद उनके व्यक्तिगत पारिवारिक जीवन की कठिनाइयों के
आलोक में अच्छी तरह समझे जा सकते हैं। आजकल आलोचना में भी

मनोविश्लेषण-शास्त्र (Psychoanalysis) का पुट आने लगा है और कवि की कुण्ठाओं आदि का (जैसे नगेन्द्रजी की आलोचनाओं में है) उल्लेख होता है।

रसग्रहण की क्षमता बाबूजी में अपार है। अतः वे अपने साहित्य के इतिहास में नवीन-से-नवीनतम प्रवृत्ति का पूरा विश्लेषण, बड़े सहज भाव से और सहानुभूति पूर्ण दृष्टि से कर सके। जैसे विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने कहा है : 'सिद्धान्त और अध्ययन', सचमुच साहित्य का प्रवेशक है। पूर्वी और पश्चिमी सिद्धान्तों का समन्वय इसकी विशेषता है।

गुलाबरायजी की भाषाशैली सरल, ऋजु और प्रांजल है। वे अपनी बात की पुष्टि बीच-बीच में संस्कृत, अंगरेजी, हिन्दी के उदाहरण देकर करते जाते हैं। विवेचन का ढंग तर्कशुद्ध होता है : परिच्छेद को वे विशेष अंश-शीर्षकों में बाँटते हैं, विचार-बिंदुओं का संख्या-क्रम देते हैं। आवश्यकता पड़ने पर वे चार्ट भी देते जाते हैं, यथा 'सिद्धान्त और अध्ययन' में रससामग्री पर पृ० ८९ पर चार्ट।

मैंने सन् १९४८ में इस ग्रन्थ की दिल्ली रेडियो से समीक्षा करते हुए विशेष रूप से 'कविता और स्वप्न' अध्याय का उल्लेख किया था। उसमें बाबूजी ने अपने मनोविश्लेषण के ज्ञान का भी परिचय दिया है। और उस निबन्ध के आत्म-प्रसंग में सूक्ष्म परिहास-पुटमयी शैली भी है। 'साहित्य की मूल प्रेरणाएँ' उसी प्रकार से दूसरा महत्त्वपूर्ण विवेचन है, जो कि साहित्यिक वादों से नया परिचय पाने वालों के लिए अनुक्रमणिका का कार्य करेगा।

साहित्य-दर्शन

: ४ :

शचीरानी गुर्टू

'साहित्य-दर्शन' तुलनात्मक आलोचना का एक वृहद् ग्रन्थ है।

"तुलनात्मक आलोचना भी कई रूपों में चल रही है। तुलनात्मक के सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि तुलना में विषमता के साथ समानता भी आवश्यक है। वास्तव में तुलना समान वस्तुओं की ही हो सकती है। तुलना एक विषय की वा एक काल के कवियों की अथवा एक ही कवि की कृतियों की की जा सकती है। हिन्दी साहित्य क्षेत्र में देव और विहारी की तुलना की कुछ दिनों बड़ी धूमधाम रही। इस सम्बन्ध में पंडित पद्मसिंह शर्मा, पं० कृष्णविहारी मिश्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।" (गुलाबराय—'सिद्धान्त और अध्ययन')

श्यामसुन्दरदास जी ने भी अपने 'साहित्यालोचन' में तुलनात्मक आलोचना के इस ख़तरे की ओर संकेत किया है। वस्तुतः तुलनात्मक समीक्षा, उपमा-रूपक या उत्प्रेक्षा से बड़ी चीज़ है। इसमें केवल एक गुण का साधर्म्य काफ़ी नहीं, परन्तु और कई बातों की समता अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से तुल्य-गुण कौन हैं, इनका चुनाव, इनमें से साम्य-वैषम्य की प्रवृत्तियाँ चीन्हना और उनका किसी मानदंड या कसौटी पर कसना एक दुराराध्य कार्य है। एक तरह से यह 'तार पर कसरत करने' के समान है। ४०० पृष्ठों के अपने ग्रन्थ में लेखिका ने इस कठिन

और बड़े काम में जो सफलता पाई है, उसके कारण लेखिका का हिन्दी संसार में बड़ा गौरव किया गया और ग्रन्थ की इतनी प्रशंसा हुई।

१९५० में छपे इस बड़े सचित्र ग्रन्थ के प्रथम भाग में डॉ० मेकडॉनियल और डॉ० जी० एस० महाजनी की भूमिकाएँ हैं और तेईस लेख हैं। डॉ० मेकडॉनियल के अनुसार—"मनुष्य के एक विश्व के स्वप्न के साथ-साथ यह बहुत अर्थपूर्ण है कि विश्व-साहित्य का एक समीक्षा-ग्रन्थ विदुषी की लेखनी से निकला है...देश-विदेश के साहित्यों के आदान-प्रदान से जाति, वर्ण, रंग और राष्ट्र के भेदों से अतीत मानव-मात्र में एक प्रकार का विश्वबंधुत्व जागेगा, यह विचार बहुत सुखद है।" यद्यपि यह चिंत्य कथन है कि देश-देश के साहित्यिकों की गुणात्मक तुलना से ही विश्व-मानव के इस एकात्म-बोध की ओर हम आगे बढ़ सकेंगे या नहीं, फिर भी यह बात निर्विवाद है कि राजनीति जहाँ हमें बाँटती है, साहित्य हमें निस्सन्देह एक करता है। मानव-मात्र की रागात्मक अनुभूति में कोई मौलिक एकसूत्रता अवश्य है, तभी हम आज के देश और काल से बँधे होने पर भी योजनान्त दूर-देशों के और सुदूर अतीत के रचनाकारों की कृतियों का रसास्वादन कैसे कर पाते हैं? माना कि साहित्यकार स्वयं अपने देश-काल-परिस्थितियों के सीमा-बन्धनों से बँधा है; फिर भी कुछ इन बन्धनों से परे मनुष्य-मात्र में विद्यमान है जो इन सब भेदभावों से परे 'साधारणीकरण' को सहज संभव बनाता है और साहित्य से मिलनेवाला आनन्द देशातीत और कालातीत हो जाता है। सृजन के क्षण भी ऐसे ही दिक्कालातीत हों यह आग्रह अनावश्यक है। परन्तु आस्वाद्यमानता के लिए क्षुद्र स्वार्थ या भौतिक परिवेश से बाहर उठने की, आत्म-प्रक्षेपण की अनिवार्यता एक बुनियादी शर्त है।

पुस्तक में इस 'शाश्वत सत्य' का उद्‌घाटन होते हुए, और पृष्ठ ३ पर 'चिरंतन काल से ही मानव-मन एक है' और पृष्ठ ६ पर 'मानव-

हृदय सभी देशों में एक-सा है' ऐसे समाजेतिहास-मनोवैज्ञानिक के लिए विवाद्य स्थापनाएँ होते हुए भी डॉ० रामविलास शर्मा को पुस्तक की यह विशेषताएँ नज़र आई हैं—

"श्री शचीरानी गुर्टू ने 'साहित्य दर्शन' में आदि-कवि वाल्मीकि से लेकर गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर तक विश्व के चुने हुए पच्चीस से ऊपर महान् साहित्यकारों के दर्शन कराये हैं। मनुष्य ने अपने इतिहास की छोटी-सी अवधि में कितना सौन्दर्य रच डाला है, देख कर आश्चर्य होता है और उसकी सीमित, फिर भी सदैव विकसमान प्रतिभा के सामने अनन्त काल और विराट् आकाश की कल्पनाएँ क्षुद्र मालूम होती हैं। मैं—हिन्दी साहित्य का अकिञ्चन विद्यार्थी—उन तमाम साहित्यकारों की रचनाएँ पढ़ नहीं पाया जिनकी विवेचना यहाँ की गई है; फिर—"नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्"—उनकी समीक्षा पर सम्मति देने की धृष्टता कैसे करूँ? फिर भी इतना तो कह सकता हूँ कि इन महान् साहित्यकारों में जिन्हें नहीं पढ़ा उन्हें पढ़ने के लिये आतुर हो उठा हूँ और जिन्हें पढ़ चुका हूँ उन्हें फिर पढ़ने के लिये उत्सुक हूँ।

"यह सौभाग्य की बात है कि महान् साहित्यकार परब्रह्म परमेश्वर की तरह एक न होकर अनेक हैं और उनके उद्भव और विकास का क्रम अभी बन्द नहीं हुआ। यदि एक ही साहित्यकार ने संपूर्ण सत्य के दर्शन करा दिये होते तो हम दूसरों को न पूछ कर उसी के सामने हाथ जोड़े खड़े रहते। यह देख कर कि न साहित्यकार पूर्ण है, न उसका साहित्य, यह असार संसार भी सारयुक्त मालूम पड़ने लगता है और मनुष्य उसे कितना सुखद और सुन्दर बना सकता है इसकी कोई सीमा नहीं दिखाई पड़ती।

"हम उन महान् साहित्यकारों के ऋणी हैं जिनकी "यशःकाया" को जरा-मरण का भय नहीं है। लेकिन साहित्य के साधारण विद्यार्थी, जो भौतिक काया के बिना उन अमर कलाकारों की रचनाओं का दर्शन-

अध्ययन नहीं कर सकते, जरामरण की ओर से उतने निश्चिन्त नहीं रह सकते। मैं कॉलेज में कालिदास, शेक्सपियर, शेली और रवीन्द्रनाथ की रचनाएँ जिन विद्यार्थियों को पढ़ाता हूँ, उनके लिये नहीं कह सकता कि किस दिन शासक-वर्ग उन्हें जरामरण के भय से मुक्ति दे देगा। पहले लोग जरामरण के भय की बात करते थे; अब जरा का कोई भय नहीं; अकाल-मृत्यु भी एक नित्य होने वाली साधारण सी बात हो गई है।

"कालिदास, शेक्सपियर, शेली और रवीन्द्रनाथ को पढ़ने और उनका आदर करने वालों से मेरा निवेदन है, आप उन विद्यार्थियों का साथ दीजिये जो इन की रचनाएँ पढ़ने से वंचित किये जा रहे हैं। आज कौन नहीं जानता कि एशिया में मरणासन्न साम्राज्यवाद विश्व-साहित्य की सजीव परम्परा पर लाठी, गोली और बम बरसा रहा है; इसीलिए विश्व के समूचे मानववादी साहित्य का आदर करने वाले हम भारतवासी साम्राज्यवाद की मृत्यु-परम्परा का विरोध करते हैं और एशिया की स्वाधीनता-प्रेमी जनता की सजीव परम्परा का साथ देते हैं। मृत्यु और जीवन के बीच आज किसी के लिये भी तटस्थ रहना असम्भव है।

'साहित्य-दर्शन' की लेखिका श्रीमती शचीरानी गुर्टू ने गोर्की के लिये बहुत सही लिखा है—"निःसन्देह वह जनता का साथी था।" और इसमें किसे सन्देह हो सकता है कि इसी कारण वह बीसवीं सदी का श्रेष्ठ साहित्यकार था! आज हिन्दी में—और दूसरी भाषाओं में भी—कुछ लोग यह समझने-समझाने का प्रयत्न करते हैं कि वे जनता के साथी नहीं हैं, लेकिन ऊँचे कलाकार ज़रूर हैं। ऐसे लेखक खुद उलझने और दूसरों को उलझाने के अलावा और कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकते। देखिये 'अज्ञेय और इलियट' को। लेखिका के अनुसार उन्होंने "वस्तु-सत्य को निकट से परखने एवं जीवन की गुत्थियों को सुलझाने में उलझा दिया है।" क्यों न उलझायें? चर्चिल-एटली सम्प्रदाय के समर्थक और कर ही क्या सकते हैं? वस्तु-सत्य को निकट से देखने का साहस उनमें कहाँ है? क्योंकि वस्तु-सत्य तो है—

साम्राज्यवाद की मृत्यु, जनता का संघर्ष और उसकी विजय। इसीलिये काँग्रेसी 'रामराज' के गायक जैनेन्द्र "क्या कहें और कैसे कहें—इसे वे मानों भली प्रकार नहीं जानते।" कैसे जानें? अगर साहित्य जनता से दूर स्वर्ग-लोक में रची जाने वाली वस्तु होती तो शायद जानते। लेकिन भारत की औपनिवेशिक व्यवस्था को 'रामराज' कहकर पूजने वाले लेखक निःसन्देह दिन-पर-दिन इस हालत में होंगे कि क्या कहें, कैसे कहें, यह समझ न पाएँगे, और एक दिन वह आयगा कि उनके कहने-सुनने को कुछ भी बाक़ी न रह जायगा।

"हिन्दी में कवयित्रियाँ अनेक हैं, आलोचिका एकमात्र श्रीमती शचीरानी गुर्टू। 'साहित्य दर्शन' से उनका प्रथम परिचय पाकर हिन्दी पाठक उनका स्वागत करेंगे, यह मेरी शुभकामना है।" (१ अक्टूबर, १९५०)

पुस्तक का प्रथम और सत्रहवाँ लेख हिन्दी के लिए बहुत सी नयी सामग्री प्रस्तुत करता है और प्रकाशचन्द्र गुप्त का यह कथन कि "इसे हिन्दी में एक प्रकार का विश्व-साहित्य-कोष कह सकते हैं" बहुत उपयुक्त जान पड़ता है। इसमें हिन्दीतर भाषाओं के साहित्यों का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ 'ऐतिहासिक उपन्यासकार' लेख में मराठी के हरिनारायण आपटे, बँगला के राखालदास बंद्योपाध्याय और बंकिमचन्द्र, तेलुगु के लक्ष्मीनरसिंहम्, मलयालम के केरल वर्मा और कन्नड़ के गलकनाथ का उल्लेख है। हमारा लेखिका से साग्रह निवेदन है कि पुस्तक के दूसरे भाग में विदेशी तुलनाओं की अपेक्षा अपने ही देश के प्रान्तीय साहित्य से वे अधिक तुलनाएँ दें तो और अच्छा हो।

डॉ० रामविलास शर्मा की इस प्रशंसा से तौलनीय प्रो० प्रकाशचंद्र गुप्त की यह सम्मति है जो 'नया साहित्य' में प्रकाशित हुई थी—

"इस विषय पर हिन्दी में बहुत पहिले पं० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की पुस्तक 'विश्व-साहित्य' निकली थी। उस पुस्तक में विश्व-साहित्य की सूक्ष्म विवेचना थी, विद्वद्वरों ने उसे 'गागर में सागर' कह कर विभूषित किया था। 'साहित्य-दर्शन' में लेखिका ने तुलनात्मक

जी अपनाई है। वे एक बड़े पाश्चात्य लेखक का अध्ययन किसी प्रमुख भारतीय अथवा हिन्दी लेखक के साथ प्रस्तुत करती हैं। इस तुलना के सम्बन्ध में बड़े मतभेद हो सकते हैं। कभी-कभी तो 'मैथिलीशरण गुप्त और बर्न्स' अथवा 'चेखव और यशपाल' 'जैनेन्द्र और मैरिडिथ' सरीखे दो नाम साथ जुड़े देख कर अनायास कौतूहल भी होता है। इसी तुलनात्मक दृष्टि से फिर विषय का प्रतिपादन भी होता है, जिससे महत्वपूर्ण तत्वों से दृष्टि हटने की गुंजाइश काफ़ी रहती है। हम स्वयं यह अनुभव करते हैं कि इन निबन्धों का केन्द्र-बिन्दु दो लेखक न होकर एक होता, तो अधिक अच्छा रहता। तुलना फिर भी एक या अनेक लेखकों से हो सकती थी।

"बहुत अध्यवसाय से शचीरानी जी ने साहित्य का अध्ययन किया है—बड़े विस्तार से, बारीकी से और मार्मिकता से। बड़ी सहृदयता से आपने उसका चित्रण किया है। आपने सभी स्थलों के सौन्दर्य को संचित किया है, चाहे वह ग्रीक महाकाव्य हो, चाहे अंग्रेजी काव्य और नाटक, चाहे गोर्की के समान क्रान्तिवादी लेखक, अथवा टॉलस्टॉय और रोम्या रोलाँ के समान अध्यात्म की ओर उन्मुख विचारक। आपका दृष्टिकोण शास्त्रीय अथवा 'एकेडेमिक' है। फ़लाँ लेखक की भाषा ऐसी है, उपमाएँ ऐसी हैं, प्रकृति-दर्शन ऐसा है, जीवन-दर्शन इस प्रकार है। और साहित्य को परखने की प्रचलित शैली भी यही है। इस प्रकार तार-तार करके किसी साहित्य-कृति के विभिन्न पहलुओं पर हम विचार करते हैं, किन्तु फिर भी अक्सर उसके प्राण स्पर्श नहीं कर पाते। आजकल अधिकतर आलोचक इस शास्त्रीय पद्धति से असंतोष भी अनुभव करते हैं। वे साहित्य को सामाजिक पृष्ठभूमि में रख कर उसकी परीक्षा करते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने इसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास का काल-विभाजन किया था। यह मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति आवश्यक रूप से नहीं है। मार्क्सवादी विचारक कला के पीछे निहित वर्ग-सम्बन्धों को समझना चाहता है, उसके अन्तःविरोधों को पकड़ना

चाहता है, उसके आधारभूत आर्थिक तत्वों तक पहुँचना चाहता है। इस शैली की आलोचना हम लेनिन द्वारा टॉलसटॉय पर लिखे निबन्धों में पाते हैं। हिन्दी में अभी तक मार्क्सवादी आलोचना के कुछ रुकते हुए प्रयोग ही हुए हैं। किन्तु यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि साहित्य-दर्शन के भी अनेक तरीके हैं, और उनमें से एक का दर्शन हम इस पुस्तक में पाते हैं।

"शचीरानी जी की आलोचना-शैली भावना-प्रधान है। भावों के सबल, तरंगित वेग में आप बह जाती हैं, और मानों अपनी अनुभूति की तीव्रता से कला के मर्म को छू लेना चाहती हैं। आपकी शैली काव्य-मय हो जाती है, और गद्य-काव्य का गुण आपकी भाषा में आ जाता है। उदाहरण के लिए 'टॉलसटॉय और टैगोर' शीर्षक निबन्ध इस प्रकार शुरू होता है :

'विराट् साक्षात्कार से रंजित महाकवि की कल्पना विस्मय-विमुग्ध जब चिरन्तन सत्य के दर्शन में खो जाती है तो उसके हृदय में क्षण-प्रतिक्षण भाव-उर्मियों का उद्वेलन होता है।........

'कवि आँखें फाड़कर देखता है। उसके समक्ष दूर—बहुत दूर तक प्रकृति का विराट् वैभव बिखरा पड़ा है। हरीतिमा में ओतप्रोत प्रकृति-बाला का लहलहाता परिधान, धूल के धवल-कणों पर बिखरी स्वर्णिम किरणें उसके आभरण-से प्रतीत होते हैं। सौन्दर्य-विभोर कवि आश्चर्य से भर जाता है।......' [पृष्ठ ८१]

"कहीं-कहीं लेखिका की भाषा क्लिष्ट और संस्कृत शब्दावली से आक्रान्त भी है : 'देह और मन के महासन पर सृष्टि के आदि काल से सुप्रतिष्ठित होकर बैठे हुए अन्तर के अनिर्वचनीय चिन्तन-स्रोत को, मानव के चिर-प्रसुप्त भावपटलों को युग-युग और देश-देश के महा-कवियों की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ने नव-नवीन शब्द-देह अर्पित किया है।......' [पृष्ठ १६]

"यह भाषा आलोचना-शास्त्र की अपेक्षा काव्य के निकट अधिक है।

"काव्य की परिभाषा शचीरानी जी इन शब्दों में करती हैं : "काव्य में 'शाश्वत सत्य' की छाप उसकी अमरता की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व उत्पन्न साहित्य के आदि-गुरु वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल, दांते आदि महाकवियों की विराट् कल्पना अब भी मानव की हृत्तन्त्री के तार क्यों झंकृत कर देती है ? उत्तर एक है—सत्काव्य की भाषा अनन्त के मूक संदेश की वाहिका है जो सृष्टि के पृष्ठों पर रंगीन पेन्सिल से अंकित है।" [पृष्ठ ३]

'कालिदास और शेक्सपियर' के अध्ययन में आप कहती हैं : "यह निर्विवाद सत्य है कि कोई सत्कवि देश और काल की सीमाओं से सीमित नहीं है।" [पृष्ठ २७]

"इसी प्रकार मनुष्य स्वभाव को भी आप चिर-अपरिवर्त्तित मानती हैं। महाकाव्य के सिलसिले में आप कहती हैं : "चिरन्तन काल से ही मानव-हृदय एक-सा चला आया है।" [पृष्ठ ३]

"मानव-हृदय सभी देशों में एक-सा है।" [पृष्ठ १६]

यह भाषा आलोचना-शास्त्र की न होकर छायावाद की भाषा है।

"आज का विचारक देश, काल और समाज की सीमाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता। वह जानता है कि यद्यपि विचार, भाव और अनुभूति के कुछ ऐसे तत्त्व कला में होते हैं जो काल की सीमाओं के परे भी मनुष्य के हृदय को छूते हैं, क्योंकि वह उसका गौरवमय अतीत है। फिर भी साहित्य और कला के रूप चिरपरिवर्त्तनशील हैं, क्योंकि उनके सामाजिक और आर्थिक आधार परिवर्त्तनशील हैं। जैसे महाकाव्य की रचना होमर, वेदव्यास और वाल्मीकि ने की, वह वर्जिल, दान्ते और मिल्टन क्यों न कर सके, और आज वैसी रचना इलियट और जेम्स जौयस क्यों नहीं कर रहे ? अवश्य ही इसके पीछे कुछ ऐसे सामाजिक तत्त्व हैं जिन्हें हमारे शाश्वतवादी विचारक नहीं ग्रहण कर पा रहे। इसे केवल दैवी घटना कह कर हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

"आदि-काव्य की रचना आदि-युग में ही संभव है; जातियों के विकास के अनेक स्तर उसमें निहित रहते हैं। इनका रचयिता कोई एक कवि नहीं होता, यद्यपि दंत-कथाएँ उन्हें किसी एक नाम के साथ सम्बद्ध करती हैं। यही अन्तर 'महाभारत' और 'कामायनी' में है। वास्तव में 'कामायनी' इलियट के 'Waste Land' के समान ही महाकाव्य न होकर गीति-काव्य है। पूँजीवादी युग में महाकाव्य की भूमिका उपन्यास द्वारा पूरी होती है; उसी के माध्यम से हम सामाजिक इतिहास की कथा आज कहते हैं।

"साहित्य और कला का इतिहास मनुष्य की चिर-विकासमान और गतिशील संस्कृति का प्रतिरूप है। वह मनुष्य समाज का इतिहास है, और यदि मनुष्य का इतिहास ठहरा नहीं रहा, तो उसके संघर्षों का दर्पण भी नित-नूतन रूप प्रगट करेगा।

प्रगतिवाद के इन दो 'ऑफीशियल' समालोचकों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद हमें श्री शिवदानसिंह चौहान के 'आलोचना' (१) पृ० ४ पर व्यक्त मतों को पढ़ना चाहिए और आश्चर्य करना चाहिए कि प्रगतिवादी समालोचकों में इतना मतान्तर क्यों सम्भव हो जाता है। चौहान जी के मत में शचीरानी गुर्टू 'आत्म-प्रवंचना' में पड़ी हैं और उन्होंने शिशु-सुलभ विस्मय-भावना से प्रत्येक लेखक को विश्व के किसी-न-किसी महान साहित्यकार का 'अवतारी' मानकर साहित्य के वर्तमान संकट और गतिरोध से आँख मींच ली है।

शचीरानी इस संकट से अनभिज्ञ नहीं हैं, इसका उदाहरण 'साहित्य-दर्शन' के पृ० २५५ पर के निम्न परिच्छेद से स्पष्ट होगा :—

"निःसन्देह चतुर्दिक फैली घनी निराशा के अन्धकार में वे (यशपाल) ऐसी प्रकाश-रेखाएं विकीर्ण कर रहे हैं जो निरुपाय मानवता को एक नवीन दिशा की ओर उत्प्रेरित करती हैं।...वर्त्तमान समय में मानवीय संस्कृति अपनी सच्ची प्रगति में अवरुद्ध है और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य जीवन-विकास का अभिप्रेत अंग होकर भी वांछित समादर प्राप्त नहीं

कर रहा है। जीवन के मान मिट चुके हैं और जीवन का उद्देश्य, जीवन की सार्थकता, जीवन की महानता लुप्तप्राय हो गई हैं। सभ्यता का बाह्य कलेवर सुसज्जित होते हुए भी उसकी आत्मा निर्जीव है और इस बनावटी सभ्यता का मिथ्या गर्व खंडित हो चुका है। चेखव और यशपाल की साधना का ध्येय परवश और संत्रस्त मानवता को आंतरिक जागरूकता का प्राणवान संदेश देना है। उन्होंने एक निपुण चिकित्सक की भाँति अपनी अमर लेखनी से भयंकर रोग की अमोघ औषधि प्रदान की है और उसकी अमोघता के प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। चेखव ने लिखा है—"आह! यदि जीवन की नव्यता और सौंदर्य को शीघ्र पाया जा सके जबकि तुम्हारी किस्मत से साहसपूर्वक और सीधे आँखें लड़ाये जाने की सम्भावना हो और यह अनुभव करने की सामर्थ्य उत्पन्न हो कि तुम ठीक रास्ते पर हो, खुश हो और अपने को आज़ाद समझ रहे हो। इस प्रकार का जीवन शीघ्र या कुछ दिन याद आने ही वाला है।"

यह अवतरण इस बात को स्पष्ट करता है कि यद्यपि शचीरानी जी की आलोचक-पद्धति रसज्ञ छायावादी की भाँति है, फिर भी वे नये युग की समस्याओं से 'आँख मूँदकर' स्वप्न-सृजन में ही निमग्न नहीं हैं।

'साहित्य-दर्शन' पर काशी-विश्वविद्यालय के प्राध्यापक और रस की आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विवेचना करने वाले डॉक्टर राकेश गुप्त ने लिखा है:

"प्रस्तुत ग्रन्थ में महान् भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यकारों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। दूसरे भाग की भी सूची को ध्यान में रखते हुए यह सहज ही कहा जा सकता है कि लेखिका का अध्ययन-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। पुस्तक पढ़ने पर लेखिका के अध्ययन की गम्भीरता तथा विवेचन-शक्ति का भी पूर्ण परिचय मिलता है। योग्य लेखिका ने आलोच्य साहित्यकारों की केवल रचनाओं का ही अध्ययन नहीं किया, उनके व्यक्तित्व एवं वातावरण में भी प्रविष्ट होने का पूरा प्रयत्न किया है। दो लेखकों की तुलना करते समय उसने उनके जीवन

की परिस्थितियों का, जिनका किसी भी साहित्यकार के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहता है, सम्यक् एवं यथेष्ट निर्देश किया है।

लेखिका की भाषा अत्यन्त सरस है, शैली में रूक्षता का सर्वथा अभाव है। उसकी अलंकारमयी सुन्दर पदावली देखकर कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि वह कहीं शास्त्रीय विवेचन की परिधि के बाहर काव्य के कल्पना-लोक में तो संक्रमण नहीं कर गई है, परन्तु उस पदावली के पीछे झाँकते हुए उसके गम्भीर और तथ्यपूर्ण विचारों का तुरंत प्रत्यक्ष होते ही इस भ्रम का पूर्ण निराकरण हो जाता है।

लेखिका की आलोचना-सम्बन्धी स्थापनाओं से मतभेद होना अस्वाभाविक नहीं है, पर इस मतभेद से प्रस्तुत प्रयत्न का महत्व नहीं कम हो सकता। तो भी यहाँ एक बात का संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। लेखिका ने प्रत्येक भारतीय लेखक की तुलना में किसी-न-किसी पाश्चात्य लेखक को रक्खा है। इस प्रयत्न में कभी-कभी कुछ कृत्रिमता का आभास दिखलाई पड़ता है। दो लेखकों की तुलनाओं का आधार उनकी समताएँ ही हो सकती हैं, पर जहाँ समताओं की अपेक्षा विषमताएँ अधिक हों, अथवा ऐसा प्रतीत हो कि समताएँ प्रयत्नपूर्वक ढूँढी जा रही हैं, तो उस तुलना को हम स्वाभाविक नहीं कह सकते। प्रस्तुत ग्रन्थ के निबन्धों में से कुछ के सम्बन्ध में यही भावना पाठक के मन में आती है।

इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के निर्माण के लिए विज्ञ लेखिका निस्संदेह बधाई की पात्री है। यदि अत्यधिक तुलना के मोह को छोड़ कर पाश्चात्य साहित्यकारों का स्वतन्त्र पर अधिक विवरणयुक्त अध्ययन उसने हिन्दी-जगत् के सम्मुख-प्रस्तुत किया, तो उसका वह कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण होगा।"

परन्तु इन सब सम्मतियों और आलोचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण है डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी की निष्पक्ष और आशीर्वाद-भाव से भरी सहज-सराहना—

"साहित्य दर्शन श्रीमती शचीरानी गुर्टू की सम्भवतः प्रथम रचना है। इसके पूर्व मैंने उनके लेख तो इधर-उधर देखे थे, किन्तु पुस्तकाकार कोई रचना नहीं देखी। इस पुस्तक में उनके विस्तृत अध्ययन और चिन्तन को देख कर आश्चर्य होता है। इस ग्रन्थ में लेखिका ने बहुत ही व्यापक साहित्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। प्रथम अध्याय में वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल और दान्ते इन पाँच महाकाव्य-लेखकों की कृतियों का विवेचन है। कहना व्यर्थ है कि इन कवियों की कृतियों का बहुत संक्षिप्त परिचय ही दिया जा सका है। लेखिका को लगता है मानों पाँचों महाकवि दिव्य सौन्दर्य और प्रेमोन्माद के रस में शराबोर मूक खड़े हैं। निस्संदेह, लंकापुरी में अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई विरहिणी पतिप्राणा सीता के अश्रु, बीहड़ उजाड़ वनों में भटकती और पति का अनुगमन करती हुई साध्वी द्रौपदी की करुण आहें और ट्रॉय के महलों में तड़पती हुई सुन्दरी हेलेन की आँखों के आँसू और उच्छ्वासों में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि विश्व मानव-मन सर्वत्र एक है!

इसके बाद लेखिका ने अलग-अलग अध्यायों में 'कालिदास और शेक्सपीयर', 'तुलसी और मिल्टन', 'टालस्टॉय और टैगोर', 'महात्मा गाँधी और रोम्याँ रोलाँ', 'प्रेमचन्द और गोर्की', 'गेटे और प्रसाद', 'निराला और ब्राउनिंग', 'शेली और पन्त', 'मैथिलीशरण गुप्त और रॉबर्ट बर्न्स', 'रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड', 'महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना रोज़ेटी', 'एंटन चेखव और यशपाल', 'अज्ञेय और इलियट', 'जैनेन्द्र और मेरीडिथ', 'शरच्चंद्र और दॉस्ताएवस्की', 'रवीन्द्र, पन्त और कीट्स' तथा 'हार्डी और प्रसाद' जैसे साहित्यिक युग्मकों की तुलनात्मक आलोचना की है। सूची देख कर कोई भी पाठक आसानी से विवेच्य विषय की विशालता और महानता का अन्दाज़ा लगा सकता है। शुरू में ही स्वीकार

की परिस्थितियों का, जिनका किसी भी साहित्यकार के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण हाथ रहता है, सम्यक् एवं यथेष्ट निर्देश किया है।

लेखिका की भाषा अत्यन्त सरस है, शैली में रूक्षता का सर्वथा अभाव है। उसकी अलंकारमयी सुन्दर पदावली देखकर कभी-कभी यह सन्देह होने लगता है कि वह कहीं शास्त्रीय विवेचन की परिधि के बाहर काव्य के कल्पना-लोक में तो संक्रमण नहीं कर गई है, परन्तु उस पदावली के पीछे झाँकते हुए उसके गम्भीर और तथ्यपूर्ण विचारों का तुरंत प्रत्यक्ष होते ही इस भ्रम का पूर्ण निराकरण हो जाता है।

लेखिका की आलोचना-सम्बन्धी स्थापनाओं से मतभेद होना अस्वाभाविक नहीं है, पर इस मतभेद से प्रस्तुत प्रयत्न का महत्व नहीं कम हो सकता। तो भी यहाँ एक बात का संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। लेखिका ने प्रत्येक भारतीय लेखक की तुलना में किसी-न-किसी पाश्चात्य लेखक को रक्खा है। इस प्रयत्न में कभी-कभी कुछ कृत्रिमता का आभास दिखलाई पड़ता है। दो लेखकों की तुलनाओं का आधार उनकी समताएँ ही हो सकती हैं, पर जहाँ समताओं की अपेक्षा विषमताएँ अधिक हों, अथवा ऐसा प्रतीत हो कि समताएँ प्रयत्नपूर्वक ढूँढी जा रही हैं, तो उस तुलना को हम स्वाभाविक नहीं कह सकते। प्रस्तुत ग्रन्थ के निबन्धों में से कुछ के सम्बन्ध में यही भावना पाठक के मन में आती है।

इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के निर्माण के लिए विज्ञ लेखिका निस्संदेह बधाई की पात्री है। यदि अत्यधिक तुलना के मोह को छोड़ कर पाश्चात्य साहित्यकारों का स्वतन्त्र पर अधिक विवरणयुक्त अध्ययन उसने हिन्दी-जगत् के सम्मुख-प्रस्तुत किया, तो उसका वह कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण होगा।"

परन्तु इन सब सम्मतियों और आलोचनाओं से अधिक महत्वपूर्ण है डॉक्टर हजारीप्रसाद द्विवेदी की निष्पक्ष और आशीर्वाद-भाव से भरी सहज-सराहना—

"साहित्य दर्शन श्रीमती शचीरानी गुर्टू की सम्भवतः प्रथम रचना है। इसके पूर्व मैंने उनके लेख तो इधर-उधर देखे थे, किन्तु पुस्तकाकार कोई रचना नहीं देखी। इस पुस्तक में उनके विस्तृत अध्ययन और चिन्तन को देख कर आश्चर्य होता है। इस ग्रन्थ में लेखिका ने बहुत ही व्यापक साहित्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। प्रथम अध्याय में वाल्मीकि, व्यास, होमर, वर्जिल और दान्ते इन पाँच महाकाव्य-लेखकों की कृतियों का विवेचन है। कहना व्यर्थ है कि इन कवियों की कृतियों का बहुत संक्षिप्त परिचय ही दिया जा सका है। लेखिका को लगता है मानों पाँचों महाकवि दिव्य सौन्दर्य और प्रेमोन्माद के रस में शराबोर मूक खड़े हैं। निस्संदेह, लंकापुरी में अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई विरहिणी पतिप्राणा सीता के अश्रु, बीहड़ उजाड़ वनों में भटकती और पति का अनुगमन करती हुई साध्वी द्रौपदी की करुण आहें और ट्रॉय के महलों में तड़पती हुई सुन्दरी हेलेन की आँखों के आँसू और उच्छ्वासों में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि विश्व मानव-मन सर्वत्र एक है।

इसके बाद लेखिका ने अलग-अलग अध्यायों में 'कालिदास और शेक्सपीयर', 'तुलसी और मिल्टन', 'टालस्टॉय और टैगोर', 'महात्मा गाँधी और रोम्याँ रोलाँ', 'प्रेमचन्द और गोर्की', 'गेटे और प्रसाद', 'निराला और ब्राउनिंग', 'शेली और पन्त', 'मैथिलीशरण गुप्त और रॉबर्ट बर्न्स', 'रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड', 'महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना रोज़ेटी', 'एंटन चेखव और यशपाल', 'अज्ञेय और इलियट', 'जैनेन्द्र और मेरीडिथ', 'शरच्चंद्र और दॉस्ताएवस्की', 'रवीन्द्र, पन्त और कीट्स' तथा 'हार्डी और प्रसाद' जैसे साहित्यिक युग्मकों की तुलनात्मक आलोचना की है। सूची देख कर कोई भी पाठक आसानी से विवेच्य विषय की विशालता और महानता का अन्दाज़ा लगा सकता है। शुरू में ही स्वीकार

कर लेना चाहिए कि इनमें से कितने ही महान लेखकों की रचनाओं के पढ़ने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला, इसलिए मैं सम्पूर्ण रूप से अपने को इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के आलोचक होने का अधिकारी नहीं समझता। मुझे ऐसा लगता है कि स्वयं लेखिका ने भी अपने अध्ययन की सामग्री का भिन्न-भिन्न अध्येताओं के माध्यम से ही संग्रह किया होगा। यह सम्भव नहीं है कि एक मनुष्य भिन्न-भिन्न नई-पुरानी भाषाओं में लिखी हुई इन महान कलाकारों की सभी कृतियों का मर्मज्ञ बन सके। ऐसे अध्ययनों में मध्यस्थ अध्येता का आश्रय लेना ही पड़ता है और महान विचारकों को एकदम न जानने की अपेक्षा, विभिन्न अध्येताओं की मध्यस्थता से जानना निस्सन्देह अच्छा है। मुझे यह देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि एक विदुषी बहन ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। श्रीमती शचीरानी का यह विशाल प्रयत्न निश्चय ही स्वागत योग्य है।"

श्रीमती शचीरानी ने यद्यपि आलोचना—तत्रापि, तुलनात्मक आलोचना—का कठोर कर्तव्य उठाया है, तथापि वे कलाकार की कृतियों के बाह्य-आकारों और परिस्थितियों के विश्लेषण में ही सारी शक्ति नहीं लगा देतीं। वे सीधे उस मर्म-स्थान पर पहुँचती हैं जो कलाकार का सब से सुकुमार स्थल है और जहाँ वह जाति और धर्म से परे विशुद्ध 'मनुष्य' है। सर्वत्र उन्होंने 'मनुष्य' के इसी मोहन रूप का साक्षात्कार पाया है। 'इलियड' और 'रामायण' के कवियों के देश और काल में बहुत बड़ा व्यवधान है, परन्तु फिर भी जहाँ तक मानव के दिव्य अन्तर्मुख सौंदर्य का प्रश्न है, दोनों में एक ही 'मनुष्यता' की धारा प्रवाहित हो रही है। यह देश-काल, जाति-धर्म और मत-मतान्तर से अतीत 'मानव-मन' ही वह विशाल आधार-शिला है जिस पर मनुष्य के भावी मिलन की नींव मजबूती से डाली जा रही है। विश्व के कलाकार यही नींव डाल रहे हैं। गेटे और प्रसाद का अध्ययन समाप्त करते हुए लेखिका ने यह निष्कर्ष निकाला है, "जैसे जल का बुद्बुद

नीचे से स्वतः ऊपर उठ कर आता है, उसी प्रकार इन महाकवियों की अन्तरचेतना भी मन की गहराइयों से उभर कर ऊपर झलक मारती है और विराट् चेतना में लीन हो उसी को व्यक्त करती हुई उसमें समाहित हो जाती है—स्थूल दृष्टि से दूर, न जाने कहाँ।" इसी प्रकार "मैथिली-शरण गुप्त और यर्न्स की कला में अन्तरंग की साधना और अन्तः करण की सच्ची पुकार है। मानवीय रूपों का दिग्दर्शन कराते हुए सार्वभौम चिरन्तन सत्य के आधार पर देश और काल की संकीर्ण सीमाओं से उठ कर उनके अन्तर्भाव विश्वतन्त्री के स्वर में स्वर मिला कर बज उठते हैं और भव्यता के साथ दिव्यता, सुन्दर और मांगल्य का अन्तर्निहित गोपन सन्देश सारे विश्व को दे जाते हैं।" और प्रेमचन्द और गोर्की के "(जो मानों प्राणों को निचोड़ कर लिखते थे) उपन्यासों के पात्र आज भी हमारी कल्पना में जीवित हैं। उनके विचार और कार्य-कलाप हम कभी नहीं भूल पाते—मानों उनका अंकन उस सधी और निर्भीक कलम से हुआ है, जो विश्व की विराट् चित्रशाला में अगणित चित्र नित्य बनाती और मिटाती है।"

इन कुछ थोड़े-से उद्धरणों से ही स्पष्ट हो जायगा कि वस्तुतः लेखिका ने इन महान् कलाकारों में विश्व-मानव के हृदय का स्पन्दन ही खोज निकाला है। इन कलाकारों की कृतियों में नाना भाँति की ऊपरी क्षुद्रताओं और विभेद-विच्छेदों से दबे हुए 'एक' और 'अभिन्न' मनुष्यता के हृदय-स्पन्दन की ध्वनि ही सुनाई देती है। सर्वत्र लेखिका का जागरूक चित्र इसी विश्व-चेतना की आनन्द-ध्वनि से मुखरित है। पढ़ते-पढ़ते लेखिका की भावप्रवण भाषा और रोचक शैली से पाठक का चित्त अभिभूत हो जाता है। उसे लगता है, वह आलोचना नहीं पढ़ रहा है बल्कि किसी कुशल कवि की कविता पढ़ रहा है। और सही बात तो यह है कि सारी पुस्तक आलोचक की विश्लेषणप्रवण कलम से नहीं लिखी गई, बल्कि कलाकार की समन्वय-सन्धायिनी लेखनी से रची गई है। इसमें आलोचक की शुष्कता नहीं है, बल्कि कलाकार की

सरसता है। ये लेख काव्य के गुण-दोष विवेचन करने वाले समालोचक के लिखे नहीं जान पड़ते, बल्कि काव्यानन्द से मुग्ध सहृदय के हृदयोद्गार जान पड़ते हैं। कहीं-कहीं तो भाषा का प्रवाह देखने लायक होता है। क्रिस्टिना और महादेवी की तुलना करते-करते लेखिका भाव-गद्गद भाषा में कह उठती है : "क्रिस्टिना नियति के क्रूर थपेड़ों से मर्माहत हो वेदना, अविश्वास और अदृष्ट की आशंका में डूबी हुई विरह के दर्दीले गीत गाती है, जिनमें हृदय की तड़पन, भावों की लड़खड़ाहट, आकुल प्राणों की कसक और आन्तरिक आवेगों का संघात है,—महादेवी के भावों में मीठी कचट होते हुए भी वचन-विदग्धता, अमूर्त्त व्यंजना, बिखरती-मचलती भाव-प्रवणता है, जो हृदय की गहराई में उतरती चलती है और जिसमें उठती-गिरती विपुल तरंगावलियों की सी अविराम धड़कन सुन पड़ती है। इन सब विषमताओं के बावजूद इन दोनों के ही काव्य विषाद की हल्की भीनी धूमिलता से आच्छन्न हैं, जो उत्तरोत्तर सघन होती जाती है और जिसके अतल में न जाने कितने अन्तःस्वर अवाक् होकर उनके अन्तर के मूक हाहाकार में एकाकार होने के लिये छटपटा रहे हैं।" यह भाषा कवि की मादक भाषा है, जो हमें मुग्ध बनाती है, भाव-विह्वल कर देती है; आलोचक की वह तथ्योद्भेदिनी भाषा नहीं जो हमारी चेतना पर निरन्तर कशाघात करती है।

ठेठ समालोचक शायद लेखिका के विवेच्य युग्मकों में से कई को एक साथ रखने में हिचकता। जिन गुणों की समता से उन्होंने दो कलाकारों को एक साथ विवेच्य माना है, उनके बारे में मतभेद होना स्वाभाविक है। प्रतिपादन का दायरा इतना बड़ा है कि उसमें सामान्य गुणों पर ही दृष्टि केन्द्रित करके कुछ लिखना सम्भव है। प्रत्येक लेखक के वैचित्र्य और वैशिष्ट्य का लेखा-जोखा मिला कर बैठाने से आलोचक के चित्त के खो जाने की ही सम्भावना अधिक थी। लेखिका का कर्तव्य बड़ा कठिन था और उन्होंने उसे सफलतापूर्वक निभाया है। यद्यपि

भाषा में सजीवता और वेग है तथापि वह तथ्यहीन भावोच्छ्‌वासों से नहीं भरी गई। तथ्य सर्वत्र भावावेगों के अंकुश रूप में वर्त्तमान हैं। मैं यह तो नहीं कह सकता कि यह रचना विशुद्ध सामालोचना-क्षेत्र में उगती ही है, परन्तु यदि समालोचना का उद्देश्य कलाकार के साथ पाठक का घनिष्ठ और निविड़ योग स्थापित करना हो तो लेखिका का प्रयास बहुत दूर तक सफल कहा जाना चाहिए। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उन कलाकारों की कृतियों को पढ़ने की तीव्र लालसा उत्पन्न होती है, जिन्हें पढ़ने का सुयोग अब तक नहीं मिला। यह मामूली सफलता नहीं है।

यह देख कर हर्ष होता है कि हमारी बहनों ने साहित्य के हर क्षेत्र में अपना स्थान अधिकार करना शुरू किया है। समालोचना के क्षेत्र में भी वे उच्च स्थान अधिकार कर रही हैं, यह अत्यन्त आनन्द और सन्तोष की बात है। मेरा विश्वास है कि उनकी रचनाओं से साहित्य क्षेत्र की प्रलापपूर्ण भावोच्छ्‌वास वाली 'समालोचना' नाम से चलने वाली मेरुदण्डहीन रचनाओं का अन्त होगा।" ('विश्वदर्शन', मार्च, १९५१)

प्रोफेसर विनयमोहन शर्मा का विचार भी देख लें— "यदि हम साहित्य को देश, काल और पात्र में छोटा कर के देखें तो हम साहित्य को यथार्थ रीति से नहीं देख सकते। यदि हम इस बात को समझ लें कि साहित्य में विश्व-मानव ही अपने को प्रकाशित कर रहा है-तो हम साहित्य के अन्दर देखने योग्य वस्तु को देख सकेंगे।"

रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

'साहित्य दर्शन' लेखिका के हृदय में भी उपयुक्त सत्य प्रतिभासित हुआ है—"कोई भी सत्कवि देश और काल की सीमाओं से सीमित नहीं है। उसकी कल्पना तो देश-विदेश एवं जाति-विशेष की संकीर्णता छोड़कर समस्त विश्व का आलिंगन करती है और यही कारण है कि विश्व भी उसके चरण चूमने को आतुर हो उठता है।" तभी

उन्होंने विश्व के प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यकारों को मानव-मन की अभिन्नता के स्तर पर आसीन कर उनकी प्रेरक शक्तियों का मूल्यांकन किया है। उनके चिंतन और अनुभवों की समता तथा विषमता की ओर निस्संकोच अंगुलि-निर्देश किया है। ऐसा करते समय उनकी बुद्धि इस तथ्य से सतत सजग रही है कि "किसी भी सत्काव्य की मर्यादा उसकी प्राचीनता तक ही सीमित नहीं है और न नवीन होने से उसका महत्व घटता है।" पृष्ठ ६७ देखिए।

अतएव लेखिका की व्यापक चिंतन–परिधि में प्रेमचन्द और गोर्की, गेटे और प्रसाद, निराला और ब्राउनिंग, शेली और पंत, मैथिलीशरण गुप्त और रॉबर्ट बर्न्स, गाँधी और रोम्याँ रोलाँ, रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू ऑर्नल्ड, महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना रोज्जेटी, चेखव और यशपाल, अज्ञेय और इलियट, तुलसी और मिल्टन, जैनेन्द्र और मेरीडिथ, कालिदास और शेक्सपियर, टैगोर और टालस्टॉय, शरच्चन्द्र और डॉटॉवस्की, रवींद्र, पन्त और कीट्स, हार्डी और प्रसाद आदि सहज भाव से समा गये हैं, जिनकी प्रवृत्तियों का उन्होंने विलग वृत्ति से सघन अध्ययन किया है। कलाकार विशेष के 'कृतित्व की नाप-जोख' का आग्रह न होने से एकांत निष्कर्ष-दोष से अपने को बचा लिया है और इस तरह तुलनात्मक समीक्षा-क्षेत्र में अभिनव प्रणाली की उद्भावना की है। द्विवेदी-युग में जहाँ देव और बिहारी की तुलना में प्रत्येक आलोचक अपने प्रिय कवि की उत्साहपूर्ण वकालत कर उसे आगे धकेलने का उपक्रम करता था, वहाँ श्रीमती शचीरानी ने आलोच्य कलाकारों के प्रति प्रगाढ़ सहानुभूति रखते हुए भी किसी 'एक' के प्रति अपना एकांत सम्मान प्रदर्शित न कर दूसरे की भर्त्सना नहीं की। आलोच्य कलाकार की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो उसी की आँखों से मानव-जीवन और सृष्टि को देखने की उनमें अद्भुत क्षमता है। कालिदास और शेक्सपियर में कहा गया है--"शेक्सपियर ने अपने को फैलाया है, कालिदास ने अपने को केन्द्रित किया है।" इससे दोनों कलाकारों का अपने अपने क्षेत्र में महत्

प्रस्थापित हो जाता है। तुलसी और मिल्टन का बड़ी कुशलता से विश्लेषण करते हुए आलोचिका कहती है "तुलसीदास का आदर्श समग्र मानवता की सेवा करना था, किन्तु मिल्टन को जीवन की बिखरी हुई वस्तुओं से कभी लगाव न हुआ। उन्होंने कल्पना के उच्च शृंग से नीचे झाँककर तो देखा, किन्तु उनकी दृष्टि वहाँ कभी रमने नहीं पाई।" टालस्टॉय की टैगोर से तुलना देखकर बँधीबँधाई रीति पर चलने वाले चौंक सकते हैं क्योंकि उनके कान टालस्टॉय और गाँधी की तुलना सुनने के अभ्यासी हैं, किन्तु तनिक विचारने से स्पष्ट हो जाता है कि टालस्टॉय और गाँधी की तुलना साहित्य-कृतित्व को लेकर नहीं, 'समाजसेवा' सामने रखकर की जाती है। यहाँ लेखिका ने टालस्टॉय और टैगोर की जीवन-परिस्थितिसाम्य की पृष्ठभूमि पर दोनों की साहित्य-प्रवृत्तियों को निरखने का यत्न किया है और ऐसा करते समय कहीं कहीं वे स्वयं काव्य की भूमिका में प्रविष्ट हो गई हैं—"दोनों का ही जीवन विधाता ने अत्यन्त घटनापूर्ण और औपन्यासिक क्रम से बनाया था। दोनों ही के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये। दोनों के यौवन में उन्माद था—एक शृंगारिक भावना, जिसमें आध्यात्मिक चेतना का भी साथ ही साथ प्रस्फुरण हो रहा था।...यौवन के विलास-विभ्रम में दोनों के हृदय-उफने पड़ रहे थे। सांसारिक सौंदर्य उन्हें अपनी ओर खींच रहा था—प्रसुप्त भावों को गुदगुदा रहा था, झकझोर रहा था। उषःकालीन लालिमा को देख उनका हृदय अनुरंजित हो उठता था, चन्द्र की स्निग्ध ज्योत्स्ना को देख भोगजन्य सुख की सुधि कर तड़प उठता था, रजनी की मादकता का अनुभव कर बरबस चंचल हो उठता था। दोनों में समानता यह है कि वे जीवन के प्रति आसक्त होते हुए भी अनासक्त और आग्रहशून्य हैं।" रोम्याँ रोलाँ और गाँधी में अपनी ही आत्मा में सत्य का प्रकाश देखने की सम-प्रवृत्ति है। 'साहित्य-दर्शन' में इन दोनों महापुरुषों के व्यक्तित्व मात्र को क्यों प्रस्तुत किया गया, यह हमारी समझ में नहीं आया। यह सुन्दर सूचनामूलक रेखाचित्र दोनों की साहित्य

कृतित्व की समीक्षा के बिना इस ग्रन्थ में 'फिट' नहीं हो रहा है।

उपन्यास-सम्राट् प्रेमचन्द निबन्ध में केवल विहंगम दृष्टि है जो औपन्यासिक सम्राट् के प्रति जिज्ञासा मात्र जाग्रत करती है। काश लेखिका इनके सम्बन्ध में तनिक और कहती। गोर्की और प्रेमचन्द में दोनों की प्रवृत्तियों का विशद 'दर्शन' है। "दोनों ही यथार्थवादी कलाकार हैं। दोनों में सहानुभूति, पैनी अन्तर्दृष्टि, विलक्षण प्रतिभा और चित्रण शक्ति है।...उन्होंने...उच्चवर्ग और निम्नवर्ग की खाई को सर्वथा मिटा दिया है।" गेटे और प्रसाद की प्रवृत्तियों का अध्ययन करने में लेखिका को अच्छी सफलता मिली है। "दोनों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि उन्होंने मानव-जीवन के किसी भी पहलू को नहीं छोड़ा। उनकी दृष्टि रमणी की कोमलता और स्थूल सौन्दर्य तक ही सीमित नहीं है, वरन् क्षितिज से दूर विश्वव्यापी चेतना को भी स्पर्श करती है।" निराला और ब्राउनिंग की रचनाओं में लेखिका को गहरा आत्मविश्वास और तटस्थ जीवन-दर्शन दिखाई दिया है। "यद्यपि उनका हृदय सदैव संतप्त और चिंताओं से जर्जर रहा तो भी उनका काव्य स्वानुभूत सत्य और अन्तर्जगत की अनहद ध्वनि है जिसमें भाव-संकुलता और गम्भीर विचार-धारा बरबस फूट पड़ी है। ... दोनों में कविता और दार्शनिकता का अपूर्व सामञ्जस्य है।" शेली और पन्त की तुलना प्रायः की जाती है, पर दोनों की प्रवृत्तियों का पहली बार ही यहाँ इतना यथार्थ और सन्तुलित विश्लेषण मिलता है। लेखिका ने सचमुच बड़े धैर्य के साथ यह कर्म सम्पन्न किया है। यद्यपि 'पन्त' के कवि ने यथार्थ की स्थूल दृष्टि से बीच बीच में देखना प्रारम्भ कर दिया था पर जैसा कि लेखिका कहती है "नवीन दृष्टिकोण के अवतरित होने के बावजूद भी कल्पना-वैभव और रूप-रंगों के प्रति मोह का सुनहरा तार कभी टूटने न पाया।" इसीलिए तो प्रगतिवादियों ने उन्हें पलायनवादी कह कर अपनी जमात से खदेड़ दिया है। वास्तव में शेली और पन्त को 'स्वप्न-द्रष्टा' ही मानना चाहिए। मैथिलीशरण गुप्त और बर्न्स में भाषा

आदि की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य न होते हुए भी यह तो निश्चित है कि दोनों ही समन्वयवादी हैं। "मानव-जीवन की ओर दृष्टिपात करते हुए दोनों के आनन्दग्राही हृदय ने जन-समुदाय की सामूहिक भावनाओं को अपनाया है।" गुप्त जी को बर्न्स के साथ बैठे देखकर कुछ लोग चौंक सकते हैं, पर दोनों ने जिन परिस्थितियों में अपने कवि-कर्म को पल्लवित किया, उनकी परीक्षा अप्रस्तुत नहीं है। यह प्रश्न उद्भूत हो सकता है—'क्या गुप्त जी का काव्य सचमुच भावानुभूतियों से ओतप्रोत है ?' उनके प्रबन्धत्व की ओर रुझान ने उन्हें बहिर्मुखी अधिक बना दिया है। अतः उनके काव्य में भावना या अनुभूतियों की अपेक्षा चिन्तन का विस्तार अधिक है। लेखिका ने भारत-भारती को साकेत, यशोधरा, पंचवटी आदि के साथ रखकर कवि के व्यापक आत्मचिंतन और लोकचिंतन को साधुवाद दिया है। 'भारत-भारती' में कवित्व-हीन लोकचितन की स्थिति तो हम मानते हैं परन्तु हम उसे साकेत, यशोधरा या पंचवटी की पंक्ति में बैठा लेना नहीं चाहते। 'भारत-भारती' हिन्दू-संस्कृति की जयघोषकारी विशुद्ध प्रचार-कृति है। यह सच है खड़ी बोली की कविता के प्रारम्भिक इतिहास में उसका प्रकाशन एक महत्त्व अवश्य रखता है।

रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आर्नेल्ड की तुलना औचित्यपूर्ण है। दोनों समीक्षक स्वीकृत सत्य को मानकर अधिक आग्रह प्रदर्शित करते हैं। पर जहाँ एक काव्य में भावपक्ष पर ज़ोर देता है वहाँ दूसरा बुद्धिपक्ष को ही प्रधानता देता है। जिस प्रकार आर्नेल्ड ने आलोचना की भाषा को पारिभाषिक शब्दावली प्रदान की उसी प्रकार शुक्ल जी ने भी गतिशील हिन्दी गद्य को साहित्यालोचन की टकसाली पदावली देकर सम्पन्न बनाया। शुक्ल जी में प्रबन्ध-काव्य को परखने की विलक्षण क्षमता थी। आर्नेल्ड के समान शुक्ल जी कवि रूप में उत्साह के साथ गृहीत नहीं हुए।

महादेवी वर्मा और क्रिस्टिना रोज़ेटी को एक ही तुला पर लेखिका ने आसीन किया है। क्रिस्टिना आंग्ल-साहित्य में उज्ज्वल धार्मिक

कवयित्री के रूप में स्वीकार की गई है। पर महादेवी आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करने पर भी धार्मिकता की सीमा में अपने को नहीं बाँध सकी। यह आवश्यक नहीं है कि आलोच्य कवि सभी दृष्टियों से समतल भूमि पर खड़े हों। यदि उनकी वृत्तियों में समान बहुलता है तो हम उनका साथ-साथ स्मरण कर सकते हैं। क्रिस्टिना और महादेवी की काव्य प्रेरणा के मूल में स्निग्ध प्रेम के अभाव का ज्वालामुखी अन्तर्हित है जो उनकी अभिव्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूपों में विस्फुटित हो उठा है। इसी को विदुषी समीक्षिका ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—"क्रिस्टिना की कृतियों में अमल, धवल पावनता, भोली सरलता और यत्किंचित अल्हड़पन भी है जिसमें विराग की धूमिल अरुणिमा यत्र-तत्र बिखरी हुई है और महादेवी के काव्य में नारीत्व का क्रंदन, असफल पत्नीत्व की खीज और द्विविधाग्रस्त अभावजन्य उपराम है जिसमें नारी-सुलभ समर्पण भावना और जीवन की गुत्थी न सुलझने के कारण दुर्भेद्य सघनता व्याप्त हो गई है।"

चेखव और यशपाल की तुलना में लेखिका ने दोनों की शोभन और अशोभन प्रवृत्तियों को उद्घाटित करने का यत्न किया है। यशपाल जनता में 'आत्मविश्वास और स्वस्थ सामाजिक विन्यास की भावना जगा रहे हैं।' इस मत से चाहे हमारा तादात्म्य न हो, पर उनका यह निष्कर्ष [illegible]चित है कि "यशपाल में वयःप्राप्त अनुभवी कलाकार चेखव की-सी परि[illegible]क्वता अभी नहीं आई। फिर भी क़दम से क़दम मिलाकर वे उसी दिशा की [illegible]र अग्रसर हो रहे हैं।" इलियट और अज्ञेय के सम्बन्ध में कहा गया है [illegible] इलियट आस्तिक मनस्वी है और अज्ञेय नास्तिक आत्मार्थी है। दोनों समाज की वर्त्तमान श्वासावरोधी विषमताओं से परिचित होकर भी [illegible]वादी विचारधारा के पोषक हैं।" अज्ञेय किस अर्थ में समाजगत [illegible]वादी विचारधारा के पोषक हैं, यह हम स्पष्ट रूप से नहीं समझ [illegible]! '[illegible]' और 'अज्ञेय' समानार्थी शब्द प्रतीत नहीं होते। जैनेन्द्र और [illegible]िप में जहाँ तक दार्शनिकता के साथ [illegible]

है, समता स्थापित हो सकती है। मेरिडिथ के कवि और दार्शनिक रूप की मीमांसा जी० एम० ट्रेवेलियन ने बहुत मार्मिक ढंग से की है। सूक्ष्म मानसिक गुत्थियों को सुलझाने की कला में मेरिडिथ बेजोड़ है। अंग्रेजी साहित्य में मेरिडिथ की कवि के रूप में भी प्रतिष्ठा है। जैनेन्द्र की शुष्क दार्शनिक के रूप में मान्यता है। पर दोनों के उपन्यासों के पुरुष तथा स्त्री-पात्रों का लेखिका ने बहुत सुलझा हुआ विश्लेषण किया है— "जैनेन्द्र के पुरुष-पात्रों में स्त्रैणता है, उनके अणु-अणु में नारी व्याप्त है। मेरिडिथ के पुरुष-पात्र दुराग्रही, अहंकारी और अदम्य पौरुष से पूर्ण हैं।"

'ऐतिहासिक उपन्यासकार' शीर्षक निबन्ध में विक्टर ह्यूगो, ड्यूमा, स्कॉट, बंकिम, राखालदास, हरिनारायण आप्टे, लक्ष्मीनरसिंहम्, कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी, राहुल और वृन्दावनलाल वर्मा की कृतियों की संक्षिप्त किन्तु तलस्पर्शी समीक्षा की गई है। शरच्चन्द्र और डॉस्टाइवस्की की तुलना के पश्चात चीन के महाकवि लिपो का स्वतन्त्र मूल्यांकन किया गया है। जर्मनी के संगीतज्ञ बीटोफेन का एक करुण शब्दचित्र भी इस पुस्तक में है जो उसके ढाँचे में ज़बरन समाया हुआ-सा प्रतीत होता है। वर्ड्सवर्थ और प्रकृति का अध्ययन गृहीत सत्यान्वेषणों से पूर्ण है। परन्तु रवीन्द्र, पन्त और कीट्स के सौन्दर्यवाद तथा हार्डी और प्रसाद के प्रकृति-चित्रण में परस्पर समानता-असमानता का श्रमसाध्य ऊहापोह है।

तेईस निबन्धों में लेखिका ने पश्चिम और पूर्व के प्रमुख कलाकारों से परिचित कराने का सफल उपक्रम किया है। यह आवश्यक नहीं है कि हम उनके सभी निष्कर्षों से सहमत हों। पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि उन्होंने कलाकारों की चिंतन-प्रवृत्तियों और हृदय के उद्वेलनों को परखने में जिस सहृदयता और जागरूकता का परिचय दिया है, उससे उनकी कारयित्री प्रतिभा के साथ साथ ग्राहिका-वृत्ति का भी स्पृहणीय उद्‍घाटन हुआ है। कलाकार की आत्मा में प्रविष्ट हो

उसके एक-एक तंतु की व्याख्या करने में लेखिका की अद्भुत क्षमता प्रकाशित हुई है। उनकी आलोचना में व्याख्यात्मक शैली की प्रधानता तो है ही, गृहीत तथ्यों को उल्लास के साथ प्रौढ़ काव्यमयी भाषा में प्रस्तुत करने का अखंड उत्साह है। भाषा की रसता आदि से अंत तक एक-ही गति से प्रवाहित हुई है। हिन्दी अधिकृत रूप से राष्ट्रभाषा बन चुकी है। अतएव आज हिन्दी का समीक्षक हिन्दी-क्षेत्र तक अपनी दृष्टि सीमित रखकर पनप नहीं सकता। उसे अपने साहित्य को विश्व साहित्य की गतिविधियों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखते रहने की आवश्यकता है। हमें प्रसन्नता है कि श्रीमती शचीरानी जी ने समय की नाड़ी के स्पंदन को अनुभव कर इस दिशा में अनुकरणीय कार्य किया है।

यदि यही क्रम समीक्षकों ने अपनाया तो भविष्य में किसी 'भवभूति' को निराश होकर यह नहीं कहना पड़ेगा—

"उत्पस्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा
कालोह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी।"

'साहित्य-दर्शन' से हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का पुनरुद्धार हो रहा है, स्वस्थ रूप में। हमें प्रसन्नता है कि लेखिका अपनी इस प्रथम कृति से ही आलोचकों की प्रथम श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गई है।"

('विशाल भारत', जून, १९५१)

प्रो० देवराज उपाध्याय का एक पत्र प्रकाशित हुआ है। उनका विचार भी देख लें :—

"हाल ही में मैं जयपुर, दिल्ली, इलाहाबाद और पटना होता और अपने पुराने साहित्यिक मित्रों से मिलता-जुलता यहाँ लौटा हूँ। जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ हिन्दी-संसार के निवासियों में जागृति के चिह्न ही पाए और मेरी यह धारणा बँधी कि हिन्दी-संसार अँगड़ाई ले रहा है। सबके हृदय में एक जिज्ञासा है, कौतूहल है और सब के अन्दर एक आकांक्षा है कि हिन्दी में जल्द-से-जल्द विश्व की अन्य समृद्ध भाषाओं की योग्यता आ जाय और उसका साहित्यिक भंडार सूना-सूना-सा न

रहे। फिर भी कुछ बातें ऐसी अवश्य दिखाई पड़ीं, जिन पर सशंक दृष्टि से देखना आवश्यक है और यथासाध्य इन प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण करना भी। इस यात्रा में अनेक साहित्यिक बन्धुओं से अप्रत्याशित ढंग से मुलाक़ात हुई और उन से हिन्दी-साहित्य की गति-विधियों पर विचार-विनिमय करने का अवसर मिला। इधर जो कुछ नई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनके बारे में लोगों ने अपने मत अभिव्यक्त किए और उन पर मेरी भी राय जाननी चाही। विशेषतः पंत और महादेवी तथा श्रीमती शचीरानी गुर्टू की पुस्तक 'साहित्य-दर्शन' पर प्रायः सबों ने अपने मत प्रकट किए और प्रायः सब तथाकथित समालोचक असहिष्णु तथा असन्तुष्ट ही दीख पड़े। प्रसंगवश यहाँ मैं 'साहित्य-दर्शन' के सम्बन्ध में हुए वार्त्तालाप के कुछ अंश उद्धृत करूँगा, जिससे आलोचकों की मनोवृत्ति का कुछ अन्दाज़ा लग सके।

एक बड़े ही प्रतिष्ठित मासिक-पत्र के दफ्तर में गया। सम्पादकजी ने यथोचित शिष्टाचार के पश्चात् पूछा—"आपने 'साहित्य-दर्शन' देखा है ? कैसा लगा ?" मैंने कहा—"मैंने उस पुस्तक को सांगोपांग तो पढ़ा नहीं कि उस पर अधिकारपूर्ण सम्मति दे सकूँ, पर उसमें स्पष्टतया खटकने वाली बात जो देखने को मिली वह यही कि उसमें अवांछनीय रूप में देशी और विदेशी विद्वानों के सम्मतियों के संग्रह की प्रदर्शनी सजाई गई है। ऐसा मालूम होता है कि लेखिका में कहीं हीनता की ग्रन्थि हो, उन्हें अपने ऊपर तथा अपनी पुस्तक के ऊपर पूर्ण रूप से आस्था न हो और वे इन सम्मतियों के द्वारा आलोचकों का मुँह बन्द करना चाहती हैं। जिसे हम स्वतन्त्रता-पूर्व युग में गुलामी मनोवृत्ति कहते थे, उससे आज तक हमारा पिण्ड नहीं छूटा है। एक ज़माना था, जब कि 'पुराणमित्येव साधु सर्वम्' का हमारे यहाँ बोलबाला था। यह आज भी एकदम दूर ही हो गया हो, ऐसी बात नहीं है। पर आज सब से प्रबल धारा है 'आंग्ल इत्येव साधु सर्वम्'—अर्थात् जो कुछ अंगरेज़ या अंगरेज़ी के द्वारा किया गया हो, वह सब अच्छा ही है। हमने

संस्कृत-साहित्य की महत्ता तब तक स्वीकार नहीं की जब तक कि अंगरेज़ों ने उसकी प्रशंसा नहीं की। तुलसी का महत्व भी ग्रियर्सन की छाया के तले चला। पर स्वतन्त्र भारत में भी 'साहित्य-दर्शन' मेकडोल के चन्द चलते वाक्यों का मुँह जोहे, यह बात मुझे खटकी।"

इस पर सम्पादक जी ने पूछा—"उस पुस्तक के वर्ण्य विषय के बारे में आपकी क्या सम्मति है?" मैंने कहा—"वर्ण्य विषय के बारे में मुझे कोई असन्तोष का कारण नहीं दीखता। कम-से-कम अपने ढंग की यह प्रथम पुस्तक है, जिसमें दो विभिन्न देशों और कालों की प्रतिभाओं के बीच प्रवाहित होने वाली चिन्तन-धारा को समझने और समझाने का उपक्रम किया गया है। पुस्तक में गंभीर पाण्डित्य भले ही न हो, परन्तु उसमें लेखिका की निजता है, उनके सहानुभूतिशील और संवेदनशील हृदय का स्पंदन तो है ही। और मैं इसे पाण्डित्य की गंभीरता से अधिक महत्व की वस्तु मानता हूँ।" इस पर वे कुछ न बोले।

मैं जहाँ-जहाँ गया, वहाँ अन्यान्य बातों के साथ 'साहित्य-दर्शन' के बारे में लगभग इसी तरह की बातें हुईं और मैंने लगभग यही बातें कहीं। आश्चर्य तो यह है कि सबों ने मन-ही-मन मेरी बात में सत्य का जो अंश है, उसे स्वीकार किया—स्पष्ट शब्दों में तो नहीं, पर 'नेक कही बैनन सों, अनेक कही नयनन सों, बची-खुची सो कह दीनी हिचकीन सों'। उस दिन जोधपुर में एक सज्जन मिले, जिनकी बातें सुनकर तो अकबर की तरह हैरतोग़ैरत से गड़ गया और सोचा कि सच में क्या हिन्दी के मर्द-आलोचकों की अक्ल पर पर्दा पड़ गया है? सचमुच सरस्वती इतनी ईर्ष्यान्ध होती है क्या? सुना तो यही है कि लक्ष्मी का वाहन उल्लू है और सरस्वती हंस पर विराजमान है। क्या कलियुग में सरस्वती दूसरे कैम्प में चली गई हैं? ये सज्जन अभी कुछ दिन पहले विद्यार्थी थे, कुछ वर्षों से किसी कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। कहने लगे—"यह पुस्तक प्रकाशक ने रिव्यू के लिए मेरे पास भेजी है। उसमें यह नहीं है, वह नहीं है।" फिर थोड़ी देर बाद बोले—"मैं शचीरानी

को जानता हूँ। उनको कुछ भी नहीं आता।" मैंने कहा—"उस पुस्तक में क्या नहीं है, यह तो देखा; पर आपने यह भी देखा कि उसमें क्या है? आलोचक का काम यह है कि आलोच्य पुस्तकों के गुणों को पहचाने और उनको प्रकाश में लाये। रही त्रुटियों की बात, सो उनको भी बहुत मुलायम ढंग से छूकर हो सके तो कोई रचनात्मक सुझाव दे। आलोचकों को मैं एक मित्र की तरह मानता हूँ, जो 'गुह्यान्नि-गूहति गुणान्प्रकटीकरोति'। हाँ, वह गुह्य का निगूहन भले ही न करे, पर गुणों को प्रकट तो करे ही। वैसे तो विधाता की सृष्टि में भूल दिखलाने वालों की कमी नहीं है। लोग कह ही देते हैं कि 'दीने दई गुलाब में उन डारन वे फूल'। रह गई शचीरानी के जानने और न जानने की बात, सो सुना है कि वे एम० ए० तो पास हैं ही। मेरा तो ख़याल है कि कोई कुछ जानता-वानता नहीं। मनुष्य के ज्ञान की सीमा बहुत छोटी है। मैं आज १६ वर्षों से प्रोफ़ेसरी कर रहा हूँ। मैं जानता हूँ कि विद्वान् कितने गहरे पानी में रहते हैं। दाई से पेट भला छिपा है? इस अर्थ में शचीरानी या कोई कुछ नहीं जानता, तो ठीक है। पर आपके कथन की ध्वनि यह है कि शचीरानी अज्ञ हैं, पर आप विज्ञ क्या सर्वज्ञ हैं! मैं इस 'ध्वन्यालोक' का घोर विरोध करता हूँ। जो लोग सत्तू-पानी लेकर 'साहित्य-दर्शन' के पीछे पड़े हैं, वे आगे आकर इस तरह की या इससे अच्छी पुस्तक की रचना करते क्यों नहीं? कम-से-कम शची जी ने हिन्दी के लेखकों का नया मार्गोद्घाटन किया है। उनकी यह कृति शुभारंभ है। उन्होंने लोगों का इस पथ की ओर आह्वान किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि कि इसमें त्रुटियाँ हों, पर इससे क्या? वे रह-रहकर दूर होती रहेंगी। आप यही न कहेंगे कि 'साहित्य-दर्शन' में अनुच्छेद-के-अनुच्छेद ड्रिंकवाटर की पुस्तक का अनुवाद है। अमुक जी तो बड़े माने आलोचक हैं न, और उनकी अमुक पुस्तक आलोचना की स्टैण्डर्ड किताब! यह देखिए अंगरेज़ी की पुस्तक और मिलाइए तो अमु अ-अमुक अनुच्छेदों को।"

हाँ, इस यात्रा में तीन ही ऐसे व्यक्ति मिले जिन्होंने कहा कि लोग ईर्ष्यालु होकर ऐसी आलोचनाएँ लिखते हैं। ये तीन व्यक्ति हैं सर्वश्री सुमित्रानन्द पंत, प्रकाशचन्द्र गुप्त और नलिनविलोचन शर्मा। मरुभूमि में इस नखलिस्तान को देखकर खोती हुई आस्था लौट आई। इस सम्बन्ध में मुझे लेखिका से एक बात कहनी है। वह यह कि वे निश्शंक होकर दृढ़ चरणों से मूक साधिका की तरह अपनी साधना की ओर अग्रसर होती रहें। कोई क्या कहता है, हमारे प्रयत्नों को कोई प्रशंसात्मक दृष्टि से देखता है या निन्दात्मक दृष्टि से, यह जानने की अधिक प्रवृत्ति साधक की किसी आन्तरिक दुर्बलता का ही द्योतन करती है और उसकी सृष्टि भी करती है।

आजकल के इन आलोचकों को देखकर मुझे बन्दरों की याद आ जाती है। आप राह में चले जा रहे हैं कि बन्दर ने झपटकर आपकी कोई वस्तु छीन ली और डाल की ऊँचाई पर जा बैठा तथा वहीं से आप पर घुड़कना प्रारम्भ किया। ठीक उसी तरह किसी के पास कोई पुस्तक सम्मत्यर्थ आई नहीं कि वह एक छलाँग में आलोचना के हिम-शिखर पर जा पहुँचता है और अपने को सुरक्षित समझ कर लेखक से बुज़ुर्गाना ढंग और हाकिमाना अन्दाज़ से बोलना शुरू कर देता है: तुमने यह क्यों नहीं किया, वह क्यों नहीं किया? तुम में अक्ल नहीं, तुम्हें यह करना चाहिए था, वह करना चाहिए था। इन भलेमानुषों से कोई यह पूछने वाला नहीं कि लेखक ने क्या किया है, वह भी तो देखो। एक बार एक व्यक्ति ने कहा कि यदि आलोचना कठोर और निर्मम न हो, तो हिन्दी में उच्चकोटि की पुस्तकों का निर्माण कैसे हो? पर मुझे इन हिन्दी में उच्चकोटि की पुस्तकों के निर्माण की बात करने वालों पर हँसी आती है, मानों उच्चकोटि का साहित्य एक छलाँग में, आनन-फानन में ही, निर्मित हो जाता है। रवीन्द्र, कालिदास, शेक्स-पियर—जैसे एक ही दिन में उत्पन्न हो जाते हैं! इनके पीछे तो युगों की साधना होती है तथा इनको उपयुक्त माध्यम समझ कर युग बोल

उठता है। साहित्य के इतिहास को देखा जाय तो पता चलेगा कि यत्र-तत्र छुट-पुट प्रयत्न होते रहते हैं, छोटे-छोटे साहित्यिक साधना-मन्दिर में दीपक की लौ जलाए रहते हैं। बाद में कोई ऐसी प्रतिभा आती है, जो उन सबों को समाहित कर एक घनीभूत प्रकाशपुंज की तरह गगन-मंडल में चमक उठती है, पर प्रकाशपुंज और गूलर के फूल के पाने के हठ में अनेक फूलों को मसल तो नहीं देना चाहिए? ऐसा करने से तो हमारी हालत वही होगी, जो 'ध्रुव को छोड़कर अध्रुव के पीछे मरने वालों की होती है। इससे जो-कुछ विकास हो रहा है या विकसित होने का मार्ग तैयार हो रहा है, वह भी अवरुद्ध हो जायगा।"

('नया समाज', मई, १९५२)

अन्त में पुस्तक के कतिपय दोषों की ओर मैं लेखिका का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। मुझे लगता है कि 'साहित्य-दर्शन' पुस्तक कुछ जल्दी में लिखी गई है और उसका यथोचित संपादन नहीं हुआ है। अन्यथा तुलनात्मक आलोचना के ग्रन्थ में 'उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द', 'चीन का राष्ट्र-कवि लिपो' या 'कलाकार बीटोफेन' या 'वर्ड्स्वर्थ और प्रकृति' जैसे एक लेख पर लिखे निबन्धों को कोई स्थान नहीं होता। दूसरे 'प्रसाद और गेटे' निबन्ध के बाद 'हार्डी और प्रसाद का प्रकृति-चित्रण और नियतिवाद' कोई अर्थ नहीं रखता। या तो गेटे के 'फ़ाउस्ट' की विराट् मनस्वी कल्पना 'कामायनी' कार में है, या फिर मानव को अक्षम 'क्रूर, बचपनभरे देव-शिशुओं द्वारा मारी गयी मक्खियों' की तरह संकल्पहीन मानने वाले हार्डी का पूर्वनैश्चित्यवाद ही है। ये दोनों बातें एक साथ 'प्रसाद' में नहीं देखी जा सकतीं। वस्तुतः तुलना के दो पक्ष हैं: या तो एक व्यक्ति लेखक से अन्य व्यक्ति लेखक की समान प्रवृत्तियों का मूल्यांकन, या फिर बहुत से लेखकों में एक ही प्रकार की मानसिक उद्भावनाओं का अध्ययन। 'कालिदास और शेक्सपीयर', 'तुलसी और मिल्टन', 'प्रेमचन्द्र और गोर्की', 'गेटे और प्रसाद', 'निराला और ब्राउनिंग', 'शेली और पंत', 'रामचन्द्र शुक्ल और मैथ्यू आॅरनल्ड',

'शरच्चन्द्र और दास्तावेयस्की' इस ग्रन्थ के सर्वोत्तम निबन्ध हैं। इतनी ही तुलनाएँ वस्तुतः संभाव्य हैं और समीचीन भी हैं। इसके बाद तो तुलना के लिए तुलना जैसी खींचातानी है। 'विश्व के महाकाव्यकार', 'विश्व के ऐतिहासिक उपन्यासकार' और 'रवीन्द्र, पंत और कीट्स का सौंदर्य-वाद' ये तीन और लेख इस ग्रन्थ में बहुत अध्ययनपूर्ण लिखे गये हैं। इस प्रकार यह ग्यारह निबन्ध हमें इस ग्रन्थ में अच्छे लगे—यद्यपि इनमें भी अंग्रेज़ी पद्य-उद्धरणों के अनुवाद और सुधर सकते थे। इन निबन्धों के विषय में विशेष हम कहना नहीं चाहते, क्योंकि अब तक विविध समीक्षकों की सराहना ऊपर हमने दी ही है।

अब जो विवाद्य तुलना-युग्मक हैं, उनके बारे में हम अपना स्पष्ट मत दें। तालस्त्वा का उपदेशात्मक, शुद्धिवादी आत्म-मन्थन जो कि 'शिवम्' को 'सत्यम्' मानता है, रवीन्द्र के उद्दाम, मांसल 'रूप-रस-वर्ण-गन्ध' मयी सृष्टि से जो कि 'सुन्दरम्' को ही 'सत्यम्' मानता है बहुत कम तौलनीय है। यह ठीक है कि बचपन की स्मृतियाँ दोनों ने समान भाव से लिखी हैं। कहीं-कहीं नैराश्य और भ्रमण-प्रवृत्ति भी दोनों में समान है, परन्तु यह बड़ा कच्चा सूत है। तुलना इस पर टिक नहीं सकती। उपन्यासों में भी 'चोखेर बाली', 'नौका डूबी', 'गोरा', 'घरे बाहिरे', 'मालंच', 'चार अध्याय' के रचनाकार को 'रिसरेक्शन', 'अन्ना कैरेनिना', 'वार एंड पीस' या 'क्राइतज़र सोनाटा' के लेखक से किसी प्रकार तौला नहीं जा सकता। छोटी कहानियों में वत्सल-करुण मानवता-वाद मात्र थोड़ा समान है।

'महात्मा गाँधी और रोम्याँ रोलाँ' निबन्ध वस्तुतः इस प्रकार के साहित्य-दर्शन की विषय-कक्षा से बाहर जाता है। गाँधी जी निरे साहित्यकार नहीं थे। वे तो नीतिदाता, दार्शनिक, महात्मा थे। रूसो, ताल्स्ताय, वाइल्ड, एमिल मैनिन के श्रेष्ठ 'कन्फेशन' (आत्म-स्वीकृति)-साहित्य में गाँधी जी की आत्मकथा के अंश और 'प्रसाद-दीक्षा' जैसे ग्रंथों को लिया जा सकता है। परन्तु फिर भी गाँधी जी को कलाकार रोलाँ के

समकक्ष रखना कुछ समझ में नहीं आता। 'वीणा' के रोम्याँ रोलाँ अंक में 'युग-मनीषी रोलाँ' लेख में मैंने गाँधी से रोलाँ कैसे प्रभावित हुए, उनके पत्र-व्यवहार और रोलाँ की गाँधी पर पुस्तक के विषय में विस्तार से लिखा था। परन्तु यह लेख 'साहित्य-दर्शन के' क्षेत्र से बाहर जाकर नीति और राजनीति-दर्शन में आता है।

'मैथिलीशरण गुप्त और रॉबर्ट बर्न्स' यह लेख हमारी समझ में बिल्कुल नहीं आया। बर्न्स स्कॉटलैंड का प्रादेशिक सौन्दर्य वाला, उद्दाम वासनामय गीत-चित्रण करने वाला ग्राम-कवि, गुप्त जी मर्यादावादी महाकवि। दोनों में बहुत कम क्या, नहीं के बराबर साम्य है; दोनों की भाषा की सहजता-सरलता छोड़ दें तो।

इसी प्रकार से महादेवी और क्रिस्टिना रोज़ेटी में रहस्यवादी पुट का आंशिक साम्य, और यशपाल-चेखव में समाज-विश्लेषक कहानीकार होने का आंशिक साम्य, और जैनेन्द्र-मेरिडिथ में नारी-चित्रण का कुछ साम्य कहीं है, परन्तु ये तुलनाएँ भी हमें संपूर्ण और सहज नहीं जान पड़ीं।

और सबसे विवाद्य निबन्ध है 'अज्ञेय और इलियट'। टॉमस स्टर्न इलियट की परिणति धर्म-श्रद्धा में हुई है, उसके काव्य में रिचर्ड्‌स के शब्दों में 'कल्पनाओं का संगीत' है। इससे उलटे 'अज्ञेय' की संदेहवादी प्रज्ञाशीलता सर्वत्र स्पष्ट है। परन्तु इसी से 'अज्ञेय का दृष्टिकोण इलियट से अधिक प्रगतिशील' है (पृ० २७८) यह कहने का साहस मैं नहीं कर सकता। फिर 'शेखर' की तुलना इलियट की कविताओं से करना दोनों के प्रति अन्याय है। शेखर पर डी० एच० लारेंस और 'ज्याँ-क्रिस्तोफ़' का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। केवल इतना ही कहें कि हिन्दी और अंगरेज़ी कविता में आधुनिकतावाद लाने वाले ये दो बुद्धिवादी कवि हैं तो शायद थोड़ा-सा साम्य दिखाई दे। वैसे 'अज्ञेय' और 'रूढ़ि' एक साथ नहीं जाते।

सारतः ग्रंथ में स्थान-स्थान पर लेखकों की कृतियों की जो सूचियाँ हैं, वे न होतीं और विदेशी उद्धरण अधिक अच्छी तरह संचयित और

अनूदित होते तो ग्रंथ में अधिक विचारशीलता आती। अभी तो ग्रंथ का मूल्य एक सुन्दर साहित्यिक संकलन की भाँति है; मौलिक विचारोद्भावना की 'साहित्यालोचन', 'सिद्धान्त और अध्ययन' की तरह इसमें भी कमी ही है।

'साहित्य-दर्शन' के इतने दोष-दिग्दर्शन के बाद दो-तीन प्रश्न जो इस पुस्तक को लेकर आलोचकों के सामने आये, वे विचारणीय हैं :

(१) आलोचना-साहित्य में मौलिकता का क्या अर्थ है ?
(२) तुलनात्मक आलोचना में आलोचक की रुचि को कहाँ तक स्वतन्त्रता है ?
(३) क्या विभिन्न देशकाल के साहित्यिक तौलनीय हैं ?
(४) आलोचक का दृष्टिकोण क्या हो ?

पहला सवाल तो विद्यानिवास मिश्र के एक लेख से उठा जिसमें जॉन ड्रिंकवाटर के 'मार्च ऑफ लिटरेचर' से 'साहित्य-दर्शन' के कतिपय अंशों का साम्य सुझाया गया था। यहाँ तक हम इस आलोचना से सहमत हैं कि शची जी को अपनी पुस्तक में आधार-ग्रंथों की एक सूची अवश्य देनी चाहिये थी, परन्तु समूचे ग्रंथ का आधार निरे ड्रिंकवाटर को मानना ग़लत होगा। वैसे 'आलोचना में नया कुछ नहीं होता' अज्ञेय के 'त्रिशंकु' में से इस मत को उद्धृत कर 'दृष्टिकोण' (४) में केसरीकुमार ने अज्ञेय के कला के स्रोत विषयक सिद्धान्त का इसी प्रकार का बिना उल्लेख के लिखित 'डिफेन्स ऑफ़ पोएट्री' से अपहरण तुलना में रखा है। यदि विदेशी स्रोतों से भारतीय लेखक कुछ लें तो उसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं है। केवल उस आधार का स्पष्ट उल्लेख सदा अधिक श्रेयस्कर होता है। मौलिकता का अर्थ आलोचना में मौलिक चिंतना की तरह नहीं होता। यहाँ मौलिक संयोजना का अधिक मूल्य होता है। 'प्रवाह' में विद्यानिवास तथा कपिला मल्लिक की आलोचनाओं का उत्तर श्रीमती कमलादेवी ने दिया था। वैसे देवराज

उपाध्याय ने 'नया समाज' में इस विषय में एक मनोरंजक पत्र प्रकाशित किया।

दूसरा और तीसरा प्रश्न ऐसा है जो विवाद्य है, यानी जिस पर दो मत हो सकते हैं। विनयमोहन जी शर्मा 'टैगोर और तॉल्स्ताय' की तुलना को समर्थनीय मानते हैं। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि दोनों में मुझे बहुत कम साम्य नज़र आता है। 'जैनेन्द्र और मेरीडिथ', और 'शरच्चंद्र और दास्तावएस्की' की तुलना में मैं 'जैनेन्द्र और दास्तावएस्की अधिक पसन्द करता। शरच्चंद्र का सानी शायद एमिली ब्रांटी या हार्डी में अधिक हमें मिलता। परन्तु यह बिलकुल अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है। दो विभिन्न देशों के, दो विभिन्न कालों के और परिस्थितियों के लेखक तुल्यबल हैं या नहीं—यह सचमुच बहुत विचारणीय वस्तु है। जैसे रूसी क्रांति के बाद का चेख़व और १९५२ का यशपाल वैसे दृष्टिकोण में मोटे तौर पर मार्क्सवादी या क्रान्तिकारी हों, परन्तु दोनों में क्या वैषम्य हो, यह देखना हो तो चेख़व के नाटक 'प्रोपोज़ल' से यशपाल का नाटक 'नशे-नशे की बात' तौलिये।

आलोचक पर इस बात का ज़ोर नहीं दिया जा सकता कि वह अमुक दृष्टिकोण ही रखे, परन्तु उसमें एक सामान्य और सुसंगत दृष्टि-कोण आवश्यक है।

शची जी ने साहित्य-उपवन के अनेक सुमनों का रसास्वादन किया जान पड़ता है। 'साहित्य दर्शन' की निम्न विशेषताएँ हैं :—

(१) हिन्दी आलोचना-साहित्य में यह सर्वप्रथम ऐसा बृहद् ग्रंथ है जो किसी महिला ने लिखा हो।

(२) हिन्दी आलोचना-साहित्य में डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० नगेन्द्र जैसे परस्पर-विरोधी दो ध्रुवों जैसे आलोचकों का मतैक्य इस ग्रंथ की श्रेष्ठता के बारे में हुआ है।

(३) होमर, वर्जिल, दांते, मेरीडिथ, दास्तावएस्की, चेख़व, क्रिस्टीना

रोज़ेटी आदि के विषय में पहली बार विस्तार से इतनी सामग्री हिन्दी में एकत्रित मिलती है।

(४) विदेशी लेखकों के विषय में ही नहीं अपितु प्रान्तीय भाषाओं के लेखकों के विषय में भी इतनी सामग्री हिन्दी में कम संकलित है, यथा ऐतिहासिक उपन्यास वाला लेख।

(५) साहित्य के साथ अन्य ललित-कलाओं की भी समीक्षा।

(६) भाषा सरल और प्रवाहमयी तथा संकलित सामग्री को सुसज्जित रूप में प्रस्तुत करने का सुचारु यत्न।

(७) निरे अध्यवसाय को ही ध्यान में लें तो लेखिका का इतना विराट् प्रयत्न अपने आप में स्तुत्य है।

लेखिका की और दो समीक्षाकृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। वे हैं: 'साहित्यिकी' और 'कला-दर्शन'। 'साहित्यिकी' देखने में आई। इसका प्रथम अध्याय 'काव्य-दर्शन' बड़ा ही महत्वपूर्ण है, यानी इसमें एक साथ खंडकाव्य, महाकाव्य आदि, प्रबंधकाव्य की परिभाषा और उस कसौटी पर रासो, पद्मावत, प्रियप्रवास, साकेत, कामायनी, सिद्धार्थ, आर्यावर्त्त, हल्दीघाटी, नूरजहाँ, कुरुक्षेत्र, मेधावी, कुणाल, कैकेयी, कृष्णायन आदि की संक्षिप्त परन्तु बहुत पते की आलोचनाएँ हैं। 'कला-दर्शन' ग्रंथ देखने में नहीं आया। पर आशा की जा सकती है कि आलोचिका की अन्य भावी कृतियाँ और भी सुन्दर होंगी।

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' : ५ :
'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धांत':

लक्ष्मीनारायणसिंह 'सुधांशु'

'कविहिं अरथ आखर बल साँचा !' (तुलसी)

श्री लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के दो समीक्षा-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनपर प्रस्तुत निबन्ध में विचार किया जायगा। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', संवत् १९९३ में प्रकाशित हुआ था और अब तक इसके तीन संस्करण हो चुके हैं। दूसरी पुस्तक 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' के दो संस्करण हुए हैं : प्रथम १९४२ में, दूसरा १९५० में।

इन दोनों ग्रंथों का सामान्य परिचय इस प्रकार से है। काव्य में अभिव्यंजनावाद' में जो नौ अध्याय हैं उनमें निम्न विषय हैं : संस्कृत साहित्य-शास्त्र का परिचय, सहजानुभूति का तत्त्व, अभिव्यंजना और कला, रसानुभूति का तत्त्व; अलंकार और प्रभाव, प्रतीक और उपमान, अमूर्त्त का मूर्त्त विधान, मूर्त्त का अमूर्त्त विधान, अभिव्यंजना की कुछ विशेष प्रवृत्तियाँ, उपसंहार। अब इनमें समीक्षा-योग्य या विवाद्य जो स्थल हैं या प्रश्न हैं, उन्हीं को यहाँ मैं ले रहा हूँ। वे हैं :

(१) कला और सहजानुभूति (दूसरा अध्याय)

(२) रसानुभूति का स्वरूप और रस का प्रयोजन
(३) प्रतीक और उपमान
(४) वाच्यार्थ में काव्यत्व

दूसरे ग्रन्थ में जो अध्याय हैं वे इस प्रकार से हैं : भाव-विन्यास और जीवन, जीवन का वातावरण और काव्य-प्रकृति; आत्म-भाव और काव्य-विधान, मन का ओज और रस, काव्य का अर्थबोध, काव्य की प्रेरणा-शक्ति, लय और छन्द, ग्रामगीत का मर्म, कलागीत की प्रवृत्तियाँ, अन्तर्दर्शन मुख्यतः नौ कवियों पर विस्तृत समीक्षाएँ न होकर लेखक के शब्दों में 'बहुत ही संक्षेप में, प्रवृत्ति-मूलक समीक्षाएँ की हैं। कवियों के निर्वाचन तथा क्रम में किसी निश्चित मानदंड का उपयोग नहीं किया गया है।' अतः इस अंतिम अध्याय को बहुत कुछ प्रभाव-वादी आलोचना समझकर हम विचार में नहीं लेंगे। हाँ, सैद्धान्तिक प्रश्न जो इस पुस्तक से उठते हैं और जो विचारणीय हैं वे इस प्रकार से हैं (क्रम पूर्व की चार समस्याओं से आगे रखा है) :—

(५) आत्म-भाव और काव्य-विधान
(६) काव्य की प्रेरणा-शक्ति : वासना और आत्मसुख
(७) लय और छन्द के नवीन प्रयोग
(८) ग्रामगीत में काल-बोध
(९) कलागीत का विकास : छायावाद, रहस्यवाद, आदि।

इन नौ प्रश्नों पर सुधांशु जी के विचारों की समीक्षा मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इस विवेचना में यथासंभव वैज्ञानिकता वरतने का यत्न किया जा रहा है।

१. कला और सहजानुभूति

इस प्रसंग में सुधांशु जी ने क्रोचे की स्थिति को ही विस्तार से स्पष्ट किया है। शांकर वेदान्त में क्रोचे जिसे 'इंटयूशन' कहता है उसे मात्र 'अनुभव' कहा गया है। 'सहजानुभूति' अनुवाद में 'कुछ

स्वभावोक्ति की सी झलक है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं-प्रकाश ज्ञान कहा है। और कहीं-कहीं मैंने प्रमा और प्रातिभ ज्ञान का भी प्रयोग इसी शब्द के लिए देखा है। वस्तुतः क्रोचे के अनुसार कला के मूल-सृजन का यह अनिवार्य भाव-क्षण, तर्कादि के क्षण से पूर्ववर्ती है। अतः उसे ज्ञान से भिन्न मानना चाहिये। वस्तुतः अनुबोध (कन्सेप्ट), जिसे सुधांशु जी ने 'विचार' कहा है, उससे भी क्रोचे का यह कला-प्रेरणा का मूलोद्गम भिन्न है। सुधांशु जी ने संवेदन (सेन्सेशन), पर्यवेक्षण या प्रेक्षण (पर्सेप्शन) तथा बोधन (कन्सेप्शन) प्रक्रिया की अरस्तू, दकार्त, लाक, कांट आदि की परिभाषाएं देकर एक ऐतिहासिक रेखा देने का यत्न किया है। परन्तु क्रोचे एक नव्यादर्शवादी अफ़लातून-शास्त्रीय दार्शनिक है। अतः आचार्य शुक्ल का यह रिचर्ड्स से लिया हुआ आक्षेप कि 'क्रोचे ने कल्पना के बोध-पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया, भावों की सत्ता को विशेष महत्त्व नहीं दिया' या सुधांशु जी की यह मान्यता कि 'आध्यात्मिक सत्ता का कला में समन्वय न करने का परिणाम काव्य में गणित का संयोग होता है' भी सही नहीं है।'

वस्तुतः क्रोचे के आन्तरानुभव (इंटयूशन) वाले सिद्धान्त पर जो कठिनाई मनोवैज्ञानिकों को जान पड़ती है वह मिशिगन यूनिवर्सिटी के डी० डब्ल्यू० एच० पार्कर ने १६२६ में प्रकाशित 'प्रोसीडिंग्ज़ आफ़ दि सिक्स्थ इंटरनैशनल कांग्रेस आफ़ फिलासफी' में पृ० ४३७ पर अपने निबन्ध 'कला में इच्छा-पूर्ति और आन्तरानुभव' में व्यक्त की है। उनके तर्क इस प्रकार हैं : क्रोचे का मत है कि कला का मूल्य रचनात्मक है। आधुनिक विश्वास यह है कि कल्पना के विविध रूप यथा स्वप्न, दिवास्वप्न, क्रीडा-कौशल्य, कला आदि ज्ञान-प्रक्रिया के लिए नहीं बल्कि इच्छा के बहुविध सन्तोष के प्रयोजन से अस्तित्व में आते हैं। यह प्रयोजन संकल्प-विकल्पात्मक अधिक है।

पहले तो सब कलाएँ कल्पना के एक सामान्य क्षेत्र के अंगीभूत हैं। कल्पना का कार्य सदा एक के बदले अन्य वस्तुओं को निरंतर देते रहना

है। वैहिंगर के शब्दों में वे अन्य वस्तुएँ ऐसी होती हैं मानों वे सच ही हों। यह सत्याभास ही कल्पना है।

कला में और क्रीडा में कल्पना उसी तरह कार्य नहीं करती जैसे वह स्वप्न में कार्य करती है। यानी केवल अंतर्जगत में ही नहीं घूमती रहती, परन्तु यहाँ कल्पना बाह्य-जगत् के पर्यवेक्षण-क्षेत्र में आने वाले वस्तु-केन्द्रों पर भी अपना अधिकार जमाती है। इन बाह्य-वस्तुओं का वही कार्य है जो कल्पना-चित्रों का; जैसे बच्चे के लिए गुड़िया होती है, कलाकार के लिए यह कलाकृति होती है। यह वास्तव की एक रिक्त-पूर्ति मात्र है। जैसे इच्छा के ही कारण स्वप्न में कल्पना-चित्र खड़े किये जाते हैं, उसी प्रकार इच्छा के कारण स्वप्न-परिपूर्ति के लिए कला कृतियों का निर्माण होता है। जैसे तुलसी ने कहा था 'शून्य भीति पर चित्र रंग बिनु कविउ रँगा चितेरे!'

अधिक मौलिक रूप में कल्पना वहीं रहती है जहाँ कोई इच्छा पूर्ण हो। वाह्य परिस्थिति के साथ परस्पर प्रक्रिया द्वारा किसी सामरस्य या सामंजस्य की रीति से नहीं, परन्तु ऐसी प्रक्रियाओं और अनुभूतियों के द्वारा कि जो उसी सप्राण-वस्तु के अन्दर जागृत होती है, यथा किसी संगीत-लहरी या नृत्य या स्पर्श से प्राप्त समाधान।

यथार्थवादी और निराशावादी कला में से भी एक तरह की सूक्ष्म काल्पनिक इच्छापूर्ति अवश्य होती है। कला के द्वारा होने वाली इच्छा-पूर्तियों के विभिन्न भेदों में अन्तर चीन्हना चाहिये : एक प्रकार की कला में, जैसे आदर्शवादी कला में, प्रेक्षक उस आदर्श सत्याभास से अपना तादात्म्य देखता है, या फिर उस वस्तु में इच्छा का एक पूरक ढूँढ लेता है। जैसे रति की प्रतिमा को देखते समय स्त्री-प्रेक्षक के सन्तोष का कारण प्रथम है, पुरुष प्रेक्षक के सन्तोष का कारण दूसरा।

अब इब्सन के यथार्थवादी नाटकों का उदाहरण लें। वे भी काल्पनिक समाधान दो तरह से देते हैं : एक तो वे ऐसे स्थानापन्न भाव-लक्ष्य प्रस्तुत करते हैं कि उनके द्वारा हमारे सहकारी मनुष्यों के साथ

इस भावना पर आश्रित है कि अचेतन रूप में मैं यह विधान करूँ कि मेरी इंद्रिय-संवेदन शक्ति पूर्ण है और निर्दोष है। परन्तु जैसे क्रोचे ने कहा है—'कला किसी अचेतन गणित का परिणाम नहीं है।' (आर्ट इस नाट एन एक्सरसाइज़ आफ़ अनूकान्शस एरिथमेटिक)

हमारे विवेकाश्रित विधान तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) तार्किक, (२) नैतिक, (३) सौन्दर्य-पूरक या कलात्मक।

अब इन तीन तरह के विधानों में प्रथम विधान में मूल्य-निर्धारण का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे और तीसरे विधान में मूल्य का भी प्रश्न आता है। अब इस सम्बन्ध में दो मत हैं कि मूल्य केवल उसी क्षेत्र से लिए जायँ कि जिसमें आलोचना संभव है, या मूल्य बाहिर से यानी समाज-विज्ञान आदि क्षेत्रों से लिए जायँ। एन० अलियास की 'सभ्यता की प्रक्रिया : सामाजिक जीवोत्पत्ति विषयक तथा मानसिक जीवोत्पत्ति विषयक अध्ययन' (Ueber den Process der zivilisation : Sociogenetische und psychogenetische Untersuchungen) नामक ग्रंथ में यह प्रतिपादन किया गया है कि "किसी समाज व्यवस्था के कुछ सामाजिक समूहों में भौतिक और व्यावसायिक एकाधिकार जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों हमारी संवेदना-प्रतिक्रिया भी यांत्रिक होती जाती है। वह अधिक नियमित हो जाती है।" यह यांत्रिकता हमारे मूल्यों में भी गड़बड़ी पैदा कर सकती है, इसीलिए वाइटहेड ने अपने 'विचारों के अभियान' (एडवेंचर्स आफ़ आइडियाज़) ग्रंथ में पृ० ३१ पर कहा है कि "जब जब किसी समाज व्यवस्था में हम कल्याण की ओर प्रगति देखते हैं तो उसमें मुख्य भाव होता है पशु-रूपता में फिर से लौट जाने से हमारे आचरण की रक्षा।"

अतः अभिव्यंजना की प्रक्रिया एक दोहरी प्रक्रिया है। जान ड्वी अपने 'आर्ट एज़ एक्सपीरियन्स' के चतुर्थ अध्याय में बताता है कि 'एक ओर तो बाह्य परिस्थितियों में जहाँ गति-रोध और अंध मार्गशून्यता

जान पड़ती थी उनको साधन बनाकर बढ़ने की वृत्ति, दूसरी ओर अतीत अनुभव की बासी और पुरानी जान पड़नेवाली वस्तुओं से पुनः प्रेरणा !"*

अतः अभिव्यंजना निरी आन्तरिक प्रक्रिया मात्र नहीं है और न ही वह केवल बाह्याश्रित क्रिया है। दोनों का परस्पर-प्रभाव और परस्परावसंगठन स्पष्ट है।

२. रसानुभूति का स्वरूप और रस का प्रयोजन

इस अध्याय के अन्तर्गत सुधांशु जी ने सौन्दर्य और आनन्द, सौन्दर्य में निजत्व, काव्यानुभूति और रसानुभूति, काव्य में जातीयता, संस्कार का आवरण, संस्कार और रसानुभूति, सद्गुण का महत्त्व आदि तादात्म्य के शील-दर्शन तक आरम्भिक विवेचन में प्रायः रामचन्द्र शुक्ल के मतों की ही पुनरावृत्ति की है। पृ० ६७ पर वे कहते हैं—"रसानुभूति के लिए हृदय की संशयपूर्ण स्थिति उपयुक्त नहीं होती। उसके लिए हृदय की विकार-रहित स्थिति आवश्यक है।" इस मत में दो चिन्त्य प्रश्न हैं—

(१) आधुनिक युग और परिस्थिति में जबकि सभी चिंतक (जो स्वाधीन चिंता में विश्वास करते हैं और जिन्होंने किसी एक मतवाद को अपनी विचार-धारा कठमुल्लापन से बेच नहीं दी है) दिग्भ्रान्त और

---

* "It is a double change which converts an activity into an act of expression. Things in the environment that would otherwise be mere channels or else blind obstructions, become means, media. At the same time, things retained from past experience that would grow stale from routine or inert from lack of use become co-efficients in new adventures."

संशयवादी से हो रहे हैं, क्या रस-दशा की स्थापना ही असंभव है ?

(२) हृदय की ऐसी परम निर्विकार अवस्था मनोवैज्ञानिकों के अनुसार असंभव-प्राय है। 'निर्विकार' भावानुभाव कैसे ग्रहण करेगा ?

पृ० ७१ पर चित्त-वृत्ति और 'अनुकम्पातक सुधांशु जी की समीक्षा कुछ इन निष्कर्षों पर पहुंचती है कि काव्य के मूल में या तो सहानुभाव या सहानुकम्प रहा होगा, या फिर सामूहिक समुल्लास में भाग लेने की हर्षप्रधान प्रवृत्ति। परन्तु इन सुख-दुःख,, राग-विराग वाली 'पेटेन्ट' विभाजन-पद्धति से भिन्न भी रण-निर्माण के अन्य प्रयोजन तथा हेतु होते हैं।

श्री शिवनन्दन प्रसाद ने 'काव्य-प्रेरणा के उद्गम पर एक अच्छे लेख में वताया है—

"पाश्चात्य मनीषियों के कुछ विचार हमें इस विषय पर उपलब्ध अवश्य हैं। विषय के साहित्य-शास्त्र के इतिहास में इस दृष्टि से पहला नाम अरस्तू (Aristotle) का आता है। इनके अनुसार कविता की मूल-प्रेरणा मानव की अनुकरण-वृत्ति में है। प्राकृतिक और मानव-व्यापारों से अत्यन्त प्रभावित होकर जब हम उनके अनुकरण का प्रयास करते हैं तो साहित्य और कला के बीज अंकुरित होते हैं।

इसके बाद हीगेल का सिद्धान्त आता है जिसके अनुसार मानव की अनुकरण वृत्ति के अतिरिक्त उसके स्वभाव में सौन्दर्य-प्रियता और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्तियाँ भी हुआ करती हैं जिन्हें हम साहित्य-रचना के मूल में देख सकते हैं। अपने जीवन की विशिष्ट घड़ियों में कोई विशिष्ट प्रतिभाशाली व्यक्ति (कवि या कलाकार) अपने अन्तःकरण में विश्व सौन्दर्य का साक्षात् करता है और उसी की अभिव्यक्ति का प्रयास कविता आदि के रूप में करता है।

तृतीय मत बेनिडिटो क्रोचे का है। इसका सिद्धान्त 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से अभिहित हुआ है। इसके अनुसार आत्मा की अभिव्यक्ति या अभिव्यञ्जना ही कविता है। आत्मा के अन्दर इस अभिव्यक्ति की प्रेरणा

बाह्य-विश्व के संसर्ग से उत्पन्न प्रतिक्रिया के रूप में उद्भूत होती है जिसका प्रकाशन कवि कहलाने वाले व्यक्ति-विशेष के लिए अनिवार्य होता है। अतः महत्त्व काव्य-विषय का उतना नहीं जितना इस अभिव्यक्ति मात्र का है। (क्रोचे अभिव्यक्ति को मानसिक ही मानता है।)

चतुर्थ आचार्य जिसके सिद्धान्तों में हम काव्य-प्रेरणा के मूल का विवेचन पाते हैं फ्रायड है । फ्रायड के मत में कविता (या कोई भी कला) अतृप्त (या दमित) वासनाओं की मानसिक तृप्ति का प्रयास मात्र है। हमारी अपूर्ण या अतृप्त (या दमित) आकांक्षाएँ-अभिलाषाएँ मर नहीं जातीं—वे अचेतन या उपचेतन मन के कोष में संचित रहती हैं और चेतन मन द्वारा अभिव्यक्ति का अवसर ढूँढती रहती हैं। प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा इन्हीं की व्यवस्थित अभिव्यक्ति कविता या कला का रूप धारण करती है।

पाँचवाँ मत ॲडलर का है जिसके अनुसार कविता अन्य कलाओं की ही भाँति अपूर्ण,मानव की पूर्णता का प्रयास है। कुछ विशिष्ट मनुष्य अपनी निसर्ग-गत हीनता को सहन नहीं कर सकने के कारण पूर्णता का कल्पनात्मक सृजन कर उस हीनता से छुटकारा पाने का सन्तोष-लाभ करते हैं। अमरों की सृष्टि, पूर्ण अवतारों की कल्पना और वीर-पूजा आदि इसी प्रवृत्ति के प्रतिफलन हैं। साहित्य में आनन्द और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा इसीलिए है कि जीवन में ईप्सित सुख और सौन्दर्य हमें नहीं मिलता।

काव्य की मूल-प्रेरणा के सम्बन्ध में यह तो पाश्चात्य सिद्धान्तों की रूप-रेखा हुई। भारतीय वाङ्मय के अवलोकन से भी हम इस सम्बन्ध में कुछ तत्त्व पा सकते हैं। यद्यपि काव्य-शास्त्र ने स्पष्ट विवेचन इस विषय पर नहीं किया फिर भी अन्य विषयों पर जो विचार हुए हैं उनके तथा कुछ ग्रन्थों के सहारे हम प्राचीन मनीषियों एवं नवीन कवियों की धारणाओं का कुछ पता लगा सकते हैं।

प्राचीन काव्य-शास्त्र में काव्य का उद्देश्य (=काव्य से लाभ) इस

की गई हैं ? गुलाब, नरगिस, चमेली और बेला इत्यादि के पुष्प
खिलते हैं ?

उनको पानी से सींचा जाता है, परन्तु वे उत्पन्न होते हैं पृथ्
में से । उन में से किसी का रंग श्वेत होता है, किसी का पीला, किस
का लाल और काला ।

यदि यह कहा जाय कि इस कारीगरी में किसी का हाथ नहीं है
तो फिर इनके खिलने के ढंग पृथक्-पृथक् क्यों हुए ? ये भिन्न-भिन्न
रूपों में अपनी बहार क्यों दिखलाते हैं ? एक सिमटा हुआ है, दूसरा
लिपट कर फैलता है, कोई सीधा है तो कोई चपटा ।

अंगूर तथा पोस्ता दोनों की असलियत एक ही है । परन्तु फिर
शराब नशा क्यों लाती है और अफीम बेसुध क्यों कर देती है ?

इससे यह सिद्ध होता है कि अपने आप यह बातें नहीं हो सकती
हैं । अफ़लातून अपनी हिकमत से और सामरी अपने जादू से ऐसा
करने में असमर्थ है ।

उसी प्रकार से हिन्दी की छायावादी (हलकी रहस्यवादी पुट की)
कविता की तुलना जॉन डॉन, ब्लेक या विलायत के और रहस्यवादी
कवियों से करना भी गलत है । उनके मत में जायसी का रहस्यवाद
क्षम्य है । परन्तु वे 'अभिव्यक्तिवाद' या 'प्रतिबिंबवाद' के सर्वथा
विरुद्ध हैं । वे रहस्यवाद में भी अभिव्यंजनावाद चीन्हते हैं, और उसे
उन्हीं के प्रिय शब्दों में 'काव्यक्षेत्र से खदेड़ना चाहते हैं । उन के
मत से छायावादी रहस्यवाद के मुख्य दोष हैं—(१) समन्विति और
संगीत का अभाव, (२) सचाई का अभाव और बनावटी भावना, (३)
छन्द बंधन का त्याग और केवल लय पर निर्भर रहना, जैसे विटयन,
परन्तु ये आक्षेप सर्वांशतः सत्य नहीं हैं । कवि को कुछ सीमा तक
कल्पना करने की छूट देनी ही होगी । और कल्पना के प्रयोग में अ-
प्रस्तुत-विधान और अभिव्यंजनावाद सहज घुल-मिलकर आजाता है,
जिसका कोई उपाय नहीं । हमारी सभी धारणाएं अंततः ऐसी ही तो

हैं। चार्ल्स फॉक्सने अपने 'Mind and its Body' में कहा है—
'Observed facts are unconsciously twisted and distorted by experts to make them fit into preconceived theories ।'

एक ओर कट्टर वैष्णव सगुणवाद और लोकमंगल का समर्थन और भारतीय दृष्टि के पुनर्जीवन का उद्योग और दूसरी ओर रहस्यवाद का इस प्रकार का अमूल विरोध परस्पर विरोधी बातें हैं। रहस्यवाद का विरोध ही अपेक्षित है, तो जड़वादी भौतिकवादी की स्थिति स्वीकार करनी होगी। जैसे एंग्लेस ने अपने एंटीडूहरिंग में सारी रहस्यवादी कविता को 'सब्लाइम नानसेंस' कहा है। या जैसे कि गोर्की ने कहा है—

"The cause of intellectual inpoverishment is always to be found in a refusal to recognize the basic meaning of real phenomena, in an escape from life through fear of it or through an egotistical craving for quiet, through social indifference created by the sordid and loathsome anarchism of the capitalist state"

शुक्ल जी इस सामाजिक कारण-परंपरा को,छायावाद की पलायनवादी वृत्ति को नहीं देख सके। इसी से शुक्ल जी के इस निबन्ध में बहुत-सा परस्पर विसंवाद भी है। एक ओर वे कहते हैं—"अब तक जो कुछ लिखा गया उससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिन्दी में आ निकला हुआ यह 'छायावाद' कितनी विलायती चीजों का मुरब्बा है।" दूसरी ओर वे कहते हैं—"छायावाद का रूप-रंग बना कर आजकल जो बहुत-सी कविताएं निकली हैं उनमें कुछ तो बहुत ही सुन्दर, स्वाभाविक और सच्ची रहस्य भावना लेकर चली हैं।"

संक्षेप में इस निबन्ध में शुक्ल जी के विदेशी कविता साहित्य के जहाँ गहरे दर्शन होते हैं, वहीं वे भारतीय रहस्यवादी परम्परा, यथा

निर्गुण नाथपंथी, कबीर आदि का उल्लेख करना बिल्कुल भूल गये हैं। तर्क में एकांगिता और जिसे सिद्ध करना है, उसे मान कर चलने का दोष (पिटीशियो प्रिंसिपाई) है ।

'हिन्दी-समीक्षा : एक दृष्टि' निबन्ध में डाक्टर देवराज ने काव्य में रहस्यवाद के इस स्थूल सामाजिक आलोचन पर कहा है—"खड़ी बोली हिन्दी के साहित्य की भांति हिन्दी आलोचना का इतिहास भी बहुत छोटा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल सहज ही इस इतिहास के प्रवर्त्तक कहे जा सकते हैं। आधुनिक हिन्दी आलोचना की प्रायः सभी प्रवृत्तियां शुक्ल जी की रचनाओं में विद्यमान हैं। शुक्ल जी की समीक्षाओं के तीन मुख्य पहलू हैं : ऐतिहासिक एवं समाज-शास्त्रीय, विश्लेषणात्मक और आदर्शवादी। उन्होंने जायसी, सूर, तुलसी आदि के काव्य का उनके युगों से सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है तथा उसे लोक-मंगल की कसौटी पर कसा है, साथ ही उनकी कृतियों का विशुद्ध कलात्मक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया है। इन दृष्टियों से हम शुक्ल जी को एक महान् क्लासिकल समीक्षक कह सकते हैं। इसका मतलब यह नहीं कि शुक्ल जी साहित्य के मूल्यांकन में मुख्यतः प्राचीन शास्त्रीय मानों का प्रयोग करते हैं, ऐसा तो उनके पूर्व और बाद में भी दर्जनों क्षुद्र आलोचकों ने किया है। मतलब यह है कि शुक्ल जी में क्लासिकल साहित्य की विकसित रससंवेदना है, और इस संवेदना को वे उपयुक्त गरिमा और गम्भीरता के साथ व्यक्त कर सकते हैं।

शुक्ल जी एक परम्परावादी समीक्षक जान पड़ते हैं। इसके मुख्यतः दो कारण हैं—एक यह कि उन्होंने भरसक पुराने अलंकार-शास्त्रों की पदावली का प्रयोग किया, नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना नहीं की। जहाँ वे मौलिक थे, वहां भी उन्होंने यही आभास दिया कि वे प्राचीन सिद्धान्तों के व्याख्याता-मात्र हैं। वस्तुतः, वे इसी में देश का गौरव समझते थे कि प्राचीन साहित्यशास्त्र को पूर्ण प्रमाणित किया जा सके। दूसरे, मर्यादावाद का अर्थ वे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था, भक्तिवाद

आदि का परिपालन या अभ्यास मानते थे । इस सम्बन्ध में कबीर आदि सन्तों की उच्छृङ्खल या स्वतन्त्र मनोवृत्ति उन्हें पसन्द न थी ।

शुक्ल जी ने साहित्य की सामाजिक सार्थकता पर गौरव दिया । गीत-काव्य की अपेक्षा वे उस काव्य को अधिक महत्वपूर्ण समझते थे जिसमें सम्पूर्ण जीवन का चित्र हो । उनकी दृष्टि में तुलसी सूर से बड़े हैं, क्योंकि सूर केवल सौन्दर्य के अनुरागी हैं जब कि तुलसी के राम शक्ति, सौन्दर्य और शील के परिपूर्ण आदर्श हैं ।

यह विचित्र बात है कि शुक्ल जी का आदर करते हुए भी समकालीन लेखकों ने उनके आदर्शों को स्वीकार नहीं किया । बात यह है कि युग का वातावरण शुक्ल जी के सांस्कृतिक विचारों का विरोधी था ।

छायावाद की प्रशंसा का एक दूसरा पहलू भी था, यह कि वह काव्य आध्यात्मिक रहस्यवादी है । इस दूसरी दृष्टि ने छायावाद के कलात्मक विश्लेषण में बाधा भी पहुँचाई । छायावाद की अभिव्यक्तिगत अशक्तियों की, उसके धुन्ध और कुहासे की, उसकी दुरूह कल्पनाओं तथा हल्केपन की रहस्यवाद के नाम पर प्रशस्ति और दार्शनिक व्याख्याएँ की गईं । इस धाँधलेबाजी से क्षुब्ध होकर ही आचार्य शुक्ल को 'काव्य में रहस्यवाद' की रचना करनी पड़ी । आध्यात्मिकता के दावे, और उसके बल पर प्रशस्ति की कामना का अच्छा निदर्शन महादेवी जी के निबन्धों में मिलता है । छायावाद के सम्बन्ध में महादेवी जी का मुख्य दावा यही है कि वह सांस्कृतिक दृष्टि से रीतिकालीन काव्य से उच्चतर है ।

आस्तिक शुक्ल जी रहस्यवादिता के दावे को सीधे अस्वीकार नहीं कर सकते थे । अतः उन्होंने, भक्त-कवियों का सहारा लेते हुए, एक निराला मन्तव्य सामने रखा—कि काव्य व्यक्त के संचरण का क्षेत्र है, अव्यक्त के नहीं । अल्प-विकसित हिन्दी-आलोचना के इतिहास में यह दूसरी धाँधलेबाजी थी, यद्यपि शुक्लजी का मन्तव्य सर्वथा निराधार नहीं था । ब्रह्म भले ही अव्यक्त और अमूर्त हो, पर ब्रह्म-विषयक

भावनाएँ स्पष्ट ही मूर्त और व्यक्त जीवन-स्पन्दन का भाग हो सकती हैं।

बात यह थी कि छायावादियों के पास कोई स्पष्ट सामाजिक दर्शन, सामाजिक आदर्श या सन्देश न था; फलतः वे रहस्यवाद के नाम पर शिक्षित समाज को और स्वयं अपने को भुलावा देने लगे। रावीन्द्रिक तथा जनतांत्रिक मानववाद का आदर्श उनके उपचेतन में सजग था, पर शायद आस्तिक भारतीय जनता के लिए उस समय वह पर्याप्त नहीं समझा गया।

वस्तुतः, छायावादी काव्य, नैतिक धरातल पर, जनतान्त्रिक समत्वभावना और व्यक्ति की महत्व-घोषणा का काव्य है; सामन्ती राजा-रानियों के चरित्र के स्थान पर साधारण मनुष्यों के साधारण मनोभावों और आकाँक्षाओं को प्रतिष्ठित करता है। महादेवी जी कहीं कह गई हैं कि आज का साहित्यकार अपनी प्रत्येक साँस का इतिहास लिख लेना चाहता है। यह वक्तव्य छायावाद की व्यक्तिवादी 'स्पिरिट' को प्रकट करता है; उसमें ब्रह्म और रहस्यवाद के महत्व का कोई संकेत नहीं है। निःसन्देह, छायावाद इहलौकिक प्रेम और सौन्दर्य-भावना का काव्य है। प्रकृति में चेतन सत्ता का आरोप, और प्रेम-निवेदन को ब्रह्म-विषयक घोषित करना, यह कहने का एक ढंग-मात्र है कि छायावादी कवि का इन चीजों में अनुराग है। अन्ततः काव्य-साहित्य का विषय मानवी भावनाएं ही हैं, और काव्य का उच्चतम धरातल मानवीय धरातल होता है, दैवी या पारलौकिक नहीं।"

एक तरफ शुक्ल जी के मत को धाँधली कह कर डाक्टर देवराज खुद उसी मत का समर्थन करते हैं।

: ६ :

'काव्य में अभिव्यंजनावाद' शुक्ल जी का सर्वश्रेष्ठ निबन्ध है। और यदि वे केवल रिचर्ड्स के सहारे-सहारे चलकर क्रोचे को एकाँगी दृष्टि से देख कर निरे प्रखर आलोचन में न लग जाते तो वह

उनकी सर्वश्रेष्ठ समीक्षा होती।

उस निबन्ध में प्रधान विचारणीय प्रश्न हैं, कुन्तल और क्रोचे की तुलना; और आइ० ए० रिचर्ड्स की रस-विषयक स्थिति का पृष्ठ-पोषण। इन्हीं दो विषयों को लेकर डा० नगेन्द्र ने 'आचार्य शुक्ल के दो काव्याभिमत' और 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और आई० ए० रिचर्ड्स' नामक दो लेख लिखे हैं, जिनका समीक्षण भी प्रसंगोपात्त होना आवश्यक है।

पहले कुन्तल के वक्रोक्तिवाद और क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को लें। क्या दोनों में कोई साम्य है ? दो विभिन्न युगों के सहित्य-समीक्षकों या चिन्तकों को लेकर दोनों में कुछ मत ही समानता देख लेना काफी नहीं होता। वे सिद्धान्त एक युग-विशेष की उपज होते हैं। कुन्तल 'वक्रोक्तिजीवितं उल्लास' में काव्य की परिभाषा देता है—"शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनी। बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं।" परन्तु क्रोचे ने काव्य की अन्य कलाओं से कोई अपर स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी है। उसने 'सौंदर्यशास्त्र' ग्रंथ में सभी कलाओं को सहजानुभूति पर आधारित माना है। यह सहजानुभूति या 'इंट्यूशन' जर्मन दर्शन के 'अनशूङ्' की परिणतावस्था है। क्रोचे, नव्य-अफलातूनी आदर्शवादी दार्शनिक हैं। अतः दोनों में मूल अंतर तो यही है कि कुन्तल केवल काव्य का टीकाकार है, क्रोचे दार्शनिक है। अतः डा० नगेन्द्र का यह कहना समीचीन है कि 'वक्रोक्तिवाद एक साहित्यिकवाद है, अभिव्यजंनावाद अभिव्यंजना की फिलासफी।'

परन्तु फिर दोनों में साम्य दिखाते हुए डाक्टर नगेन्द्र ने जो यह बात कही है कि 'क्रोचे और कुन्तक (ल) दोनों ही कला या कविता को आत्मा की क्रिया मानते हैं, जो अनिर्वचनीय है' कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि वस्तुतः कुन्तल के निकट कविता का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं था।

यहां वक्रोक्ति के संबंध में भारतीय साहित्यकारों का मत देना उपयुक्त होगा। अलंकार की चर्चा में कुन्तल ने वक्रोक्ति को सब

अलंकारों का मूल सामान्य धर्म माना है। कुन्तल ने वक्रोक्ति की व्याख्या 'विदग्ध लोगों की बोलने की पद्धति' ("वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगी भणितिरुच्यते," वक्रोक्ति जीवित उन्मेष १, श्लोक ११) की है। यह विदग्धता शब्दयोजना और अर्थयोजना दोनों में हो सकती है। इसी मत का समर्थन भामह ने किया। वह अत्युक्ति को ही वक्रोक्ति मानता है। भामह के काव्यालंकार में परिच्छेद २ में श्लोक ८९ है—

सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः अनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥

'वक्रोक्ति से काव्यार्थ की शोभा है और उसके बिना अलंकार हो ही नहीं सकते।' दंडी का मत भी भामह के समान ही है। दंडी के अनुसार साहित्य के दो हिस्से हैं; एक में स्वभावोक्ति आती है, दूसरे में वक्रोक्ति। अवश्य इन सब प्राचीन रचनाओं के अनुसार वक्रोक्ति अत्युक्ति का ही पर्याय है। उर्दू शायरी में जैसी 'नजाकते-तखैयुल' में दूर की कौडी लाई जाती है, वैसी ही यह बात है। बाद में अलंकारों को केवल काव्यशरीर मानने लगे और ध्वन्यालोककार ने तो इस तरह की अलंकृतिपूर्ण रचना को 'चित्र-काव्य' मात्र माना है।

क्रोचे का यह शब्द 'अभिव्यंजनावाद' पश्चिमी चित्रकला के इतिहास में प्रभाववाद, उत्तर-प्रभाववाद और उसकी प्रतिक्रिया में अंतःस्फूर्तिवाद की परिणति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'एक्सप्रेशनिज्म' को क्रोचे ने आध्यात्मिक इयत्ता प्रदान की है। जहाँ डा० नगेन्द्र ने दोनों में वैषम्य बताया है, वे सब विचार-बिंदु सही हैं, और साम्य में भी उनका यह विचार बिंदु उद्धृत करने योग्य है—

"दोनों, कुन्तक और क्रोचे, सौन्दर्य में श्रेणियाँ नहीं मानते, क्योंकि सफल अभिव्यंजना ही सौंदर्य है और सफल अभिव्यंजना केवल एक हो सकती है। कुन्तक ने कहा—'न च रीतीनाम् उत्तमाधममाध्यम-भेदेन वैविध्यम् व्यवस्थापयितुम् न्याय्यम्' और क्रोचे ने—'the beautiful does not possess degrees, for there is no

conceiving a more beautiful that is an expressive that is more expressive and adequate that is more adequate ।'

परन्तु डाक्टर नगेन्द्र का यह कहना कि कुन्तल की 'वक्रता' या 'वैचित्र्य' और शुक्ल जी की प्रिय 'रमणीयता' एक है, यह भी गलत है। कुन्तल रचनाकार की रचना प्रक्रिया के विश्लेषण की दृष्टि से 'वक्रोक्ति' का प्रयोग करता है। शुक्लजी रस-ग्रहण के अर्थ में।

उसी प्रकार से आई० ए० रिचर्ड्‌स की तुलना में डा० नगेन्द्र ने शुक्ल जी के लिए यह जो बातें कही हैं, वे भ्रांतिपूर्ण हैं। जैसे इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं है—'शुक्लजी की शैली शास्त्रीय और रिचर्ड्‌स की वैज्ञानिक (मनोवैज्ञानिक) है।' या 'शुक्लजी में विस्तार नहीं था, घनता थी,' या 'वे समय के साथ आगे नहीं बढ़ सके' या 'शुक्लजी बहुत शीघ्र ही आउट आफ डेट हो गये रिचर्ड्‌स कभी नहीं हो सकते' (काडवेल का रिचर्ड्‌स पर आक्रमण शायद डा० नगेन्द्र ने नहीं देखा) और 'शुक्लजी ने अपने युग को प्रभावित नहीं किया, आच्छादित किया।' इन सब भ्रांतियों का एक-एक कर निराकरण करें तो बहुत स्थान चाहिये। संक्षेप में रसवादी डा० नगेन्द्र से निवेदन है कि वे इन सब उक्तियों को अपनी आलोचना पर लगा कर देखें। अन्तिम बात को छोड़कर नगेन्द्र युग के साथ कहाँ चले हैं या अपटुडेट हैं, यह सुधि पाठक के विचार पर मैं छोड़ देता हूँ। हमारा आक्षेप इतना ही है कि शुक्लजी 'कोलरिज और इमैजिनेशन' यह रिचर्ड्‌स की नई पुस्तक यदि देखते तो शायद अपने विचारों को वे पुनः संशोधित करते।

: ७ :

कुमार शंभुसिंह यादव ने 'चिंतामणि' के निबन्धों में निम्न गुण देखे हैं: मनोवैज्ञानिक निबन्धों का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध, भारतीय शास्त्र के प्रति आस्था, विषय तथा व्यक्ति का अपूर्व सामंजस्य, एक प्रकार की प्रबल प्रेरक-शक्ति अथवा भाव-प्रेषणीयता, वैयक्तिक तत्व

एवं मानवीय तत्व का मेल । अन्य समालोचकों की भांति शुक्लजी की शैली के व्यंग-स्थलों के उदाहरण दें तो—

१. मोटे आदमियो ! तुम अगर जरा सा दुबला हो जाते—अपने अन्देशे से ही सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर माँस चढ़ जाता ।

२. हितोपदेश के गदहे ने तो बाघ की खाल ही ओढ़ी थी पर ये लोग (स्वार्थी एवं ढोंगी देशोद्धारक) बाघ की बोली भी बोल लेते हैं ।

३. संगीत के पेंच पांच देखकर भी हठयोग याद आता है : जिस समय कोई कलावन्त पक्का गाना गाने के लिए आठ अँगुल मुँह फैलाता है और 'आ आ' करके विकल होता है, उस समय बड़े-बड़े धीरों का धैर्य छूट जाता है—दिन-दिन भर चुपचाप बैठे रहने वाले यड़े-यड़े आलसियों का आसन डिग जाता है ।

आलोचक शुक्ल जी की दृष्टि और शैली के कुछ और गुण भी गिनाए जा सकते हैं । श्री शांतिप्रिय द्विवेदी के अनुसार वे कुछ गुण इस प्रकार के हैं --

'शुक्ल जी तन्त्रविद् और रासायनिक साहित्यकार थे । वे मूलतः कवि थे । वेव न्य प्रकृति के अनुरागी थे । शुक्ल जी ने हमारे साहित्य के चार युग देखे—भारतेन्दु, द्विवेदी, छायावादी और आरम्भिक प्रगतिवादी युग । स्वयं वे मध्य-युग के सामाजिक व्यक्ति थे, किन्तु वाणी के चैतन्य पुजारी थे । वाणी की पूजा में नवीन उपकरणों का चयन करने में वे बेसुध नहीं थे, हां नये उपकरणों का संकलन वे बहुत सोच-समझ कर करते थे । अपने धीर-गंभीर पदों से वे छायावाद-युग तक बढ़ आए ।'

डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के शब्दों में—"आचार्य शुक्ल नवीन और प्राचीन ज्ञान के वास्तविक सत्य साक्षी थे । शुक्ल जी अपनी अमिट छाप हमारे साहित्य पर छोड़ गये हैं । उनकी शैली का अनुकरण अनेक

लोचकों ने किया है।"

शुक्ल जी की मनोभूमिका में जैनेन्द्रकुमार ने कुछ सूत्र दिये थे, उनमें महत्वपूर्ण ये हैं। इन्दौर वाले भाषण पर उन्होंने कहा है—क्रोचे की मूल स्थिति की पहचान शुक्ल जी को हुई है—भाषण से मुझे ऐसा नहीं लगा। वर्तमान को भविष्य की ओर बढ़ने में उनसे प्रेरणा नहीं मिली। अपने और साहित्य-तत्व के बीच उन्होंने एक प्रकार का भौतिक हेतुवाद का अन्तर रखा। अर्थात् अपने को उन्होंने साहित्यिक होते-होते बचाया और हठात् अपने को साहित्यालोचक बनाया। आलोचना में भी वे आलोचक थे, सर्जक नहीं।'

कन्हैयालाल सहल ने एक मार्के की बात कही है कि शुक्ल जी में 'शब्दों के घटाटोप में भावों को अन्तर्हित कर डालने की प्रवृत्ति (आजकल के कुछ समालोचकों में जैसे देखने में आती है) उनसे कोसों दूर थी। समीक्षा क्षेत्र में उनकी सब से बड़ी देन है पौर्वात्य और पाश्चात्य सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए रस-सिद्धान्त की स्थापना।' अंत में आधुनिक आलोचकों के शब्दों के विषय में अनिश्चित प्रयोग का एक उदाहरण देकर यह निबन्ध समाप्त करूँगा। शुक्ल जी पर हाल में अनेक आलोचकों के लेखों का एक संग्रह छपा है, जिसकी भूमिका में एक के बाद एक तीन वाक्यों का तालमेल देखिए और इस तरह का दावा कहां तक उचित है, खुद समझ लीजिये। वे वाक्य हैं—'आज हिन्दी समीक्षा का शास्त्रीय पक्ष बहुत कुछ शुक्ल जी की स्थापनाओं और मान्यताओं को लेकर आगे बढ़ रहा है। शुक्ल जी स्वच्छन्द चिंतक थे। भारतीय तथा पश्चिमी-शास्त्र-मीमांसा का विधिवत् अनुशीलन कर उन्होंने अपनी समीक्षा-पद्धति स्थापित की थी, अतः इतना व्यापक और स्वस्थ काव्य-चिंतन भारत की अन्य किसी भाषा में नहीं मिलता।' अब इन तीन वाक्यों में तीन भ्रांतियां हैं। 'स्वच्छन्द चिंतन' से शास्त्रीय पक्ष कैसे आगे बढ़ता है! शुक्ल जी 'स्वच्छन्द' थे या मर्यादावादी? और भारत की अन्य सभी भाषाओं के

समीक्षकों से श्रेष्ठतर शुक्ल जी को साबित करने से पहले क्या मैं जानना चाहूँ कि इस ग्रंथ के संपादक-द्वय को हिन्दी के अलावा भारत की और कितनी भाषाएँ आती हैं, या उनका ज्ञान है ? वस्तुतः यह है सर्वांशतः स्वच्छन्द (?), चिंतनरहित कथन का नमूना है ! क्या शुक्ल जी से कम-से-कम हिन्दी आलोचक इतनी साधारण बात नहीं सीखे कि केवल उसी विषय में हम निर्णय दें, जिसके बारे में हम जानते हैं। ज्ञान पहले जरूरी है। आलोचना बाद में आती है। सम्यक्-ज्ञान सम्यक्-आलोचना का स्रोत है। शुक्ल जी की सबसे बड़ी देन यही है कि हिन्दी आलोचना के ज्ञान-क्षेत्र को उन्होंने विस्तृत बनाया, उसे बढ़ाया, और आलोचना के क्षेत्र में नवीनतम योरपीय विचारों से हिंदी को परिचित कराया। यह भी ऋण किसी भाषा पर कम नहीं होता कि उसके क्षेत्र को अधुनातम विचार-प्रवाहों से निरन्तर सिंचित और हरा-भरा रखा जाय।

साहित्यालोचन : ? :

डा० श्यामसुन्दरदास

यह लेख लिखते समय मैंने डा० श्यामसुन्दरदास द्वारा संपादित तथा लिखित निम्न ग्रन्थों का आधार लिया है : १—राधाकृष्ण ग्रंथावली (प्रकाशक : इण्डियन प्रेस प्रयाग, सन् १६३०), २–हिन्दी निबंधमाला (मनोरंजन पुस्तकमाला ६८, ना० प्र० सभा, संवत् १६७६), ३—चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (ना० प्र० सभा काशी, संवत् १६८२), ४—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (इण्डियन प्रेस प्रयाग, सन् १६२७), ५—हिन्दी कोविद ग्रंथमाला (भाग १ और २) (इण्डियन प्रेस प्रयाग, सन् १६२४), ६—रूपक-रहस्य (इण्डियन प्रेस प्रयाग, प्रथम संस्करण १६३१, द्वि० संस्करण सम्वत् १६६७), ७—साहित्यालोचन (प्रथम संस्करण, साहित्य-रत्न-माला कार्यालय काशी, सं० १६७६; पाँचवां संशोधित संस्करण इण्डियन प्रेस प्रयाग, सं०१६६५)।

इन ग्रन्थों के अलावा पं० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास, इन्दौर वाले भाषण, तथा चिन्तामणि से, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' के 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' तथा 'जीवन और कविता' से, विश्वनाथप्रसाद मिश्र के 'वाङ्मयविमर्श' तथा रामदहिन मिश्र के काव्यालोक (द्वितीय उद्योत) से मैंने कुछ सहायता ली है। मराठी के 'रसविमर्श' एवं 'सौंदर्य-शोध तथा आनन्द-बोध' नामक दो ग्रंथों व

अंग्रेज़ी के सैंट्सबरी के 'हिस्ट्री आफ क्रिटिसिज्म' के दो भागों तथा काडवेल के 'इल्यूजन एण्ड रियालिटी' से भी मैंने कुछ बातें ली हैं। अतः इन सब ग्रन्थकारों का आभारी हूँ।

हिन्दी में श्यामसुन्दरदास की उपेक्षा

पहली बात जिसकी ओर मैं पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, वह है हिन्दी के समालोचना-ग्रन्थों में श्यामसुन्दरदासजी की सार्वत्रिक उपेक्षा। पं० रामचन्द्र शुक्ल के करीबन एक हज़ार पृष्ठों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में बा० श्यामसुन्दरदास का उल्लेख केवल तीन या चार वाक्यों में है। वह भी काशी नागरीप्रचारिणी के संस्थापक के नाते और दो जगह दुहराई हुई (पृ० ६२२ और ६८१ पर) बात इतनी है कि उनकी 'साहित्यालोचन' पुस्तक शिक्षोपयोगी है और पाश्चात्य काव्य-मीमांसकों से संकलित-सी है। आचार्य शुक्ल के ही शिष्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपने साढ़े-पाँच सौ पृष्ठों के सर्वदर्शन संग्रह जैसे विराट्-ग्रन्थ में पृ० ३२९ पर श्यामसुन्दरदासजी को ना० प्र० सभा के संस्थापक तथा पृ० ४१७ पर 'पासी' शब्द की व्युत्पत्ति के प्रसंग में एक फुटनोट में याद कर लेते हैं। गुलाबराय के हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उन पर एक पृष्ठ है, परन्तु वह गद्यशैलीकार के नाते अधिक है। इस प्रकार जब हिन्दी के अधिकारी ख्यात नाम समालोचकों ने श्यामसुन्दरदासजी के आलोचक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कोई मत-निर्णय पहले से नहीं बना दिये हैं, तब मुझे जहाँ एक ओर बहुत बड़ी कठिनाई में अपने स्वयं के मत नये सिरे से बनाने पड़ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर एक बहुत बड़ा लाभ भी यह है कि आलोचना के लिए जो ताज़गी, पूर्वग्रह-दूषित दृष्टि का अभाव और मौलिक दृष्टि-बिन्दु आवश्यक है, मैं अपने निबन्ध में वही लेकर चला हूँ।

श्यामसुन्दरदास की कुछ 'भूमिकाएँ' तथा 'निवेदन'

श्यामसुन्दरदास जैसे पांडित्यपूर्ण विवेचक का व्यक्तित्व बहुत कुछ उनके निवेदनों से व्यक्त होता है। अयोध्याकांड की टीका उन्होंने की

है, परन्तु उसमें कोई निवेदन या प्राक्कथन नहीं जोड़ा। हिन्दी निबन्ध-माला के सम्पादक के नाते निवेदन में उन्होंने कहा कि "भाषा की कठिनता और सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं है। विचारों की गूढ़ता, विषयप्रतिपादन की गम्भीरता, मुहावरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और पदों की जटिलता तथा इन गुणों की न्यूनता ही भाषा को कठिन या सरल बनाती है।" साहित्यालोचन नामक ग्रन्थ के 'रस और शैली' नामक छठे अध्याय के अन्त में (नवीन संस्करण पृ० २६६ पर) इन्हीं वाक्यों को दुहराया है। इसी भाषा-शैली सम्बन्धी मन्तव्य के कारण वे 'चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान' की भूमिका में पृ० ५ पर कहते हैं—"आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रथम आचार्य इंशाउल्लाखाँ, लल्लूलालजी और सदलमिश्र हैं। इंशाउल्लाखाँ की भाषा में उर्दूपन के आरम्भिक रूप के दर्शन होते हैं, जब तक कि हिन्दी उर्दू से अलग नहीं हुई थी और न अलग होने के उद्योग में ही लगी थी। लल्लूलालजी की हिन्दी पर चतुर्भुजदास की ब्रजभाषा की पुट चढ़ी हुई है और वह अपेक्षाकृत अस्थिर और अपरिमार्जित है। सदलमिश्र की हिन्दी लल्लूलालजी की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित है। अतएव भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर इन आचार्यों में पहला स्थान इंशाउल्लाखाँ, दूसरा सदलमिश्र और तीसरा लल्लूलालजी को मिलना चाहिए।" यह बात श्यामसुन्दरदासजी ने ५ जून सन् १९३५ को लिखी थी। भाषा सम्बन्धी इस बेतकल्लुफी और उदारता तथा सहिष्णुता के कारण वे 'हिन्दी शब्द-सागर' में अंग्रेज़ी शब्दों को भी, विरोध के होते हुए भी, बहुप्रचलितता के तर्क से ले आये। वे आचार्य शुक्ल की भाँति भाषा के आधार पर शुद्धिवादी नहीं थे। हिन्दीकोविद-रत्नमाला के १ जनवरी सन् १९०९ में लिखे 'निवेदन' में हिन्दी के भविष्य के सम्बन्ध में कहते हैं—"कुछ लल्लूलालजी ने यह सोच कर तो प्रेमसागर लिखा ही न था कि जिस भाषा की वे नींव डाल रहे हैं वही आगे चल कर १०० वर्ष के भीतर ही एक साधारण भाषा

हो जायगी और उसके सैंकड़ों लेखक होंगे और उसमें हज़ारों ग्रंथ लिखे जाँयगे। ऐसे वड़े-वड़े काम यों ही साधारणतया हो जाते हैं।.... हिन्दी की चर्चा दिनों-दिन वढ़ती जा रही है और उसके लिखने और पढ़ने वालों की संख्या वृद्धि पर है तथा उसे लोग राष्ट्रभाषा के पद पर सुशोभित करने के लिये उद्योगी हो रहे हैं।" अक्टूबर १९१३ में लिखे उसी ग्रन्थ के दूसरे भाग के निवेदन में वे कहते हैं "कुछ समालोचकों ने उनकी पुस्तक में अमुक-अमुक नाम छूट गये हैं, ऐसे आक्षेप किये हैं, परन्तु इस प्रकार के समालोचकों के कथन का परिणाम वैमनस्य और ईर्ष्याद्वेष का वीजारोपण करना है।" ४०+४०=८० जीवन-चरित्र की रूपरेखाओं वाले इस ग्रन्थ में चरितनायकों की साहित्यिक योग्यता अथवा कृतित्व के सम्वन्ध में बहुत कम कहा गया है। सवसे 'टिपिकल' जीवन-चरित पं० रामचन्द्र शुक्ल का है (३७, भाग २, पृ० १११)। उनके साहित्य-कार्य पर आलोचना रूप में आप कहते हैं—"इनके लेखों में विल्कुल इनके निज के विचार रहते हैं। इनके निवन्ध अधिकांश गूढ़ और जटिल होते हैं। इससे चाहे साधारण हिंदी पाठकों का मनोरंजन न हो पर हिन्दी की उच्च शिक्षा के लिए वे आगे चल कर वड़े काम के होंगे।" आगे आपने शुक्लजी के चार निवन्धों के नाम गिनाये हैं जो वड़े गूढ़ हैं और अनेक पुस्तकों के अनुवाद दिये हैं जो अंग्रेजी से अनूदित हैं। हिन्दी-कोविद रत्नमाला में श्यामसुन्दरदासजी की प्रवृत्ति लेखकों के पूर्वजों की व्यवसायादिकों की जानकारी देने की ओर अधिक है, आलोचना की ओर कम। ग्रन्थ-सम्पादन में भी अपनी ओर से वे वहुत कम जोड़ते थे—नासिकेतोपाख्यान भर में कुल चार जगह ब्रैकेट हैं, जिनमें मन से उन्होंने कुछ जोड़ा है। साथ वे सहृदय रस-ग्राहक भी थे—यथा 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली' के निवेदन में वे कहते हैं—"साहित्य सेवा में दीक्षा देकर मुझे अग्रसर करने का श्रेय मेरे मित्र वा० राधाकृष्ण-दास को प्राप्त है। उन्होंने हिन्दी पुस्तकों की खोज करने तथा प्राचीन अनुसन्धान के पीछे पड़ने की ओर मेरी प्रवृत्ति को उत्तेजना दी और

इसे सुव्यवस्थित मार्ग पर लगाया। अतएव केवल मित्रता के ही नाते नहीं वरन् उनका जो मुझ पर उपकार है उससे किंचिन्मात्र भी उऋण होने के निमित्त मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूँ कि उनकी रचनाओं को जहाँ तक मुझ से हो सके स्थायी करने का उद्योग करूँ।"

साहित्यालोचन : प्राचीन और नवीन संस्करण

भा० कृ० ७ संवत् १९७६ तथा २५-९-३७ को लिखी हुई 'साहित्यालोचन' के प्राचीन और नवीन संस्करणों की भूमिकाएं एक साथ पढ़ने पर, पन्द्रह वर्षों के अवकाश में डा० श्यामसुन्दरदास के समालोचक मन में कैसे-कैसे स्थित्यंतर हुए, इनका पता चल सकता है। प्रथम संस्करण की भूमिका में अपनी नित्य की शैली के अनुसार श्यामसुन्दर-दास ने ग्रन्थ के आरम्भ, प्रणयन और समाप्ति की कथा सुनाई है। मुख्यतः पाठ पढ़ाने के 'नोट्स' के ढंग पर यह ग्रन्थ बना। साहित्यिक आलोचना का यह प्रारम्भिक ग्रन्थ है। यह केवल इस गहन विषय के लिए प्रस्तावना का काम दे सकता है। साथ ही, इस पुस्तक के प्रस्तुत करने में मैंने जिन ग्रन्थों की सहायता ली है, उनके नाम आरम्भ में (सं० १९८४ की आवृत्ति में—'अन्त में') दे दिये गये हैं। इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि ग्रन्थ की समस्त सामग्री मैंने दूसरों से प्राप्त की है। परन्तु उस सामग्री को सजाने, विषय को प्रतिपादित करने तथा उसे हिन्दी भाषा में व्यंजित करने में मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया है। अतएव मैं कह सकता हूँ कि एक दृष्टि से यह ग्रन्थ मौलिक और दूसरी दृष्टि से दूसरे ग्रन्थों का निचोड़ है। आगे विस्तार से आपने विचार-गत मौलिकता तथा शैलीगत मौलिकता के भेद को समझाया है। तथा अपनी ओर, अत्यन्त नम्रता से, शैली या व्यंजना की मौलिकता मात्र का श्रेय लिया है। दुर्भाग्य से, एक तटस्थ समालोचक को कहना पड़ता है कि कई प्रकरणों में जहाँ बाबूजी ने विचारों की मौलिकता बतलाई है, वहाँ उसके प्रतिपादन में हडसन का ढंग ले लिया है। फिर भी श्यामसुन्दरदास की विशेषता यह है कि हिन्दी में आलोचना-शास्त्र

पर इतना वैज्ञानिक और सरस ग्रन्थ प्रथम-प्रथम उन्होंने ही लिखा।

संशोधित संस्करण की भूमिका में एक ओर उन्होंने अपने ग्रन्थ की चार पुनरावृत्तियों और लोकप्रियता का उल्लेख करते हुए, अपने कुछ सहकारियों को, जिन्होंने उनके कार्य में विघ्न उपस्थित किये तथा केवल निन्दात्मक अथवा स्तुत्यात्मक आलोचनाओं को—साहित्यदर्पण का हिन्दी अनुवाद 'साहित्यालोचक' है—ऐसा माधुरी में लिख मारने वाले सज्जन को तथा दूसरों से लिखवा कर अपने नाम पर मैं ग्रन्थ प्रकाशित कराता हूँ, ऐसा भ्रम फैलाने वालों को—सबको इन्होंने खूब कोसा है। स्पष्टतः श्यामसुन्दरदासजी के हृदय को उनके कुछ कृतघ्न शिष्यों तथा अनुयायियों से पीड़ा पहुँची थी और वे उसे न छिपा सके। मौलिकता-अमौलिकता की चर्चा यहाँ नहीं है। श्रेय न देने वाले या बाँट लेने वालों का यहाँ उल्लेख है। साहित्यालोचन सम्बन्धी मत-पद्धति में, इस एक तप के अवकाश में, बाबूजी के विचार अधिक परिपक्व और प्रगतिशील हो चुके थे जो कि प्राचीन और नवीन संस्करण की निम्न तुलना से स्पष्ट हो सकेगा—

साहित्यालोचन का प्राचीन संस्करण	साहित्यालोचन का नवीन संस्करण
१—दस अध्याय	१—सात अध्याय ; काव्य और कविता का विवेचन साथ-साथ; तथा रस और शैली, दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य का एकत्र विवेचन।
२—योरपीय उदाहरण अधिक।	२—भारतीय उदाहरण अधिक : भारतीय तथा योरपीय मत के सामञ्जस्य का प्रयत्न।
३—मनोवैज्ञानिक दृष्टि का अभाव। अतः स्थूल विवेचना :	३—संस्कार और वृत्तियाँ, अभिव्यंजना की शक्ति (अध्याय १),

प्राचीन संस्करण	नवीन संस्करण
रूढ़िवादिता। सैद्धान्तिक और निर्णयात्मक आलोचनावृत्ति।	साहित्य और साहित्यकार का व्यक्तित्व (अध्याय २), काव्य और लोकहित (अध्याय ३), उपन्यास में जीवन व्याख्या और नीति (अध्याय ५), रस और शैली का पृष्ठ २०४ से २२१ तक का विवेचन (अध्याय ६) और सम्पूर्ण सातवाँ अध्याय—नवीन साहित्यिक प्रश्नों को लेकर मनोविज्ञान तथा समाजविज्ञान के सिद्धांतों के सहारे, नवीन विश्लेषण और मान उपस्थित करते हैं। प्रयोगशीलता। निर्णयात्मय वृत्ति की अपेक्षा जिज्ञासु-भाव का उदय। स्वतन्त्र आलोचना।
४—साहित्यालोचन का मानदण्ड साहित्य का स्थायित्व।	४—साहित्यालोचन का मान समय नहीं, जनमत और जनहित।
५—आधार ग्रन्थों में १२ अंग्रेजी पुस्तकें (जिनमें एनूसाइक्लोपीडिया के लेख), ४ संस्कृत ग्रन्थ, १३ हिन्दी पुस्तकें। बेन और डिवी के मनोविज्ञान पर ग्रन्थ। राबिन्सन और वास्वानी के भारत और एशिया की प्राचीन सभ्यता सम्बन्धी ग्रन्थ।	५—परिशिष्ट ३ में - आधार-ग्रन्थों में ८८ अंग्रेजी ग्रन्थों की सूची, जिनमें पता नहीं क्यों ८ पर क्रूस-चिह्न। इनमें से कई ऐसे ग्रन्थकार हैं जिनका उल्लेख साहित्यालोचन में नहीं है। ११ संस्कृत ग्रन्थ। और बेचारी हिन्दी का केवल एक ग्रंथ, वह भी श्यामसुन्दरदास—रूपक-रहस्य।

प्राचीन संस्करण	नवीन संस्करण
	('हंस' के प्रगति अङ्क की प्रगतिशील ग्रंथों की सूची की बराबर याद हो आती है जिसमें हिंदी के चार ग्रंथ थे, अंगरेजी के चौरासी) साहित्यकारिता संबंधी ४२ संस्कृत ग्रंथों के नाम तो काव्यालोककार ने अपने सहायक ग्रंथों की सूची में दिये हैं।
	६—'साहित्य की आत्मा और शक्ति' पर पद्मनारायण आचार्य का एक २४ पृष्ठ का मूल्यवान् निबन्ध परिशिष्ट १ में है, जिसकी तुलना में 'काव्यालोक' (द्वितीय उद्योत) में केशवप्रसाद मिश्र का आमुख और डा० वासुदेव शरण अग्रवाल का 'विचारों का मधुमय उत्स शब्द और अर्थ' (परिशिष्ट) ही का उल्लेख हो सकता है।
	७—प्राचीन संस्करण की पृष्ठ संख्या जहाँ क्राउन साइज के २३२ पृष्ठों की थी वहाँ नवीन के रायल साइज के २०६, यानी पहले से ड्योढ़ी सामग्री है।

साहित्यालोचन के कुछ विवाद्य स्थल

यहाँ संपूर्ण साहित्यालोचन को छू सकना सम्भव नहीं परन्तु केवल

ः-चार बातों को लेकर मैं चर्चा करना चाहूंगा—(अ) साधारणीकरण, ा) शैली, (इ) आलोचना के गुण-दोष ।

(अ) साधारणीकरण पर विश्वनाथप्रसाद मिश्र अपने 'वाङ्मय-वेमर्श' में भट्टनायक का आधार देते हुए पृ० १४२ पर कहते हैं कि "मनुष्य-प्रकृति में तमोगुण और रजोगुण दब जाते हैं । केवल सत्वगुण की प्रधानता रहती है । इस प्रकार अनुकार्य के और दर्शक के विशेषत्व से रहित होकर केवल 'साधारण' रह जाने में दोनों का 'साधारणीकरण' हो जाता है और दर्शक अनुकार्य के भावों का रसरूप में आनन्द लेता है ।" 'काव्य और व्यक्ति' नाम के परिच्छेद में पृ० २१२ पर पुनः उपरोक्त लेखक क्रोचे के संकेतग्रह का उल्लेख करके कहते हैं—"साधारणीकरण नाम की काव्य-प्रक्रिया भी यही बात बतलाती है । व्यक्ति या विशेष से जाति या साधारण की कोटि तक पहुंचाना ही काव्य का लक्ष्य है । इसलिए क्रोचे ने जो बात अपने सौंदर्य-शास्त्र में उठाई उस पर भी यहाँ के मीमांसक पहले ही विचार कर चुके हैं और उन्होंने यही निष्कर्ष निकाला कि जाति की अभिव्यक्ति के लिए व्यक्ति नहीं है, प्रत्युत व्यक्ति से जाति की अभिव्यक्ति है ।" परन्तु वे ही प्रेमचन्द और जनवादी साहित्यिकों की प्रवृत्ति का पृ० २३८-३६ पर विरोध करते हैं । पं० रामचन्द्र शुक्ल 'साधारणीकरण' का उल्लेख अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास (नवीन संस्करण) में पृ० ६८३ पर एक फुटनोट में रिचर्ड्स के ब्रैडर्स की कला के लिए कलावाद के विरोध में दिये गये विधान पर—'काव्यानुभाव से मिलते-जुलते और भी अनुभव होते हैं, पर इस अनुभव की सबसे बड़ी विशेषता है वही सर्वग्राह्यता (कम्यूनिकेबिलिटी), इसीलिए इसके प्रतीतकाल में हमें इसे अपनी व्यक्तिगत विशेष बातों की छूत से बचाये रखना पड़ता है ।" वे कहते हैं कि 'इसी को हमारे साहित्य-शास्त्र में साधारणीकरण कहते हैं ।' इन्दौर वाले भाषण में पृ० ३६ पर 'काव्य और सदाचार' पर प्रो० रिचर्ड्स के निबन्ध का उल्लेख करते हुए 'रसाभास' और 'साधारणीकरण' का निरूपण करते हुए बताते हैं

कि श्रोता या पाठक तथा कवि के हृदय में सामंजस्य होना चाहिये। कविता वही सार्थक है जो दूसरे के हृदय में जाकर अपना प्रकाश कर सके। "तैसइ सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत, अनत छवि लहहीं" (तुलसी)। उसी भाषण में पृ० ८९ पर साधारणीकरण को आचार्य शुक्ल समझाते हैं—'साधारणीकरण का सीधे शब्दों में अर्थ है श्रोता का उसी भाव में मग्न होना जिस भाव की कोई काव्यगत पात्र (या कवि) व्यंजना कर रहा है। यह दशा तो रस की उत्तम दशा है। हमारे यहाँ के पुराने नाटकों में रस की प्रधानता रहने से साधारणीकरण अधिक अपेक्षित होता है। द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ में शुक्ल जी ने 'साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' नामक विस्तृत निबंध लिखा था, जो आगे चलकर 'चिन्तामणि' में ग्रंथित है। वहाँ भी क्रोचे का विरोध करते हुए आचार्य शुक्ल ने एक ऐसा विधान किया है कि 'शील-विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादात्म्य दशा की अनुभूति दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ है।' यह आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से मेल नहीं खाता। परन्तु आचार्य शुक्ल का 'साधारणीकरण'-सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत लेख का विषय नहीं। ऊपर ये दोनों शिष्य-गुरु मत मैंने इसलिए संकलित कर दिये हैं कि इनकी तुलना में 'साहित्यालोचनकार' के इस सम्बन्धी मत का तुलनात्मक अध्ययन हो सके। श्यामसुन्दरदास साधारणीकरण-सम्बन्धी निम्न विधान अपने ग्रन्थ के नवीन संस्करण में करते हैं:

१—बड़े-बड़े डाक्टर और समालोचक 'रस-मीमांसा' और 'साधारणीकरण' पर भ्रमपूर्ण बातें लिखते हैं अर्थात् लोगों को रस का सुन्दर और शास्त्रीय ज्ञान नहीं हैं। (पृ० ८४)

२—जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दुःखात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है, उस समय शोचनीय अथवा

अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएँ हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बनकर उपस्थित होती हैं। उस समय दुःखात्मक क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक दुःखात्मता छोड़कर अलौकिक सुखात्मता धारण कर लेते हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य का साधारणीकरण भी यही वस्तु है और कुछ नहीं। (पृ० २३२-३३)

३—आगे शङ्का-समाधान में कहते हैं, छठे मुद्दे में—"जब वृत्तियों का साधारणीकरण हो जाता है तब इन्द्रियों के व्यापार तथा मन के भाव सभी स्थिर हो जाते हैं, तर्कवितर्क विलीन हो जाते हैं, अपने और पराये की भावना लोक-भावना में लीन हो जाती है और आत्मा में आनन्द की अनुभूति (अथवा अभिव्यक्ति) होने लगती है। इसी विचित्र और अलौकिक अनुभूति को रसास्वाद कहते हैं।" और अगले मुद्दे में—यही साधारणीकरण साधारण लोक की अनुभूति नहीं है, यह स्मरण रहना चाहिए, की याद दिलाते हैं। (पृ० २३५)

४—यह नाटक के नाम पर चलाये हुए भ्रमवश दिये गये साधारणीकरण के अर्थ का खंडन करते हुए, श्यामसुन्दरदास योग तथा चित्तवृत्ति के निरोध के समक्ष उसे बैठाते हैं। (पृ० २३६)

५—पृ० १६० पर भाव-जगत् के पारखी कवि की देश-काल-बंधनों से परे रचना की मानसी अवस्था को 'साधारणीकरण' कहा गया है।

६—पृ० २३३ पर 'साधारणीकरण' का अर्थ अंग्रेजी 'जेनरलाइज़ेशन' नहीं करना चाहिए, कहकर पृ० ३४७ पर साधारण्य तथा साधारणीकरण का अर्थ ideal sympathy having a common support दिया है। पृ० २६७ पर आलोचकों को प्रत्यक्ष करने अथवा 'साधारणीकरण' करने अथवा कुछ 'आब्जेक्टिव' दृष्टि से देखने का उपदेश है।

७—अरस्तू के मत की पृ० ३०२ पर चर्चा करते हुए रसवादियों के साधारणीकरण या आदर्शीकरण की एक झलक अरस्तू में देखते हुए कहा है कि जहाँ साधारणीकरण वाले आत्मपक्ष को प्राधान्य

देते हैं, वहाँ अरस्तू ने विषय और कथावस्तु को ही प्रधान माना है।

यह चर्चा आचार्य शुक्ल और श्यामसुन्दरदास के विभिन्न मतों की तुलना के लिये एक साथ संकलित कर विद्वान् पाठकों के विचारार्थ यहीं छोड़ना चाहता हूँ।

(आ) शैली-सम्बन्धी आचार्य श्यामसुन्दरदासजी के मत बहुत ही प्रगतिशील और विचारणीय हैं। वाल्टर रैले ने 'शैली' पर अपने सुन्दर प्रबन्ध में पृ० १२७ पर समस्त शैली को अन्ततः मन और आत्मा की एक व्यञ्जना और संकेत-भंगिमा माना है। सौन्दर्यवादी समीक्षक वाल्टर पेटर ने गुस्ताव फ्लाबेयर के शैली को साँचा मानने के मत की विस्तृत समीक्षा करते हुए अपने 'प्रशस्तियाँ' नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय 'शैली' में पृ० ३९ पर कहा है कि यदि शैली ही मनुष्य है तो शैली निश्चय निर्व्यक्तिक (इम्पर्सनल) है। बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपने साहित्यालोचन में शब्द की शक्ति, गुण और वृत्ति की विस्तृत चर्चा कर वाक्य-विन्यास, पद-विन्यास, अलंकारों, तथा भाषापद्धति के स्थान की चर्चा की है। सर्वत्र आपका दृष्टिकोण विशुद्ध भारतीय रहा है। एकाध स्थल पर पाश्चात्य प्रज्ञात्मक तथा रागात्मक शैली-भेद का उल्लेख है परन्तु मुख्यतः माधुर्य, ओज, प्रसाद के प्रसंगानुकूल मिश्रण तथा व्यंग्यार्थ का आधिक्य उत्तम शैली के लिये आपने आवश्यक धर्म माने हैं। स्वयं बाबूजी के निबन्धों पर इन कसौटियों को लगाने से वे पूरे कुन्दन उतरते हैं।

(इ) 'साहित्यालोचन' में आपने आधुनिक आलोचकों में प्रचलित कुछ दोषों को गिनाया है जिनका जानना आवश्यक है। १—पारिभाषिक शब्दों का अज्ञान, २— शब्दशक्ति का अज्ञान, ३—साहित्य की आत्मा न पहचानना, ४—साहित्य की मानतुला का अनिश्चय, ५—लक्ष्यभ्रष्ट होना, अनासक्तिभाव के न रहने से पक्षपात का आना स्वाभाविक है, ६—भाषा शैली की गहनता तथा अस्पष्टता।

श्यामसुन्दरदासजी की मान्यता थी कि 'समालोचना' लक्ष्य और

लक्षण के आधार पर ही चलती है। (पृष्ठ २६६)। इस कारण से इनका स्पष्ट मत था कि हिन्दी आलोचना सन् १६३७ तक केवल इतिहास, तुलना, भूमिका और परिचय के रूप में चलती रही है, और दो अङ्ग अभी अतिशय अछूते पड़े हैं : १—कवि की सांगोपांग आलोचना, २—आलोचना-शास्त्र का स्थिर रूप। अन्त में (पृष्ठ २०७ पर) वे साहित्य के महत्त्व निर्णय में व्यक्तिगत रुचि की प्रधानता का प्रश्न उपस्थित करते हैं और कहते हैं—'आलोचना से हम व्यक्तित्व और रुचि-वैचित्र्य को कभी अलग नहीं कर सकते।'

मैंज़ोनी नामक इटालवी कवि ने अपनी सुन्दर कविता 'ईल काँते दि कर्माग्नोला' की भूमिका में कहा है कि किसी भी कलाकृति को आलोचित करने के नियम स्वयं उन कलाकृतियों में विद्यमान रहते हैं, यदि आलोचक उन्हें खोजना चाहे। केवल तीन समाधान वह कलाकृति में खोजे—"कलाकार का हेतु क्या रहा है ? क्या यह हेतु विवेकपूर्ण, तर्क-संगत है ? क्या लेखक उसे पूर्ण कर पाया है ?" अर्थात् दूसरे शब्दों में—Discover the purpose, judge its worth, criticize the technique। लासेलेस एबरक्रांबी अपने 'साहित्य-समालोचना के सिद्धान्त' नामक प्रबन्ध के अन्त में कहते हैं कि "आलोचना के नियम वैसे तो सार्वजनीन, सर्वव्यापी, सामान्य हैं, अतः वे 'आब्जेक्टिव' हैं, परन्तु फिर भी सब्जेक्टिव तत्त्व आलोचना में आ ही जाते हैं। क्योंकि प्रश्न गुण-निर्णय का है, सब सिद्धान्त उसी प्रश्न के अभिभावक मात्र हैं। अतः जहाँ तक गुण का मूल्य-निर्धारण है व्यक्तिगत मत को प्रतिष्ठा है। परन्तु जहाँ 'टेकनीक' का प्रश्न है वहाँ 'ऑब्जेक्टिव' सिद्धान्त ही सर्वोपरि है।" (देखिये : आउटलाइन आफ मॉडर्न नॉलेज, पृष्ठ ६०६)। वि० म० भट्ट ने अपनी गुजराती पुस्तक 'साहित्य-समीक्षा' में 'विवेचननो आदर्श' नामक प्रथम अध्याय में इसकी विस्तृत चर्चा की है ; आलोचक के मन के रसमय कोश, ज्ञानमय कोश तथा सौन्दर्य भक्ति के स्वतन्त्र, सहानुभूतिपूर्ण समभाव का विशेष उल्लेख किया

है। बा० श्यामसुन्दरदासजी में एक साहित्य-समालोचक के नाते यह सब गुण उपस्थित थे। वे तो मानों विलियम हैज़लिट के शब्दों में कहते थे कि "मैं अपनी ही रचनाओं की महत्ता बताने वाले तथा अन्य सब व्यक्तियों की ईर्ष्या अथवा उनका द्वेष करने वाले मौलिक प्रतिभावान् श्रेष्ठ व्यक्ति की अपेक्षा एक तटस्थ-रुचि तथा उदार भावनाओं का सीधासादा व्यक्ति बनना पसन्द करूँगा, जो कि जहाँ भी सत्य या सौन्दर्य का अनुभव करे उसे स्वीकार करता चले।"

रूपक-रहस्य—सम्वत् १९८२ की ना० प्र० पत्रिका (भाग ६ अंक १ पृष्ठ ४३,१०२) में भारतीय नाट्य-शास्त्र पर बाबूजी के लिखे हुए निबन्ध के पीताम्बरदत्तजी बड़थ्वाल के सहयोग से प्रकाशित परिवर्द्धित संस्करण (संवत् १९९७) में नाटक सम्बन्धी बड़ी उपादेय सामग्री एकत्रित है। साहित्यालोचन (नवीन संस्करण) पाँचवाँ अध्याय (क—दृश्य काव्य) तथा छठे अध्याय का आरम्भिक अंश देखने पर रस के साथ-ही-साथ कुछ और भी सामग्री इस ग्रन्थ में मिलती है। रूपक का परिचय, वस्तु का विन्यास, वृत्तियों का विचार, रूपक की रूप रचना आदि अध्याय, भारतीय नाट्य-तन्त्र का पर्याप्त सूक्ष्म और सविवरण अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। क्या ही अच्छा होता यदि योरपीय नाट्य-शास्त्र के एलरडाइस निकोल जैसे अधिकारी विवेचकों के मतों का भी तुलनात्मक सार साथ-ही-साथ दे दिया जाता, जिससे कि संधि-प्रकरण तथा सुखान्त-दुःखान्त सम्बन्धी यूनानी परम्पराओं का भी परिचय मिल जाता! परन्तु जैसा कि स्वयं उन्होंने साहित्यालोचन की भूमिका में कहा है, उन्होंने इस कार्य को आरम्भ कर दिया है। अब आगे आने वाले आलोचकों का यह कर्तव्य है कि वे इन बातों को आगे बढ़ावें और माम्गिक के 'इण्डियन थियेटर' जैसे ग्रन्थों द्वारा 'निकोल' की सिद्धान्त-चर्चा का सार हिन्दी पाठकों के लिए प्रस्तुत करें। परन्तु जो कार्य श्यामसुन्दरदासजी ने इस दिशा में किया है वह भी कम नहीं। वह अपूर्व है। इसी सिद्धान्त-विवेचना के प्रकाश में उनके

सर्वोत्तम आलोचना ग्रन्थ 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' का गुण-ग्रहण में अन्तिम परिच्छेद में करना चाहता हूँ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : साहित्यिक समीक्षा

इस अत्यन्त सुन्दर समीक्षा से निम्न उद्धरण देने का मोह मैं संवरण नहीं कर सकता—"मनोरंजन की सामग्री प्रस्तुत करना तथा कल्पना की शुद्धि और मनोवेगों का परिष्कार करना कविता के उपयोगी कार्य हैं।.........कुशल कवि लोग कल्पना की शुद्धि तथा मनोवेगों की परिष्कृति का कार्य प्रकृति के दो विभाग कर, अर्थात् बाह्य प्रकृति और मानव-प्रकृति द्वारा, सिद्ध करते हैं। इनमें से कई महाकवि तो दोनों कार्यों में कुशल होते हैं, जैसे वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति और तुलसीदास; कोई प्रथम में और कोई द्वितीय में। बाबू हरिश्चन्द्र अधिकांश भाषा कवियों के समान इस तीसरे प्रकार के कवियों में थे। यद्यपि इन्होंने अपनी कविता द्वारा नए-नए प्रभाव उत्पन्न किये, पर उनके साधनों को परम्परानुसार ही रखा। मानव-व्यापारों ही के उत्तेजक अंशों को छाँटकर इन्होंने मनोवेगों को उभाड़ने और ठीक करने का प्रयत्न किया, और प्राकृतिक पदार्थों तथा व्यापारों की शक्ति पर बहुत कम ध्यान दिया। इन्होंने मनुष्य को सारी सृष्टि के बीच रखकर नहीं देखा, वरन् उसे उसी के उठाए हुए घेरे में रख कर देखा।" (पृ० ३२)।

और उनकी रचनाओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव बराबर पाया जाता है। वस्तु-वर्णन में उन्होंने मनुष्य की कृति ही की ओर अधिक रुचि दिखाई है, जैसे सत्य हरिश्चन्द्र के गंगा के इस वर्णन में 'नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक-सी सोहति।'.....'चन्द्रावली नाटिका में यमुना के तट का वर्णन आया है। वह भी नियमानुगत और परम्परायुक्त ही है। उसमें उपमाओं की भरमार यह सूचित करती है कि कवि का मन उल्लिखित प्राकृतिक वस्तुओं पर रमता ही नहीं था, हट-हट जाता था।

आज चाहे अठारह वर्ष पूर्व लिखी हुई इस पुस्तक के मतों के सम्बन्ध में, नवीन संशोधन प्राप्त सामग्री के आधार पर आलोचकों में मतभेद उपस्थित हों परन्तु श्यामसुन्दरदास की आलोचना शैली आज भी सराहनीय है। उन्होंने 'व्यापक-भाव' तथा 'आत्म-क्षोभ' नामक दो अन्य परिच्छेदों में नाट्यस्रष्टा भारतेन्दु के मन में प्रवेश करने का प्रयत्न किया था। अतः इस प्रकार की व्याख्यात्मक (इंडक्टिव) तथा मनोवैज्ञानिक आलोचना-शैली का सूत्रपात हिन्दी में करने का श्रेय श्यामसुन्दरदास को पूर्णतः दिया जाना चाहिये।

आवश्यकता इस बात की है कि श्यामसुन्दरदासजी के ऐसे आलोचनात्मक वचनों, वाक्यों, लेखों तथा फुटकर विवेचनात्मक गद्य का एक स्वतन्त्र पुस्तकाकार संग्रह निकले जिससे उनके साहित्य-समालोचक व्यक्तित्व के साथ सम्पूर्ण न्याय हो सके। ना० प्र० सभा ऐसा कार्य करेगी, ऐसी आशा है।

सिद्धान्त और अध्ययन : ३ :

गुलाबराय

'सिद्धान्त और अध्ययन' इस ग्रंथ के दो भाग हैं। दूसरे भाग का नाम 'काव्य के रूप' रखा है। अतः यहां प्रथम भाग की ही विस्तृत समीक्षा अपेक्षित है। इस पुस्तक में १८ निबंध हैं, इनमें से दस कविता से सम्बन्धित हैं। शेष में तीन रस और साधारणीकरण पर। शैली, शब्द शक्ति, ध्वनि और उसके भेद, अभिव्यंजनावाद एवं कलावाद तथा समालोचना के मान शेष पाँच विषय हैं। अतः इस समीक्षा में हम इस क्रम से विचार करेंगे :

१. गुलाबरायजी के दृष्टिकोण में कविता, कला और अभिव्यंजना-विषयक अभिमत
२. ,, रस और साधारणीकरण संबंधी विचार
३. ,, समालोचना संबंधी मान-दंड

: १ :

कविता के विषय में गुलाबराय के मतों को जानने से पूर्व उनके समूचे साहित्यिक कृतित्व और दृष्टिकोण को समझ लेना उपयोगी होगा। गुलाबराय जैन मुख्यतः दर्शन के विद्यार्थी तथा साहित्य के अध्यापक रहे हैं। कुछ समय तक छतरपुर रियासत में भी रहे (जब उन्होंने 'नव रस' पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा); और वर्षों से आगरे में

'साहित्य-संदेश' का संपादन करते हैं। उनके दृष्टिकोण में दर्शन के अध्ययन से उत्पन्न विचारों की उदारता, दूसरे का दृष्टिकोण समझने की विशालहृदयता है। इसका साक्षी है उनका लिखा 'पश्चिमी दर्शन तथा तर्कशास्त्र का इतिहास'। साथ ही एक उत्कृष्ट परिहास-निबंधलेखक के नाते आत्मालोचन की भी क्षमता है। 'मेरी असफलताएं' जैसे निबंध-संग्रह इसके साक्ष्य हैं। दरबारी वातावरण में रहने से एक प्रकार की सौम्यता, सर्वसंग्राहकता और रसज्ञता भी उनमें है। और विद्यार्थियों के लिए 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (जिस की तेईस आवृत्तियाँ हो चुकी हैं; 'सिद्धांत और अध्ययन' के भी दो संस्करण हुए हैं), 'निबंध-रचना', 'लोकोक्ति और मुहावरे' जैसे सरल भाषा वाले, समझा कर, व्याख्या करके लिखे गये ग्रंथों के प्रणेता के नाते बाबू जी निरंतर अपने ज्ञान की कक्षाओं को बराबर बढ़ाते रहे हैं। उनके इस प्रकार के सौम्य, अहिंसाप्रिय, उदाराशय स्वभाव के कारण उनमें एक प्रकार की गुणग्राहक 'सर्वास्तिवादी' (एक्लेक्टिक) वृत्ति है। किसी भी चीज को वे बुरा नहीं कहते, उसका आत्यन्तिक विरोध या घृणा वे नहीं कर सकते। वे ऐसे प्रसंग को अनुल्लेखित ही रहने देंगे। उसकी उपेक्षा करेंगे या छोड़ देंगे।

'अपना दृष्टिकोण' के आरंभ में उन्होंने यह प्रसिद्ध सुभाषित दिया है:,

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते,
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

और आगे कहा है—"हम को अपने दर्शन की साहित्यिक मनीषा पर गर्व है। साथ ही, हम इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि पाश्चात्य-समीक्षा सिद्धान्तों ने अपने देश के सिद्धान्तों को समझने में हमारी बहुत कुछ सहायता की है। पाश्चात्य सिद्धान्तों से जो आलोक मिला है, उसको मैंने बिना संकोच से अपनाया है।

किन्तु जहाँ पाश्चात्य सिद्धांतों में मौलिक भेद है, जैसे काव्यानंद के आध्यात्मिक पक्ष में, उसकी उपेक्षा नहीं की गई है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्यामसुन्दरदास, श्री जयशंकर 'प्रसाद' प्रभृति विद्वानों ने भारतीय परंपरा को आगे बढ़ाने का जो प्रयत्न किया है, उनकी देन का भी यथोचित मूल्यांकन किया गया है। जहाँ उनसे मतभेद रहा है (जैसे, आचार्य शुक्ल जी से काव्य का कलाओं के साथ सम्बन्ध मानने में, क्रोचे की आलोचना में, व्यंजना के महत्त्व आदि विषयों में अथवा डा. श्यामसुन्दरदास के साधारणीकरण और मधुमती भूमिका के समीकरण में) उसको प्रकट करने में मैंने संकोच नहीं किया है, किंतु उन आचार्यों से मतभेद होने का मुझे वास्तविक खेद है।"

और इससे कोई यह भ्रम न कर लें कि गुलाबराय जी अध्यात्मवादी आदर्शवादी मात्र हैं। वे वस्तुतः समन्वयवादी हैं। 'सिद्धांत और अध्ययन' के अंत में प्रगतिवाद के बारे में गुलाबरायजी ने पृ० २५६-५७ पर लिखा है—"प्रगतिवादी आलोचना की सब से बड़ी देन यह है कि उसने आलोचना में जीवन के साथ संपर्क के मूल्य की ओर ध्यान आकर्षित किया। सिद्धांत रूप से आचार्य शुक्ल जी ने भी यही किया था। और उन्होंने छायावाद-रहस्यवाद की पलायन-वृत्ति का प्रगतिवादियों का-सा ही जोरदार विरोध किया था। इस प्रकार वे इस अंश में प्रगतिवाद के अग्रदूत थे और उन्होंने उसके लिए बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त कर दिया था। ··हमारे यहाँ के हिंदू आदर्शों में कवि की सृष्टि को 'नियतिनियमरहितां' मान कर भी काव्य के उद्देश्य बतलाते हुए 'व्यवहारविदे' और 'कांतासम्मिततयोपदेशयुजे' को भी स्वीकार किया गया है। साहित्य-दर्पण में काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों का साधक माना है। मोक्ष तो हमारे क्षेत्र के बाहर है। साहित्यिक लोग तो जीवन के सौंदर्य के आगे मुक्ति को विशेष महत्व भी नहीं देते।···साहित्यिक का कार्य समन्वय और एकत्रीकरण है, विभाजन नहीं है। आर्यों का आदर्श भी यही है।"

इसी एकत्रीकरण की ओर सबसे अच्छे संबंध बनाये रखने की इच्छा के कारण गुलाबरायजी की आलोचना कहीं भी विद्यार्थियों को जानकारी देने वाले मत-संग्रह से ऊपर उठकर कोई विशेष नवीन उद्भावना अथवा विचारोत्तेजक, सृजनात्मक आलोचना का रूप ग्रहण नहीं करती।

(अ) क्रोचे

कविता के विषय में वे विभिन्न पाँच सम्प्रदायों का उल्लेख करते हैं और उनकी व्याख्या करते हैं। इस में अलंकारवाद के सिलसिले में क्रोचे का भी उल्लेख पृ० ४ पर होता है। और आगे चलकर पृ० ३२ पर और पृ० २३३ से पृ० २३६ तक गुलाबरायजी ने पुनः क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और रामचंद्र शुक्ल के उसके साथ तोले हुए वक्रोक्तिवाद की सुन्दर तुलना की है और दोनों का अंतर बताया है। वस्तुतः क्रोचे और उसकी 'प्रमा' (इंट्यूशन) को समझने के लिए नव्य-हेगेलीय दर्शन की पूरी विचार-परंपरा से विद्यार्थियों का परिचय होना चाहिये। परंतु यहाँ विस्तारभय से वह न देते हुए यह बात कहनी पर्याप्त होगी कि जब रवीन्द्रनाथ इटली में गये थे तब मुसोलिनी के फाशीवाद में बेनेदेत्तो क्रोचे इतालवी कारावास में बन्दी था। परंतु संप्रति क्रोचे मानव के व्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थक, साम्यवाद-विरोधी सांस्कृतिक स्वाधीनता के आन्दोलन का प्रमुख उद्गाता, रसेल तथा स्पेंडर-औडेन का साथी है। क्रोचे के इस मतांतर को समझने के लिए उसकी मूल विचार-स्थिति को ध्यान में लेना होगा। मासिक 'पारिजात' (मार्च १९४७) के एक लेखक के शब्दों में—

"क्रोचे कार्ल मार्क्स के 'कैपिटल' से बहुत प्रभावित हुआ और इस प्रभाव के बारे में वह स्वयं कहता है—This intercourse with the literature of Marxism and the eagerness with which I followed the socialistic press of Germany and Italy stirred my whole being and

for the first time awakened in me a feeling of political enthusiasm, yielding a strange taste of newness to me. I was like a man who having fallen in love for the first time when no longer young should observe in himself the mysterious process of the new passion." (Piccoli : Benedetto Croce, New York 1922, p. 12) अर्थात् "मार्क्सवादी साहित्य के अनुशीलन तथा जर्मनी और इटली में समाजवादी प्रगतियों के परिचय ने मेरे सारे अस्तित्व को हिला दिया और मेरे अंदर पहले-पहल राजनीतिक उत्साह का संचार कर दिया। परिणाम यह हुआ कि सब कुछ मुझे नया-नया मालूम पड़ने लगा। मैं एक ऐसे व्यक्ति की तरह अनुभव करने लगा जो जवानी बीत जाने के बाद पहले-पहल प्रेम का शिकार हो गया है और अपने अंदर एक नवीन स्फूर्ति को अनुभव कर रहा हो।" परन्तु राजनीति का नशा तुरंत उतर गया, उसने जगत के साथ मानो समझौता कर लिया और पुनः अपने प्रिय विषय दर्शनशास्त्र में तल्लीन हो गया। मार्क्स का वह भक्त तो था, पर मार्क्स के सिद्धांतों से उसे परितृप्ति न हो पायी और उसने 'उपयोगिता' के स्थान पर 'सत्यं' 'शिवं' 'सुन्दरं' को प्रतिष्ठापित किया। क्रोचे यथार्थवादी न था, यथार्थवाद के दमघोटू वातावरण से वह घबड़ाता-सा था और आदर्शवाद के क्षेत्र में हेगेल को वह अपना गुरु मानता था। यह सारा दृश्य-प्रपंच एक भावनामात्र है। संसार का अपना स्वरूप क्या है—इसे कौन जानता है, कौन कह सकता है? इसे हम भावना के द्वारा जैसे और जिस रूप में ग्रहण करते हैं वैसा ही मान लेते हैं। वह स्पष्ट कहता है—All reality is idea : we know nothing except in the form it takes in our sensations and our thoughts. इसीलिये वह तर्क को ही दर्शन का आधार मानता है। यहाँ तक कि अपने 'सौंदर्यशास्त्र'

(Aesthetics) में भी तर्क पर एक अध्याय लिखे बिना उससे न रहा गया। जैसे हम लोग नीत्शे को 'इटैलियनाइज्ड' मानते हैं, उसी प्रकार क्रोचे को 'जर्मनाइज्ड इटैलियन'।"

क्रोचे की अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक 'ऐस्थेटिक्स' (Aesthetics) सन् १९०२ में प्रकाशित हुई और इसी पुस्तक के कारण क्रोचे अमर हो गया। यहाँ उसने दर्शन या विज्ञान की अपेक्षा कला को श्रेष्ठ माना है और उपयोगिता की अपेक्षा सौंदर्य को अधिक आवश्यक माना है— कला में वह अन्तःप्रज्ञा (Intuition) को बहुत महत्व प्रदान करता है। सर राधाकृष्णन् ने भी इसी अन्तःप्रज्ञा 'Intuitionism' को आगे बढ़ाया है और उनका समस्त दर्शन इस सहज 'अन्तःप्रज्ञा' को लेकर ही है। क्रोचे का कहना है कि कला का आधार है कल्पना, क्योंकि कल्पना के द्वारा ही जो भी कल्पित मूर्त रूप हमारे अन्तःकरण में उतरता है, उसी को लेकर कला पल्लवित होती है। कला विभाजन करना नहीं जानती, विश्लेषण की अपेक्षा संश्लेषण ही उसका आलंबन है। कलाकार कला की वस्तु को टुकड़े-टुकड़े नहीं करता, प्रत्युत उसे उसके समग्र रूप में देखता है और आनन्द-लाभ करता है।

कल्पना की मनोमयी मूर्ति को ही क्रोचे कला का प्राण मानता है। वह कहता है—"The origin of Art lies in the power of forming images. Art is ruled uniquely by the imagination. Images are its only wealth. It does not pronounce them real or imaginary, does not qualify them, does not define them. It feels and presents them—nothing more." (*Philosophy of Benedetto Croce. London, 1917, p. 35,*)

तात्पर्य यह कि कला का जन्म कल्पना से होता है, वह कल्पना जो मनोमयी मूर्ति का आधार है। अतएव मनोमयी मूर्ति ही कला के द्वारा

व्यक्त होती है। कला वस्तुओं का विभाजन या वर्गीकरण नहीं करती, वह उन्हें सत्य या काल्पनिक नहीं बताती, वह उन्हें किसी परिभाषा में नहीं बांधती। कला कल्पना के सहारे वस्तुओं की मनोमयी मूर्ति का हार्दिक प्रत्यक्षीकरण करती है और उन्हें व्यक्त कर देती है। मनुष्य जैसे ही कल्पनाशील होने लगता है वह कलाकार हो जाता है।

माइकेल एंजेलो ने भी कहा है कि चित्रकार हाथ से चित्र नहीं खींचता, अपितु अपनी बुद्धि से खींचता है—"One paints not with the hands but with the brain." और लियोनार्दो ने भी प्रकारान्तर से इस सिद्धान्त का समर्थन ही किया है जब वह कह रहा है कि बाह्य कार्य-कलाप से मुक्त होकर जब कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति बुद्धि के द्वारा विचार या चिंतन करता है, तो उस समय बुद्धि इतनी कुशाग्र और पैनी हो जाती है कि वह नयी-नयी बातें खोज निकालती है। विंची जब ईसा के 'अन्तिम भोज' (Last Supper) का चित्र ब्रश और रंग के सहारे कैनवस पर उतारने बैठा तो कई दिन तक चुपचाप आँखें मूंदे बैठा रहा, अपने ध्यान की आँखों से उस मनोमयी मूर्ति का साक्षात्कार करने के लिए। इसलिए क्रोचे का कहना है कि सौन्दर्य की अनुभूति और मनोमयी सौन्दर्य मूर्ति का मन-ही-मन आकलन ही कलाकार का प्रधान धर्म है। उस कलामूर्ति की अभिव्यक्ति की अपेक्षा उसकी भावना और अनुभूति ही अधिक मुख्य है। व्यक्तीकरण के लिए तो हाथ की सफाई और बुद्धि-व्यापार की कुशलता काफी है। उसी के शब्दों में सुनिए—The essence of the aesthetic activity lies in the motionless effort of the artist to conceive the perfect image that shall express the subject he has in mind; it lies in a form of intuition that involves no mystic insight but perfect sight, complete perception and adequate imagination. The miracle of art lies

not in the externalization but in the conception of the idea; externalization is a matter of mechanical technique and manual skill.

क्रोचे बार-बार इसी बात पर जोर दे रहा है कि कल्पना की मनोमयी मूर्ति ही कला का प्राण है न कि उसकी बाह्य अभिव्यक्ति। हृदय में कोई राग गुनगुनाया, कोई मूर्ति जागृत हो उठी, वही तो संगीत और चित्र या शिल्प के द्वारा अभिव्यक्त हुई। यदि हृदय में वह अनुभूति न होती तो बाह्य प्रकाशन असंभव था और इस बाह्य प्रकाशन पर जोर देना कला को न समझना है।—

"When we have mastered the internal world, when we have vividly and clearly conceived a figure or a statue, when we have found a musical theme, expression is born and is complete, nothing more is needed. If, then, we open our mouth and speak or sing......what we do is to say aloud what we have already said within, to sing aloud what we have sung within. If our hands strike the keyboard of the pianoforte, if we take up pencil or chisel, such actions are willed and what we are doing then is executing in great movements what we have already executed briefly and rapidly within."

(*Aesthetics, p. 50.*)

अब प्रश्न यह है कि क्या कला की यह परिभाषा, जिस में उसकी आन्तरिक अनुभूति की ऊष्मा और सुषमा ही मुख्य मानी जा रही है, स्वीकार की जा सकती है? क्या मनोमयी मूर्ति की माधुरी कला के लिए पर्याप्त है? ध्यान की आँखों से उस 'रूपराशि' का प्रदर्शन और हृदय

का आनन्दविलास क्या कला के लिए प्रथम और अन्तिम बात है ? क्या क्रोचे सौन्दर्य-विधान के सम्बन्ध में पूरी बात कह रहा है ? क्या उसका यह दर्शन एकांगी है, अपूर्ण है ?"

(आ) कविता की परिभाषा

इस प्रकरण में अंग्रेजी कवियों और आलोचकों के जो उद्धरण पृ० १८ पर बाबू जी ने दिये हैं उनमें केवल पाँच कवि—शेक्सपीयर, मिल्टन, वर्ड्स्वर्थ, कोलरिज और आर्नोल्ड हैं। परन्तु एक बार मैंने 'अंग्रेजी कवियों के शब्दों में कविता की परिभाषा' नामक एक निबन्ध अंग्रेजी में लिखा था; उसे यहाँ विद्यार्थियों के लिए उद्धृत करने का मोह मुझे हो रहा है। वह इस प्रकार है :—

Poets Defining Poetry

Let the poets put forward their case in their own words. To begin with, the greatest of them Shakespeare refers to poets and poesy in 'The Mid-Summer Night's Dream' and 'Timon of Athens' respectively in following passages :

The lunatic, the lower and the poet
Are of imagination all compact.
...The poet's eye in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heav'n to earth, from earth to heav'n ;
And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shape, and gives to airy nothing
A local habitation and a name.

and,

Our poesy is as a gum, which oozes
From whence 'tis nourished......our gentle flame

Provokes itself, and, like the current, flies
Each bound it changes.

Chaucer defines tragedy in the words of the Monk—

Tragedie is to tell a certain story,
As old books us maken memory,
Of hem that stood in great prosperity,
And befallen out of high degree,
Into miserie, and ended wretchedly.

Shelley would have put the same idea thus—

They learn in suffering what they teach in song.

Milton has told us his idea of poetry in a single line:

Thoughts that voluntary move
Harmonious numbers.

And his theory of versification in—

Such as the meeting soul may pierce
In notes with many a winding bout
Of linked sweetness long drawn out.

Dryden describes the consolations of poetry in the following terms:

She does tell me where to borrow
Comfort in the midst of sorrow;
Makes the desolatest place
To her presence by a grace;
...And though some too seeming holy,
Do account thy raptures folly.
Thou dost teach me to contemn
What makes knaves and fools of them.

Here is Pope saying—

Each atom by some other struck
All turns and motions tries
Till in a lump together stuck
Behold a poem rise !

and,

Poets, like painters thus unskilled to trace
The naked nature and the living graces
With gold and jewels cover every part
And hide with ornaments their want of art,
True Wit is Nature to advantage dress'd
What oft was thought, but never so well expressed.

And again,

Truth shines the brightest clad in verse.

For Collins—

We poets in our youth began in gladness,
But thereof comes in the end despondency and sadness.

Blake observes—"There are always these two classes of learned sages, the poetical and the philosophical. The painter has put them side by side, as if the youthful clerk had put himself under the tuition of the mature poet. Let the philosopher always be the servant and scholar of Inspiration, and all will be happy." Probably the same idea was expressed by Omar Khayyam in his Rubaiyat—

Divorced barren reason from my bed,
And taken the Daughter of Vine as my spouse.

And Cecil Day Lewis' famous lines—

Let logic analyse the hive
Wisdom's content to have the honey ;
So I'll bite the crust of things and strive
While hedgerows still are sunny.

Poetry is according to Keble 'a vent for overcharged feeling or a full imagination' and it expresses our 'dissatisfaction with what is present and close at hand', according to Doyle. This escapist attitude was well defined by T. S. Eliot : 'Lips that do not or get to kiss, sing.' Is all poetry merely a sort of 'cheering oneself up'?

For the Romantics poetry was more or less a matter of faith. So for Wordsworth "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings : it takes its origin from emotion recollected in tranquillity...Poetry is the image of man and nature." Nature, in this case, for the poet is, to take an example, as 'lily' and not Honoxyndra monogynea of the Linnaecano order. Again, in Wordsworth's phrase, poetry 'is the breath and finer spirit of all knowledge,' and the 'impassioned expression which is in the countenance of all science.' For Coleridge it is just the opposite: "A poem is that species of composition which is opposed to the works of science, by proposing for its immediate object pleasure, not truth ; and from all other species having this object in common with it, it is discriminated by proposing to itself such delight from the whole as is compatible with a distinct gratification from each component part."

Shelley defines Poetry as the expression of the imagination and seems to echo Plato in calling it an outcome

of divine inspiration. As Plato maintained that one ought to be beautiful to approach the beautiful, Shelley shares with Joubert the belief that you will find poetry nowhere, unless you bring some with you. For him poetry is part of his idealism.

Keats with his neo-Hellenic sensuous beauty-worship thinks—

Pleasure never is at home
Ever let the fancy roam !

Byron in his letter to John Murray writes—"So far are principles of poetry from being invariable that they never were nor ever will be settled. These principles mean nothing more than the predilections of a particular age, and every age has its own and a different from its predecessor."

Longfellow says—All that is best in the great poets of all countries is not what is national in them, but what is universal.

Matthew Arnold and Emerson are less of poets and more of critics. They define poetry in the following ways—

Poetry is a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty. (*Arnold*)

Poetry is the perpetual endevour to express the spirit of the thing, and to pass the brute body and search the life and reason which causes it to exist. (*Emerson*)

Many more quotations and excerpts can be added to the above list and we should sum up by saying that the

artist and the critic rarely exist together. A good artist is not necessarily a good critic. And Pegasus strides on, while talents differ to define his gait.

(इ) काव्य और कला

काव्य को कला के अन्तर्गत माना जाय अथवा नहीं, इस सम्बंध में हमारे यहाँ आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा है। विक्रम अभिनन्दन-ग्रंथ में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का लेख इस संदर्भ में विद्यार्थियों को देखना चाहिये।

परन्तु ललित कलाओं का संबन्ध काव्य से बहुत घनिष्ठ है। यह निस्सन्देह सत्य है। बाबूजी ने पृ० २६ पर कहा है—"इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे पाश्चात्य देशों की भाँति काव्य को कलाओं के अन्तर्गत न करें किंतु काव्य का अध्ययन कलाओं से विमुक्त करके नहीं कर सकते हैं। किसी काल विशेष की काव्य सम्बन्धी तथा चित्रकला संबन्धी प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो उनमें कुछ समानता मिलेगी। रविवर्मा की चित्रकला तथा मैथिलीशरण गुप्त जी की प्रारम्भिक कविता और द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मकता तथा उपदेशात्मकता की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।...बंगाल के चित्र में भी छायावादी कविता की भाँति स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म की प्रवृत्ति अधिक है। आलोचक किसी समय या देश के काव्य के अध्ययन करते समय उस समय या देश की अन्य कलाओं की स्थिति पर विचार किये बिना नहीं रह सकता है।"

गुलाबरायजी का यह कथन बहुत महत्त्वपूर्ण है। सौन्दर्य की मूल भावना सब कलाओं में वस्तुतः एक ही है। उसकी अभिव्यंजना मात्र भिन्न है। इसी दृष्टि से मैंने सन १९३६ में महाराष्ट्र साहित्य सम्मेलन के इंदौर-अधिवेशन में 'साहित्यांतील ललितकला-भाव' नामक प्रबन्ध पढ़ा था। उसी के आधार पर 'आलोचना' त्रैमासिक में मैंने साहित्य और ललितकला नामक स्तंभ शुरू कराया और अंक १ और २ में शिल्प-चित्र-स्थापत्य पर कुछ लिखा। संगीत-नृत्य पर मैंने 'वीणा' के

कला-अंक में और अन्य कई स्थानों में कहा है, जैसे कमला में 'हिन्दी कविता का बहिरूप' या 'प्रतीक' में 'हिन्दी कविता में छन्द-प्रयोग' जैसे लेखों में। इस दिशा में कला-समीक्षकों को और आगे बढ़ना चाहिये और विभिन्न युगों की सभी ललित-कलाओं में समान प्रवृत्तियों पर ऐतिहासिक विवेचन करना चाहिये। गुलाबरायजी ने इस दिशा में एक अच्छा अंगुलि-निर्देश किया है।

कविता को 'पल्लव' की भूमिका में पंतजी ने 'चित्र-राग' कहा है। और स्थापत्य को गोएटे ने पाषाण-जड़ित संगीत। डा० औरेनसेन ने अपनी कलासम्बन्धी पुस्तकों में इन सम्बन्धों पर अच्छा प्रकाश डाला है। मेरी पुस्तक 'कला और लोकसंस्कृति' में इसका विस्तार से विवेचन हुआ है।

: २ :

बाबूजी के शब्द-शक्ति और रस-सम्बन्धी विचार भी उसी प्रकार से रूढ़ विचारों की व्याख्या तक सीमित हैं। इस विषय में बहुत-सी नयी खोज और नया विचार सामने आया है। यहाँ मैं बाबूजी के मतों की पुष्टि में (और कहीं-कहीं खंडन में भी) जो इस सम्बन्ध में स्वयं विचार जमा कर पाया, वे प्रस्तुत कर रहा हूँ। काव्य की आत्मा रस है और उसकी काया शब्द। वस्तुतः यह मूल आत्मा क्या है, उसकी प्रेषणीयता किस बात पर निर्भर रहती है और इस प्रकार से कविता की प्रक्रिया का प्रयोजन क्या है, इस विषय में मैं दो विदेशी आलोचकों के उद्धरण देना चाहूँगा। जे० मिडिल्टन मरे ने अपने 'प्योर पोएट्री' निबन्ध में कहा है—

"M. Bremond, before the French Academy likened the poetic with mystical experience. Silent, mystical contemplation which is the supreme form of prayer. With this is linked up M. Paul Valery's discussion about pure poetry

which accordingly becomes a musical pattern of words giving delight independently of the subject."

विशुद्ध काव्य के उदाहरण के तौर पर मैं अपनी एक कविता यहाँ प्रस्तुत करता हूँ, जिसे अभी तक किसी हिन्दी सम्पादक ने नहीं छापा। कविता का शीर्षक है 'मृदंग के बोल'।

मृदंग के बोल

धातिर किटतक तातिर किटतक गदिगन नगतिर किटतक तातिर
किटतक तिटकत गदिगन धातिर
किटतक तातिर
तिरकिट तक्ता
तिटकत गदिगन धा...
सुन मृदंग के विविध रंग के बोल परावर प्राण वहिश्चर
हुए आत्मवत् सर्व चराचर;
देव-निशाचर
मुझ में बसता
सबको काल भयंकर डसता...
धाकिट तकिट तकाकिट धुमकिट तकिट तकाकिट
तक तक धुमकिट तकिट तकाकिट
धुमकट गदिनग धा...
किन्तु भाग्य में नहीं मानता, ईश्वर को भी नहीं जानता
गली-गली की खाक छानता
नहीं एकदिश रस्ता!
धागे तिट गदिगन् तक्तक् गदिगन तक् धङं ऽ ग धा
तिटगत गदिगन धा धा
तिटकत गदिगन धा धा
तिटकत गदिगन धा...

मैं युग-युग से थकता आया राह देखता-तकता
भूतमात्र की यह परवशता
देशकाल चेतन को ग्रसता
जड 'हाइना' सा हँसता !
तिटतिटता त्रक् कड्धेऽत्ता किटतक गदिगन धा धा धा
त्रक् कड्धेऽत्ता किटतक गदिगन धा धा धा
त्रक् कड्धेऽत्ता
किटकत गदिगन धा. . .
धरती यथार्थ संयुक्ता आदर्श जलद की छाया,
अभ्यास स्वेद के मुक्ता, मृगमरीचिका औ' माया,
आभास रजत औ' शुक्ता
मुझ में वास्तव बसता !
वितिर किटकताऽकता विविविंऽ न गधेऽत्ता धितराऽनृधा
धिता कतिट्टिध्धा किटतक गदिगन धाऽ
टिध्धा किटतक गदिगन धाऽ
टिध्धा किटतक गदिगन धाऽ
जनम-मरण दो छोर, लगाकर उन पर आटा गोल,
थपकी देता है स्वतंत्र संकल्प, हो गया शोर
सब में बसता मुझ में बसता
मुझ में बसता सब में बसता
वही एक शहज़ोर
मिटाने-रचने का उद्योग
भोग औ' योग, न्याय-

[परावर : दूर और पास; 'हाइना' : एक हिंस्र पशु जिस मनुष्य के समान होती है; अध्यास-वेदांत में : माया के ि (एप्पीयरन्स); स्वतंत्र संकल्प : 'फ्री विल' ; न्याय-संयोग : और अतर्कित संभावना (लॉजिकैलिटी, प्राबेबिलिटी)]

इस कविता को पढ़कर पाठकों को आनन्द होता है या नहीं, मैं नहीं जानता। परन्तु उसे पढ़कर यदि नाद-विषयक सुख भी हुआ तो मिडिल्टन मरे का कथन मैं आगे उद्धृत करता हूँ।

A current passes from the writer to the reader. What this current is has been variously described, an emotion (as Tolstoy would say), an intution (Croce), an incomplete mystical experience (Bremond), a fragment of the concrete real of primary experience (Prof. Whitehead). आगे चलकर मरे तर्क करता है कि इस क्रिया में जो कुछ भी प्रेषित होता है, उसका नामाभिधान चाहे जो रख लीजिए, इतना सच है कि एक अलौकिक रसस्थिति की सृष्टि अवश्य होती है। और यह प्रेषण निरा यथार्थ की छायानुकृति मात्र नहीं, पुनर्प्रस्तुतीकरण भी है। लसेलस एबरक्रांबी के निबन्ध "दि फंक्शन आफ पोएट्री" में कहा गया है :—

The characters in a verse-play are not mere replicas of life, but re-presentations...the aim of art is imitation, no doubt, but not the imitation of actual life which is slipshod and vulgar. Merely mirroring life without idealizing it will not do. If drama imitates reality, it is poetry alone that shall depict the real inner reality.

यह काव्य का विशुद्ध अपना रस कभी-कभी मर्यादावादी रामचन्द्र शुक्ल पर भी अपना जादू कर देता था। और अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' ग्रंथ में पृ० ७२ पर क्रोचे का उद्धरण देकर वे कहते हैं— "चरित्र चित्रण में यथार्थ-अयथार्थ या संगत—असंगत होने का विचार

नहीं किया जाता। यहाँ गोस्वामी जी कवि नहीं, उपदेशक हैं।"

रस की इस 'अलौकिकता' के विषय में पं० रामदहिन मिश्र का एक लेख बहुत महत्त्व का है जिसके अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

'अलौकिक' शब्द ने साहित्यिकों में एक भ्रम पैदा कर दिया है। वे इसका पारलौकिक, स्वर्गीय आदि अर्थ करते हैं। बड़े-बड़े विद्वान् इसके चक्कर में पड़ गये हैं। डाक्टर भगवानदास लिखते हैं—'लोकोत्तर भी कैसे कहा जा सकता है! लोक में ही तो काव्य-साहित्य के रस की चर्चा है।' ऐसा लिखते हुए डाक्टर साहब लोकोत्तर से परलोक का ही भाव ग्रहण करते हैं।

अलौकिक का अभिप्राय न तो स्वर्गीय है और न पारलौकिक। इसका अर्थ है अलोकसामान्य अर्थात् लौकिक वस्तु से विलक्षण। बस, केवल यही अर्थ है, दूसरा कुछ नहीं। यदि हम स्वर्णयुग कहते हैं तो उसका अभिप्राय सत्ययुग ही होता है। लोकोत्तर या अलौकिक का लोक से अपूर्व का ही अभिप्राय है, न कि उपर्युक्त अर्थ। इसका अलोक-सामान्य होना ही इसे ब्रह्मानन्दसहोदरता की कक्षा को पहुंचाता है।

रस लौकिक भी होता है और अलौकिक भी। लौकिक की कोई महत्ता नहीं और अलौकिक की महत्ता का वर्णन काव्यशास्त्र करता है। आज अलौकिक रस को लौकिक सिद्ध करने का आन्दोलन-सा उठ खड़ा हुआ है।

कोई कहता है कि प्रत्यक्षानुभूति से काव्यानुभूति या रसानुभूति कोई पृथक् वस्तु नहीं है, यह अवश्य है कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति का परिष्कृत रूप है। यह नहीं कि रसानुभूति प्रत्यक्षानुभूति की अपेक्षा मूलतः कोई भिन्न प्रकार की अनुभूति है। (There is no gap between our everyday emotional life and the material of poetry—*Practical Criticism, Richards.*) यह रिचर्ड्स के प्रभाव का ही परिणाम है, जिन्होंने यह कहा था कि 'जो

ोग अलौकिक आदि शब्दों में कला की महिमा गाते हैं, वे कला के ौन्दर्य के संहारक हैं।' हमारा कहना है कि परिष्कृत रूप में होना ही ेवल उसकी अलौकिकता नहीं। ऐसी अनुभूति का लौकिक रूप नहीं ोता, इसमें उसकी अलौकिकता है। मूलतः भी दोनों एक नहीं हैं।

अरस्तू भी कहता है कि 'कवि का यह कर्तव्य नहीं कि घटित घटना की आवृत्ति करे, बल्कि क्या घट सकता है।...इतिहास तथ्य पर निर्भर करता है। पर कविता तथ्य को सत्य में परिणत करती है।.... काव्य का सत्य यथार्थता की नकल नहीं होता, बल्कि वह एक उच्च यथार्थता ही होता है, क्या हो सकता है, क्या है, यह नहीं।' (It is not the function of the poet to relate what has happened but what may happen——History is based on fact——Poetry transforms its facts into truths. The truth of poetry is not a copy of reality but higher reality, what to be, not what is.—*Poetics.*) इससे लौकिक प्रत्यक्ष और कवि-प्रत्यक्ष एक नहीं हो सकता।

काव्यानन्द रसिकगत होता है, क्योंकि वह उसका भोक्ता है। काव्य-नाटकगत रस नहीं होता। क्योंकि उन्हीं के पात्रों के वे वृत्त होते हैं। अभिप्राय यह कि नाटक के पात्र अपने ही चरित्र दिखलाते हैं। वे समझते हैं कि यह तो हमारा ही काम है। इसी से कहा है कि अभिनय की शिक्षा तथा अभ्यासादि के कारण राम आदि के रूप का अभिनय करने वाला रस का आस्वादयिता नहीं हो सकता। (शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्। दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥—सा० द०।) किन्तु यह भी संभव है कि यदि नट यह बात भूल जाय कि यह हमारी स्त्री है और हम लोगों के समान उसे काव्यार्थ की भावना होने लगे, तो उसे केवल लौकिक रस का ही आनन्द नहीं होता, बल्कि काव्य-रस का भी मजा मिलता है (काव्यार्थभावनास्वादो

नर्तकस्य न वार्यते—दशरूपक) अब विचार करने की बात यह है कि कवि किसके लिए काव्य-नाटक की रचना करता है ? यह काव्य नाटक के पात्रों के लिए तो करता नहीं, करता है रसिकों के रसास्वाद के लिए। यदि पात्र रसानुभव करने लगे तो अनेक दोष आ जाते हैं। एक तो यह कि जब पात्र आनन्दमग्न हो जायगा तो उसके कार्य वैसे नहीं हो सकते जिसके कृत्यों का वह अनुकरण करता है। क्योंकि उसका ध्यान अन्यत्र बंट जायगा। दूसरी बात यह है कि उसका रूप लौकिक हो जायगा। काव्य-नाटकों में राम-सीता या दुष्यन्त-शकुन्तला की रति को लौकिक दुष्यन्त-शकुन्तला की रति मान लें, तो दर्शक उन्हें अपनी प्रणयिनी के साथ लौकिक शृंगारी पुरुष ही समझेगा। इससे यह होगा कि रसिक दर्शकों को रसास्वाद नहीं होगा। रहस्य के उद्‌घाटन से भले मानसों को लाज लगेगी। कितनों को ईर्ष्या और डाह होगी तथा बहुतों को प्रेम भी उमड़ आ सकता है। इससे पात्रों को रसानुभव हो सकता है, यह कहना उचित नहीं प्रतीत होता। इसी से कहा है कि नट को कुछ भी रसास्वाद नहीं होता। सामाजिक रस को चखते हैं। नट तो पात्र मात्र है। तीसरी बात यह है कि रस व्यंग्य होता है, यह सिद्धान्त भी भंग हो जायगा। इससे कालगत रस लौकिक होता है और रसिक-गत रस अलौकिक। पहला दूसरे का कारण हो सकता है।

कवि योगी नहीं होते, जो ध्यानमग्न हो दिव्यचक्षु से देखकर राम आदि की अवस्था का ज्यों का त्यों वर्णन करते, प्रत्युत उनकी सर्वलोक साधारण अवस्था को झलका देते हैं। अभिप्राय यह है कि रसिक धीरोदात्त आदि नायकों की अवस्थाओं के प्रतिपादक राम आदि की रति आदि की जो विभावना करते हैं, वही उन्हें आस्वादित होता है। उदाहरण के लिए रामचरित्र को लीजिए। लोकोपकार के लिए उन्होंने लौकिक चरित्र दिखलाया। वही चरित्र लव-कुश के मुख से वाल्मीकि के श्लोकों में सुना, तो केवल वही नहीं, सभा की सभा चित्रलिखित-सी हो गयी। क्योंकि उस लौकिक चरित्र को कवि ने अपनी वाणी में

अपने अंतःकरण की आनन्द वेदना से ओतप्रोत कर दिया था। राम का चरित्र पहले लौकिक था, और यह अलौकिक हो गया था।

'हनुमन्नाटक' के कर्ता हनुमान् ने जब वाल्मीकि का पोथा देखा तो कहा कि हम साथ थे, जो घटनाएं घटी थीं उन्हें तो मैंने पहाड़ों पर लिख दिया। ये सब बातें तो हुई नहीं थीं, जिन्हें वाल्मीकि ने लिखा है। सब झूठ है। राम ने उन्हें कवि कहकर उनका पक्ष लिया। हनुमान ने रंज होकर उन सारे पर्वतों को डुबा दिया, जिन पर राम-चरित लिखा था। हनुमान जी वाल्मीकि रामायण में भी उनके चरित्र का लौकिक रूप ही देखना चाहते थे।

अभिनव गुप्त कहते हैं—"वीतविघ्ना प्रतीतिः" अर्थात् लौकिक प्रतीति में जो भाव उद्भूत होते हैं, वे ऐसे विघ्नों से घिरे रहते हैं कि स्वच्छन्द रूप से अपने को प्रकाशित नहीं कर सकते। एक विघ्न की बात लीजिए—

काव्य-नाटक में जो आशय रूप से प्रतीत होता है, वह व्यक्ति-निरपेक्ष और विषय-निरपेक्ष होता है। वह साधारण रूप में रहता है। इसी से काव्यानुगत चेतना का जो उद्बोध होता है, वह उसमें वैसा विघ्न नहीं हो पाता। सारांश यह कि साधारण लोकविषय जब काव्य-गत होता है, तब वह काव्यकला के प्रभाव से सब प्रकार के संबंधों से शून्य हो जाता है, परापेक्षिता रूप दोष से रहित हो जाता है और देश, काल तथा व्यक्ति का कुछ भी वैशिष्ट्य नहीं रहने पाता (तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः —अभिनवगुप्त)। इस दशा में ही चेतनोद्बोध के साथ अन्तर्हृदय की वासना मिल जाती है। तब रस-सृष्टि होती है। बिना बाधा-विघ्न के ही जब अन्तर्गत वासना रस-रूप में प्रकाशित होती है, तभी रस का चमत्कार प्रतीत होता है। यह अलौकिक रस में ही संभव है।

सीता आदि के दर्शन से उत्पन्न राम आदि की रति का उद्बोध परिमित होता है—केवल राम आदि में ही रहता है। दुष्यन्त

कुन्तला आदि में जो रति उत्पन्न हुई, उसका आनन्द उन्हीं तक सीमित था। किन्तु काव्य-नाटक गत राम-सीता, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि का रतिभाव विभाव आदि द्वारा प्रदर्शित होकर रसावस्था को जो प्राप्त होता है, वह व्यक्तिगत न रहकर अनेक श्रोता और द्रष्टा को एक साथ ही समान रूप से अनुभूत होता है। इससे वह अपरिमित होता है। दूसरी बात यह कि रामादिनिष्ठ जो रति होती है, वह लौकिक रहती है। अतः अपरिमित और लोक-सामान्य न होने के कारण रस अलौकिक होता है। विघ्न की बात लिखी ही जा चुकी है। यही दर्पणकार कहते हैं कि परिमित लौकिक और सान्तराय अर्थात विघ्न-सहित होने के कारण अनुकार्यनिष्ठ इत्यादि का उद्बोध रस नहीं हो सकता।

जो कहते हैं कि काव्य में सरस प्रसंग है, इससे रस काव्यगत ही है, उन्हें यह सोचना चाहिए कि यह उक्ति काव्य पढ़ने वाले रसिक की है। यह उक्ति रसिक के अनुभव की है। इससे ऐसी उक्ति का अर्थ यही हो सकता है कि काव्य का प्रसंग बड़ा प्रभावशाली है। उसमें अभिभूत करने की शक्ति बड़ी प्रबल है। यही सिद्ध होता है। यह नहीं कि काव्यगत रस है। काव्यगत रस अलौकिक है और रसिकगत अलौकिक।

आधुनिक काव्य-विवेचक कहते हैं कि काव्य में यदि रस नहीं रहता तो काव्यानंद कैसे प्राप्त होता? काव्य में जो वस्तु होगी, वही तो प्राप्त होगी। काव्य का आँवला रसिकों के हृदय में आम तो नहीं न हो जायगा? इससे रस काव्यगत ही है और लौकिक ही है।

इन सब बातों का उत्तर यही है कि जो वस्तु मैं देखता हूं और जैसी देखता हूं, वह ठीक वैसी ही है, यह कहा नहीं जा सकता। जो मैं देखता हूं वह अपनी ही दृष्टि से, उसमें दूसरे की दृष्टि नहीं। दूसरे की दृष्टि में वह मेरी-जैसी ही प्रतीत होगी, यह भी कहा नहीं जा सकता। उस वस्तु का जो बाह्य रूप है, वह उसका असली रूप नहीं है। उसका एक आन्तर रूप भी है। मेरी पहुंच जहाँ तक हो सकती है,

वहीं तक मैं देख सकता हूँ, दूसरा मुझसे अधिक या कम भी देख सकता है। सभी का ज्ञान एक-सा नहीं होता और न सभी को एक वस्तु एक-सी प्रतीत होगी। कहा है कि जब पंडितों ने विचार करना शुरू किया, तो किसी-किसी कक्षा में अज्ञान उनके सामने आ खड़ा हुआ (विचारयितुमारब्धे पण्डितैः सकलैरपि। अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्ष्यासु कासुचित् ॥—पंचदशी)। इस दार्शनिक विषय में इतने तर्क-वितर्क हैं कि उनका अन्त पाना कठिन है। फलितार्थ यह कि लोक में जिसका जो रूप रहता है, वह काव्य में नहीं रहने पाता और काव्य का रूप पाठकों के हृदय में, पाठकों के अनुसार अपने रूप बना लेता है, जो उन्हीं का स्वनिर्मित होता है। इसी से उन्हें आनन्द प्राप्त होता है।

कवि यह नहीं देखता कि वह वस्तु कैसी है, बल्कि यह देखता है कि वह उसे कैसे भासित होती है। इस दृष्टि में उसकी भावना काम करती है। वह दृष्टि वस्तु के अन्तरंग में पैठ जाती है। दूसरों की दृष्टि और कवि की दृष्टि में यही अन्तर है। कवि जागतिक वस्तु को जब रंग-रूप दे देता है, वह वैसी नहीं रह जाती। उसकी प्रतिभा नयी प्रतिभा गढ़ देती है। कवि जब रचना करता है, तब उसे वह आनन्द नहीं होता जो रचना के अनन्तर उसको बार-बार पढ़ने पर आनन्द होता है। इस समय वह रसिक के स्थान पर हो जाता है। इसी से कवि के काव्य में और रसिक के आस्वाद में अंतर है और इसी से अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'कवि ही काव्य का मूल बीज है। इससे पहले कविगत ही रस है। कवि भी सामाजिक के तुल्य है।' अतः कविगत रस लौकिक है। क्योंकि कवि-निर्मिति के रूप में उसकी लौकिकता तब तक बनी रहती है जब तक आस्वाद-योग्यता को नहीं पहुँचता। काव्य से जो रसिकों को रस मिलता है वह केवल उससे भिन्न ही नहीं होता, बढ़ा-चढ़ा भी। इसी से काव्य का आँचल रसिकों के हृदय में उनकी अनुभूति और कल्पना से जो रूप धारण करता